आचार्य तुलसी
युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

सम्पादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

अर्थ-सौजन्य :
समाज भूषण भगवत प्रसाद
रणछोड़दास चेरिटेबल ट्रस्ट,
अहमदाबाद

प्रबन्ध-सम्पादक
श्रीचन्द रामपुरिया
अध्यक्ष, जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : १९८१

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक :
एस० नारायण एंड संस,
७११७-१८, पहाड़ी धीरज,
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

श्री जयाचार्य निर्वाण शताब्दी समारोह के अवसर पर जैन विश्व भारती के तृतीय प्रकाशन के रूप में 'प्रज्ञापुरुष जयाचार्य' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को जनता के हाथों में सौपते हुए हमें आपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

श्रीमज्जयाचार्य का जन्म-नाम जीतमलजी था। आपने अपनी कृतियों में अपना उपनाम 'जय' रखा इसलिए आप जयाचार्य के नाम से प्रख्यात हुए। आप श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य थे।

श्रीमज्जयाचार्य की जन्म-भूमि मारवाड़ का रोयट ग्राम था। आपका जन्म सं० १८६० की आश्विन शुक्ला १४ की रात्रिबेला में हुआ था। आप ओसवाल थे। गोत्र से गोलछा थे। आपके पिताश्री का नाम आईदानजी गोलछा और मातुश्री का नाम कल्लूजी था। आप तीन भाई थे। दो वड़े भाइयों का नाम सरूपचन्दजी और भीमराजजी था।

आपके ज्येष्ठ भ्राता सरूपचन्दजी ने सं० १८६९ की पौष शु० ९ के दिन साधु-जीवन ग्रहण किया। आपने उसी वर्ष माघ कृ० ७ के दिन प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरे वड़े भाई भीमराजजी की दीक्षा आपके वाद फाल्गुन कृ० ११ के दिन सम्पन्न हुई और उसी दिन माता कल्लूजी ने दीक्षा ग्रहण की। इस तरह सं० १८६९ पौष शुक्ला ८ एवं फाल्गुन कृ० १२ की पौने दो माह की अवधि में माता सहित तीनों भाई द्वितीय आचार्य श्री भारमलजी के शासन-काल में दीक्षित हुए।

साधु-जीवन ग्रहण करने के समय जयाचार्य नौ वर्ष के थे। दीक्षा के वाद आप शिक्षा के लिए मुनि हेमराजजी को सौंपे गए। वे ही आपके विद्या-गुरु रहे। आगे जाकर आप एक महान् आध्यात्मिक योगी, विश्रुत

इतिहास-सर्जक, विचक्षण साहित्य-स्रष्टा एवं सहज प्रतिभा-सम्पन्न कवि सिद्ध हुए।

सं० १९०८ माघ कृ० १४ के दिन तृतीय आचार्य ऋषिराय का छोटी रावलिया में देहान्त हुआ। आप चतुर्थ आचार्य हुए।

आचार्य ऋषिराय के देवलोक होने का समाचार माघ सु० ८ के दिन बीदासर पहुंचा जहां युवाचार्य जीतमलजी विराज रहे थे। सं० १९०८ माघ सुदी १५ प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र के समय आप पदासीन हुए और बड़े हर्ष के साथ पट्टोत्सव मनाया गया। आचार्य ऋषिराय ने ६७ साधुओं एवं १४३ साध्वियों की धरोहर छोड़ी।

आपने श्वेताम्बर तेरापन्थ धर्म संघ के चतुर्थ आचार्य पद को ३० वर्षो तक सुशोभित किया। आपका निर्वाण सं० १९३८ की भाद्र कृ० १२ के दिन जयपुर में हुआ। सं० २०३८ भाद्र कृ० ११ के दिन आपको निर्वाण प्राप्त हुंए १०० वर्ष पूरे हुए है।

श्रीमज्जयाचार्य ने अपने जीवन-काल में लगभग ३½ लाख पद्य-प्रमाण साहित्य की रचना की। जैन वाङ्मय के पंचम अंग 'भगवई' का आपका राजस्थानी पद्यानुवाद 'भगवती-जोड़' राजस्थानी साहित्य का सवसे वड़ा ग्रन्थ माना जाता है। यह ५०१ विविध रागिनियों में गेय गीतिकाओं में निवद्ध है।

आपकी साहित्यिक रुचि वहुविध थी। तेरापन्थ धर्मसंघ के संस्थापक आदि-आचार्य श्रीमद् भिक्षु के वाद आपकी साहित्य-साधना बेजोड़ है। आप महान् तत्त्वज्ञानी थे। जन्मजात कुशल इतिहास-लेखक थे। सजीव संस्मरणात्मक जीवन-चरित्र लिखने की आपकी प्रवीणता अनोखी थी। आप वड़े कुशल संघ-व्यवस्थापक और दूरदर्शी आचार्य थे। आपकी कृतियो का सौष्ठव, गांभीर्य एवं संगीतमयता—ये सव मनोमुग्धकारी हैं।

जयाचार्य को युगप्रधान आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। उन्होंने वहुत वड़े संघ को अपनी अद्‌भुत मनोवैज्ञानिक व्यवस्था-पद्धति से उत्कर्ष की उत्कृष्ट भूमिका मे पहुंचाया।

वे स्वयं तपस्वी थे और तपस्वियो के प्रति वड़ी उदात्त भावना रखते थे। संलेपणा-संथारा के अवसरो पर वे मुमुक्षु आत्माओ को पुनीत दर्शन दे

उन्हें हर्षोत्फुल्ल कर अपने उपदेशों से उनके दृढ़ संकल्प को उसी तरह जागृत कर देते थे जैसे घन-गर्जन मयूर को मुखरित कर देता है। वे सही अर्थों में महामानव थे। उन्होने अनेक साधु-साध्वियों को मृत्युञ्जयी होने में अपूर्व सहयोग दिया।

वे महामना थे। बड़े कृतज्ञ-हृदय थे। संघ के प्रति की गई छोटी-मोटी हर सेवा उनकी दृष्टि को आकर्षित करती थी। संघ के अभ्युदय हेतु जिसने जो भी कार्य किया, उसे उन्होने अपनी लेखनी के माध्यम से युग-युग के लिए अमर कर दिया। यह उन्हीं की लेखनी का चमत्कार था कि उन्होने संघ के इतिहास को काव्य में गुम्फित कर उसे सुरक्षित बना दिया ताकि भावी पीढ़ी उसका रसास्वादन कर प्रेरणा पाती रहे।

प्रस्तुत ग्रंथ 'प्रज्ञापुरुष जयाचार्य' ऐसे ही युगप्रधान आचार्य, उद्भट विद्वान्, कवि, लेखक एवं महान् योगी की प्रेरणास्पद जीवन-झांकियों का एक संक्षिप्त पर प्रभावशाली सम्पुट है।

ऐसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी महामानव के व्यक्तित्व और कर्तृत्व एवं विचारों को प्रकाश में लाने का विस्तृत उपक्रम अब तक नही किया गया। यह ग्रन्थ उस दिशा में प्रथम श्लाघ्य चरण-विन्यास है। इसमें ४४ अध्याय है और उनके अन्त: परिच्छेदों में जयाचार्य की जीवनी के महत्त्व-पूर्ण पक्षों को उद्घाटित कर प्रथम बार जनता के सम्मुख रखा गया है।

प्रस्तुत अमूल्य ग्रन्थ के प्रणयन में युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी, युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ एवं सम्पादन में मुनि दुलहराजजी का जो परिश्रम लगा है, वह स्वयं मुखरित हो रहा है।

श्री जयाचार्य जैसे पुनीत पुरुष की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर जय वाङ्मय एवं अन्य महत्त्वपूर्ण साहित्य प्रकाशित करने की विशाल योजना जैन विश्वभारती के सम्मुख है और हमें विश्वास है कि आप सब के सहयोग से यह संस्था उसे पूरा करने में सक्षम हो सकेगी।

इस अवसर पर हम श्री भगवत् प्रसाद रणछोड़दास परिवार को हार्दिक धन्यवाद देते है जिन्होंने जैन विश्व भारती में साहित्य प्रकाशन स्थायी कोष के निर्माण हेतु स्वर्गीय समाजभूषण सेठ भगवतप्रसाद रणछोड-दास (१९२१-१९८०) की पुण्य स्मृति मे पचास हजार रुपये की राशि भगवतप्रसाद रणछोडदास चेरिटेबल ट्रस्ट, १४ पटेल सोसाइटी, शाहीबाग,

अहमदाबाद, ६४, से प्रदान कराने का प्रयत्न किया। उक्त ट्रस्ट को भी हम इस उदार अनुदान हेतु अनेक धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

श्री जयाचार्य निर्वाण शताब्दी समारोह के उपलक्ष में मित्र परिषद, कलकत्ता ने जैन विश्व भारती प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना हेतु दो लाख रुपयों की राशि प्रदान करने की कृपा की है। उक्त मुद्रणालय जैन विश्व भारती को साहित्य-प्रकाशन के क्षेत्र में द्रुतगति से बढ़ने में सहायक होगा। इस अवसर पर हम मित्र परिषद् के पदाधिकारियों एवं सदस्यों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन करते है।

श्री जयाचार्य निर्वाण शताब्दी समारोह समिति के संयोजक श्री धर्मचन्दजी चौपड़ा एवं अन्य सदस्यों को भी हम उनके आर्थिक सौजन्य के लिए अनेक धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

लाडनूं (राज०)
१ सितम्बर, १९८१

श्रीचन्द रामपुरिया
अध्यक्ष, जैन विश्व भारती

प्रस्तुति

बहुत वर्ष पहले मन में एक प्रश्न उठा था—जयाचार्य की शक्ति का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर खोजा, समाधान मिला। उनकी शक्ति का रहस्य है उनकी विनम्रता। वे विनम्र थे, इसीलिए अनुशासित, ग्रहणशील और कृतज्ञता के भाव से भरे हुए थे। उनकी संकल्प-शक्ति, इच्छा-शक्ति, एकाग्रता की शक्ति और जागरूकता बेजोड़ थी। वे अच्छे शिष्य थे, इसीलिए अच्छे गुरु बने। जयाचार्य की निर्वाण शताब्दी अनुशासनवर्ष के रूप में मनाई जा रही है। अनुशासन समाज व संगठन की अनिवार्य अपेक्षा है, रही है और रहेगी। जैन साधना पद्धति सामुदायिक है इसीलिए अनुशासन और व्यवस्था को महत्त्व दिया गया।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन की एक विशिष्ट परंपरा का सूत्रपात किया था। एक नेतृत्व, एक जैसी जीवन प्रणाली और एक ही तात्त्विक स्वीकृति। इस एकता से तेरापंथ का नई दिशा मे प्रस्थान शुरू हो गया।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के भाष्यकार बने। उन्होने आचार्य भिक्षु की अनुशासन और व्यवस्था-पद्धति को गतिशील बनाया। उसे पुष्ट आलंबन दिया। उसे संवारा और संविभाग (समाजवाद या साम्यवाद) के चौखटे में उसे प्रतिष्ठित किया।

अनुशासन को प्रतिष्ठित करना सब चाहते है पर वह चाहने मात्र से प्रतिष्ठित नही होता। आचार्य भिक्ष ने अनुशासन के मूल स्रोत को खोजा। उन्होने निष्कर्ष की भाषा में कहा—अनुशासन का अर्थ है साध्य या लक्ष्य की दिशा में चलना। अनुशासन के क्षेत्र में उन द्वारा किए गए प्रयोग बहुत सफल रहे। जयाचार्य आचार्य भिक्षु के प्रत्येक चरणचिह्न का स्पर्श कर चले। उन्होने अनुशासन की खोज और प्रयोग के साथ प्रशिक्षण

को जोड़ दिया। जहां शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण—तीनों एक साथ चलते है वहां विकास अपने आप हो जाता है।

अनुशासन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, समूचे समाज में, पूरे राष्ट्र में और पूरे जगत् में, पर प्रशिक्षण के बिना उसका विकास दिवा-स्वप्न जैसा वन रहा है। जयाचार्य प्रशिक्षण की कला में वहुत दक्ष थे। वे साधनशुद्धि, हृदयपरिवर्तन, अहिंसा और अनेकांत के सिद्धांत में विश्वास करते थे। वे अपनी बात को बार-बार कहते। पर उनकी विनम्रता न पुन-रुक्ति का आभास होने देती और न कटुता का अनुभव। उन्होंने समूचे संघ को अनुशासन के साचे में ढाल दिया।

एक प्रश्न उपस्थित हुआ—जयाचार्य निर्वाण शताब्दी का इतने वड़े स्तर पर आयोजन किया जा रहा है, इसके पीछे केवल श्रद्धा का ही बल है या उनकी कोई वड़ी देन है? इस प्रश्न का सहज-सरल उत्तर इस जीवन-वृत्त में मिलता है। मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठापना में उनके योगदान का कुछ सूत्रों में आकलन किया जा सकता है—

१. संप्रदायातीत धर्म का प्रस्तुतीकरण।
२. साधनशुद्धि का प्रतिपादन।
३. व्यक्तिगत स्वामित्व और संघीय स्वामित्व का भेदांकन।
४. व्यवस्था में संविभाग (या साम्य) के प्रयोग।
५. स्वतंत्र चिंतन का मूल्यांकन और पंच-व्यवस्था का प्रयोग।
६. अनुशासन का मूल्यांकन, प्रयोग और प्रशिक्षण।
७. सेवा की अनिवार्य व्यवस्था।
८. गाथाप्रणाली (अपरिग्रही मुद्रा) का प्रचलन और उसके वदले मे सेवा और सहयोग की व्यवस्था।
९. कला का विकास।
१०. संगठन का मूल्याकन और उसके प्रयोग।
११. व्यवस्था और अंतर्दृष्टि, अनुशासन और आत्मानुशासन का संतुलन।
१२. विनम्रता, ग्रहणशीलता और कृतज्ञता के मूल्यों की प्रतिष्ठा।

१३. विशाल साहित्य का प्रणयन—आगम-ग्रन्थों का मथन, पद्यानुबाद, गद्यानुवाद, मानवप्रकृति का विश्लेषण, संस्मरण, जीवनियां, कथाकोश, आख्यान, भक्तिकाव्य, ध्यान, मानसिक चिकित्सा आदि।

जयाचार्य एक महान वैज्ञानिक थे। भौतिकविज्ञानी पदार्थ पर प्रयोग और परीक्षण करता है। जयाचार्य ने प्रयोग और परीक्षण किया मनुष्य पर। उनने धर्मसंघ को प्रयोगशाला में बदल दिया। उनके चैतसिक प्रयोगों का निष्कर्ष यह है—

१. व्यक्ति-परिवर्तन (या हृदयपरिवर्तन) और व्यवस्था-परिवर्तन में सामंजस्य होना अनिवार्य।
   व्यक्ति का हृदय बदले बिना केवल व्यवस्था बदलने का परिणाम अच्छा नही होता। तथा व्यवस्था को बदले बिना केवल व्यक्ति को बदलने की बात सार्थक नही होती।

२. स्वतंत्रता तथा अनुशासन और व्यवस्था में सहअस्तित्व हो सकता है और वह अनिवार्य है।

३. देश और काल के अनुसार परिवर्तन जरूरी है।
   मौलिक ग्रंथों के परिवर्तन का अधिकार नहीं है, पर उनकी व्याख्या में रहस्यों का प्रतिपादन किया जा सकता है।

४. सामयिक व्यवस्था को शाश्वत सत्य का रूप नही देना चाहिए।

इन निष्कर्षों ने तेरापंथ धर्मसंघ को प्राणवान् बनाया। इस धर्मसंघ को जयाचार्य की महान् देन है। तेरापंथ और जयाचार्य जैसे पर्यायवाची बने हुए हैं। इस निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उस प्रज्ञापुरुष के चरणों में विनम्र श्रद्धांजलि, भावभरा वंदन और अभिनंदन।

एक अकिंचन उपहार जयाचार्य के चरणों में, जनता के हाथों में।

अणुव्रत भवन
२१० दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली, ११०००१
दिनांक १ सितम्बर, १९८१

आचार्य तुलसी
युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

प्रज्ञापुरुष जयाचार्य

1

जीवन का वातायन

जो आज भी अज्ञात है; साहित्यिक, वैचारिक, बौद्धिक, दार्शनिक और संगठन के जगत् में जो सुविज्ञात नही है, उस महान् व्यक्तित्व की जीवन-कथा साम्ययोग की आत्म-कथा है। यह आकाश-मंडल अज्ञात विभतियों के वैभव से भरा पड़ा है। अज्ञात अनंत है, ज्ञात बहुत थोड़ा।

जिसकी प्रज्ञा का प्रकाश साहित्य, विचार, चिंतन, दर्शन और संगठन-सूत्रों के कण-कण मे प्रदीप्त हो रहा है, वह है प्रज्ञापुरुष जयाचार्य।

जयाचार्य की जीवन-कथा आचार्य भिक्षु की जीवन-कथा है। जयाचार्य की जीवन-कथा तेरापंथ की जीवन-कथा है। जयाचार्य की जीवन-कथा प्रज्ञा की आत्मकथा है। जयाचार्य का जीवन-सूत्र आचार्य भिक्षु की नियति से जुड़ा हुआ है। आचार्य भिक्षु को समझे विना जयाचार्य को नही समझा जा सकता और जयाचार्य को समझे विना आचार्य भिक्षु को नही समझा जा सकता। जयाचार्य के दर्पण में आचार्य भिक्षु का प्रतिविंव जिस आभा के साथ उभरा है, उस आभा के साथ अन्यत्र नही उभरा है। जयाचार्य का प्रति-विंव भी आचार्य भिक्षु के दर्पण में अधिक सुपमा-शोभित हुआ है।

छोटा कद, छरहरा वदन, छोटे-छोटे हाथ-पांव, श्याम वर्ण, दीप्त ललाट, ओजस्वी चेहरा—यह था जयाचार्य का वाहरी व्यक्तित्व। अप्रकम्प संकल्प, सुदृढ निश्चय, मनस्वी, प्रज्ञा के आलोक से आलोकित अन्त करण, कृतज्ञता की प्रतिमूर्ति, अपने गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित, स्वयं अनुशासित, अनुशासन के जागरूक प्रहरी, संघ-व्यवस्था मे समता के प्रवर्तक और प्रयोग-कार, महान् भाष्यकार और साहित्यकार, ध्यान के सूक्ष्म रहस्यो के मर्मज्ञ—यह था जयाचार्य का आंतरिक व्यक्तित्व।

उन्होंने दोनों में अद्भुत संतुलन स्थापित किया। छोटा शरीर बड़े दायित्व के निर्वाह में और बड़ा दायित्व छोटे शरीर की क्षमता में कभी असफल नहीं बना। यह सामंजस्य की कहानी उनकी जीवन-कहानी है। यह कहानी साध्य और साधन की शुद्धि में विश्वास रखने वालों की अमर कहानी है। इसे पढ़कर हम भविष्य की क्रांतियों का स्वरूप बदल सकते है और कर सकते है जनता को पीड़ा और परतंत्रता से मुक्त।

व्यक्तित्व दो भागों में विभक्त होता है—एक भाग है दृश्य और दूसरा अदृश्य। रंग-रूप, आकृति-संरचना, अंगों की बनावट—यह है दृश्य व्यक्तित्व। प्राण-शक्ति, आभा-मंडल, एकाग्रता, संकल्प-शक्ति, मनोवल, वाक्पटुता और आकर्षण-शक्ति—यह है अदृश्य व्यक्तित्व। आंतरिक व्यक्तित्व के विकसित होने पर कुरूप और कुडौल व्यक्ति भी आकर्षण का केंद्र होता है। आंतरिक व्यक्तित्व के साथ यदि बाहरी व्यक्तित्व भी आकर्षक होता है तो वह होता है मणिकांचन योग या सोने में सुगंध।

२

तेरापंथ : स्थापना और अवतरण

आचार्य भिक्षु ने नए युग का प्रवर्तन किया। उसका मूल्य उन सबके लिए है, जो क्रांति में विश्वास करते हैं। शान्ति शब्द सुनने में बहुत मीठा लगता है, पर कभी-कभी वह भ्रान्ति को जन्म दे देता है। श्मशान की शान्ति को मूल्य नहीं दिया जा सकता। साधना के क्षेत्र में श्मशान की शान्ति जैसा वातावरण पल रहा था। गुरु और शिष्यों के संबंध सुविधावादी समझौतों के आधार पर चल रहे थे। क्रांति की ज्योति-शिखा उनका पथ आलोकित नहीं कर रही थी। गुरु को शिष्य-समूह की अपेक्षा शायद अधिक थी। शिष्य गुरु के प्रति उतनी अपेक्षा का भार नहीं ढोते थे। परिणाम यह हुआ कि गुरु की अनुशासन-क्षमता मंद हो रही थी, शिष्य अनुशासनहीनता की दिशा में आगे बढ़ रहे थे। आचार्य भिक्षु ने इस दिशा को बदलने का संकल्प किया, शिष्य-समूह की अपेक्षा से ऊपर उठ अनुशासन को नया जीवन दिया।

सत्य और संप्रदाय के संघर्ष का इतिहास बहुत पुराना है। सत्य की परंपरा चलाने के लिए संप्रदाय बनता है और वही संप्रदाय सत्य की ज्योति को ढांकने के लिए राख बन जाता है। आचार्य भिक्षु संप्रदाय में दीक्षित हुए और उसमें रहे, पर संप्रदाय को उन्होंने सर्वोपरि मूल्य नहीं दिया। उनका पूरा समर्पण सत्य के प्रति था। उसकी साधना में आने वाले कष्टों को हंसते-हंसते झेला, पर उससे विचलित नहीं हुए। 'मेरे पिता की तलाई है'—यह मानते हुए जो गंदा पानी पीता है, वह आचार्य भिक्षु की दृष्टि में समझदार आदमी नहीं होता।

आचार्य भिक्षु ने क्रांति की ज्योति जलाई, उसे संभाला आचार्य भारमल और ऋषिराय ने। अखंड ज्योति बनाने का दायित्व अपने पर ओढ़ा

जयाचार्य ने। यदि जयाचार्य नहीं होते तो आचार्य भिक्षु की क्राति को स्थायी आधार नही मिलता। यदि जयाचार्य नही होते तो आचार्य भिक्षु की सूत्रवाणी को एक सशक्त भाष्यकार नही मिलता। यदि जयाचार्य नही होते तो आचार्य भिक्षु के स्वप्न को आकार नहीं मिलता।

अवतारवाद का सिद्धात किसी न किसी रूप मे सबको मान्य है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब मै अपना सृजन करता हूं—यह स्वयं सृजन की बात भले ही विवादास्पद हो, पर यह निर्विवाद सचाई है कि सूक्ष्म जगत् मे अपेक्षा और उसकी पूर्ति का सार्वभौम नियम सतत क्रियाशील है। आचार्य भिक्षु अवतारी पुरुष थे। उनका अवतार इतिहास की एक विशिष्ट घटना है। उन्होने अध्यात्म के क्षेत्र में एक अद्भुत क्रांति की, नए प्रयोग किए। उस क्रांति और उन प्रयोगों को स्थायित्व देने के लिए अपेक्षा थी किसी दूसरे अवतार की। उसकी पूर्ति जयाचार्य के जन्म से हुई। तेरापंथ से मतभेद रखने वाले मित्र कहते थे—'भिक्षुजी के मन में अपने संघ का मोह रह गया, इसलिए उन्होंने फिर जयाचार्य के रूप मे जन्म लिया है।' तेरापंथ के समर्थक कहते थे—'जयाचार्य आचार्य भिक्षु के अवतार है।' दृष्टिकोण अपना-अपना है, किन्तु जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का अवतार कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं लगती। स्टालिन को मार्क्स की आत्मा का पुनर्जन्म कहा जाता था। स्टालिन का शरीर अपना था, मस्तिष्क मार्क्स का। जयाचार्य के लिए भी यही बात घटित होती है। शरीर उनका अपना था, मस्तिक आचार्य भिक्षु का।

इसे संयोग ही कहा जाएगा आचार्य भिक्षु का स्वर्गवास हुआ (स० १८६०) भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को और जयाचार्य का जन्म हुआ आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को। एक अवतार की समाधि और दूसरे अवतार का उद्भव और दोनो के बीच मे केवल तीस दिनो का अन्तराल। इस सयोग ने लोगो को नाना प्रकार की कल्पना करने का अवकाश दिया। जयाचार्य के मन मे भी यह कल्पना अवश्य उभरी होगी—स्वामीजी![1] मै आपका साक्षात्कार नही कर सका। कितना अच्छा होता कि मैं आपका साक्षात्कार करता, आपका चरण-स्पर्श करता, एक बार आपकी तप.पूत मुखमुद्रा

---

१. आचार्य भिक्षु को 'स्वामीजी', नाम से भी संबोधित किया जाता था

को निहार लेता और आपकी क्रांति के परिणामों को स्थायी बनाने के लिए आपका आशीर्वाद प्राप्त कर लेता और आप भी मुझे अपनी अमृतवर्षी दृष्टि से नहला कर अमर बना देते। पर यह न हो सका, होता भी कैसे ? स्वामीजी ! जब आपने अनशन किया तब मैं गर्भ में था। मै इस पांचवे अर मे जन्मा, इस कलिकाल में जन्मा, फिर भी मेरे मन में इस बात का परम हर्ष है कि मै आपकी धर्म-क्रांति के बाद जन्मा और मुझे आपका धर्म मिला।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् महावीर को संबोधित कर इस प्रकार का आत्म-निवेदन किया था—'घोर अन्धकारमयी रात्रि मे दीप, जलपोत के भग्न हो जाने पर द्वीप, मरुस्थल की चिलचिलाती धूप मे पेड़ की छाह, हिमपात के समय अग्नि के ताप-जैसा दुर्लभ आपके चरण-कमल का रज-कण इस कलिकाल में मुझे मिला है। प्रभो ! सुषमा-काल मे, सतयुग मे, मै भ्रमण करता रहा, पर आपका दर्शन नही मिला। इस कलिकाल मे मुझे आपका दर्शन मिल गया। मेरे लिए यह परम हर्ष की बात है। मै इस कलिकाल को नमस्कार करता हूं।[2]

जिस व्यक्ति को जिस देश और काल में परम की उपलब्धि प्राप्त होती है, उसके लिए वह देश और काल वन्दनीय बन जाता है। जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु को परम सत्य के रूप मे देखा और उसी रूप मे उनकी वदना की। उन्होंने वंदना के स्वर में लिखा – 'स्वामीजी जैसा साधु खोजने पर भी नही मिलता। जव-जव चर्चा-वार्ता में तीखे तर्क-वाण चलेगे तव-तव अवश्य

---

१. ते. आ. ख. १. पृ. १८६ [भिक्खूजशरसायण, ६२।२५,२६]

सरियारी मैं स्वामजी गुणधारी रे, साठ वर्प सथार।
मास भाद्रवा मैं भलो गुणधारी रे, जीत गर्भ मैं जिवार॥
पचम काले हू ऊपनों गुणधारी रे, पिण इक मुझ हर्प पर्म।
आप शुद्धमग धारया पछै गुणधारी रे, जन्म थई पायो धर्म॥

२. वीतरागस्तव, श्लोक ६,७ :

निशि दीपोम्वुधौ द्वीपं, मरौ शाखी हिमे शिखी।
कलौ दुराप: प्राप्तोऽय, त्वत्पादाब्जरज.कण: ॥
युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृत: ।
नमोस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ॥

ही स्वामीजी याद आएंगे।[1] इस याद की पृष्ठभूमि मे जयाचार्य का शिष्यत्व मुखर हो रहा है। शिष्य बहुत होते है, पर गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित शिष्य विरले ही होते है। आचार्य भिक्षु जैसे गुरु खोजने पर भी नही मिलते, तो जयाचार्य जैसे समर्पित शिष्य भी खोजने पर कठिनाई से मिलते है। जो अच्छा शिष्य होता है, वही अच्छा शासक बन सकता है। जयाचार्य धर्म-शासन के कुशल प्रशासक थे। हम इस तथ्य को आखों से ओझल न करे कि वे शासक होने से पहले भी अच्छे शिष्य थे और शासक होने के बाद भी उनके अच्छे शिष्यत्व में कोई अन्तर नही आया। उनकी जीवन-गाथा के आदि-चरण से अन्तिम चरण तक उसकी अनुभूति पाठक को होती रहेगी।

---

१. तै. आ. ग्र. १ पृ. १८६ [भिक्खुजशरसायण, ६२।२१]

सोध्या तो लाधे नहीं गुणधारी रे, स्वाम सरीखा साध।
करसी काम पड्या सगला नो गुणधारी रे, आवेला भिक्खू याद॥

३

जन्म और पारिवारिक वातावरण

व्यक्ति का जीवन घटनाओं का एक विशाल चक्र होता है। पहली घटना है—जन्म और अन्तिम घटना है—मृत्यु। इन दोनों के बीच अनगिनत घटनाएं घटित होती है। घटनाओं का सिलसिला शुरू होता है जन्म से और उनकी सफलता-विफलता का लेखा-जोखा होता है मृत्यु से। जन्म किस स्थिति में हुआ, यह मूल्यांकन का आधार नही वनता। मूल्यांकन का आधार वनता है, किस स्थिति में मरा। जन्म एक नियति है, एक संयोग है। मृत्यु व्यक्ति के पुरुषार्थ की स्वतंत्र चेतना की निष्पत्ति है।

जन्म के विना जीवन-कहानी का प्रारंभ नही होता, इसलिए हमें सवसे पहले जन्म को ही जानना होता है। वह एक घटना है, इसलिए उसे देश-काल के संदर्भ में ही जानना होता है।

जयाचार्य का जन्म 'रोयट'[1] ग्राम में हुआ। छोटे गांव में वड़ी आत्मा के जन्म लेने की घटना कोई नई नही है। संभवतः सात्त्विक आत्मा के लिए छोटे गाव का स्वच्छ वातावरण अधिक अनुकूल होता है। जातक का जन्म मंगलवेला मे हुआ। उनकी जन्म-कुंडली स्वयं इसका स्वयंभू प्रमाण है।

जातक का नाम जीतमल रखा गया। इनके दो वड़े भाई थे—सरूपचंद और भीमराज।

व्यक्ति अपने शरीर की सीमा में वंधा होने के कारण अकेला होता है, पर प्रभावों की दृष्टि से वह स्वयं में पूरा समाज होता है। उस पर सवसे

१. उस समय जोधपुर राज्य का एक गाव। वर्तमान मे राजस्थान प्रात, जोधपुर डिवीजन, पाली जिला का एक गाव।

अधिक प्रभाव माता-पिता का होता है। स्थानांग में बतलाया गया है—जातक के तीन अवयव—मांस, शोणित और मस्तिष्क—माता से प्रभावित होते हैं और उसके तीन अवयव—अस्थि, मज्जा, केश, दाढ़ी, रोम और नख पिता से प्रभावित होते है।[1] विज्ञान की दृष्टि में भी आनुवंशिकता का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जातक को समझने के लिए उसके माता-पिता को समझना जरूरी होता है। जयाचार्य के पिता का नाम था आईदानजी और माता का नाम था कल्लूजी। वंश ओसवाल और जाति गोलछा। आचार्य भिक्षु ने सं० १८३९ से ४२ तक चार चातुर्मास मारवाड़ में किए थे। इसी अवधि में वे रोयट गाव पधारे। उस समय गोलछा परिवार उनकी तपस्या और दृष्टि से प्रभावित हो उनका अनुयायी बन गया। धर्म के प्रति श्रद्धा विकसित हो गई। पूरा परिवार धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत हो गया। आईदानजी की बहिन का नाम था अजबूजी। उनमे वैराग्य की भावना जागी। वे सं० १८४४ में आचार्य भिक्षु के चरणों में दीक्षित हो गईं। उन्होंने श्रुत और आचार—दोनों की आराधना की। आचार्य भिक्षु ने उनका सिघाड़ा किया—साध्वियों के एक वर्ग की अग्रणी बना दिया। आचार्य भिक्षु से इस गोलछा परिवार को धर्म का बीज मिला। साध्वी अजबूजी की दीक्षा से उसको सिंचन मिला। धीरे-धीरे वह पनपता गया।

सूर्योदय की पूर्व संध्या

एक बार साध्वी अजबूजी जनपद विहार करती हुई रोयट गांव पहुंची। उनका व्याख्यान बहुत प्रभावशाली था। गांव के लोग उसमें बहुत रस लेते थे। साध्वीजी ने कल्लूजी से कहा—तुम व्याख्यान क्यों नही सुनती? कल्लूजी ने कहा—'महासतीजी! जीतमल बहुत बीमार है। उसके गले धान नहीं उतर रहा है। हम लोग उसके जीने की आशा छोड़ चके है। चित्त में बहुत चिंता है। निरन्तर आर्त्तध्यान रहता है। किसी भी काम में मन नही लगता।' साध्वी अजबूजी बीमारी से घिरे हुए बालक जीतमल को दर्शन देने वहां गईं। परिवार के लोग एकत्र हो गए। साध्वीजी ने मंगल-पाठ सुनाया। कल्लूजी की ओर मुड़कर साध्वीजी ने कहा—'चिंता छोड़ो, चिंतन करो। मेरी एक बात सुनो। यदि यह बालक रोग-मुक्त होकर मुनि-दीक्षा ले तो

---

१. ठाण ३।४९४,४९५।

तुम इसे रोकोगी नही, इसकी दीक्षा में वाधा नही डालोगी, यह संकल्प लो।' कल्लूजी ने कहा—'महासती जी ! इसके जीने की आशा क्षीण हो रहो है और आप दीक्षा की वात कर रही है।' साध्वीजी ने कहा—'जीतमल जीवित रहे, तभी तुम्हारे संकल्प का उपयोग होगा।' कल्लूजी ने साध्वीजी के वचन को शिरोधार्य करते हुए उस संकल्प की घोषणा कर दी। संकल्प-शक्ति का चमत्कार देखा। कुछ समय पहले जीवन मृत्यु की दिशा में जा रहा था, अब मृत्यु जीवन की दिशा में आने लगी। कुछ ही दिनों मे जीतमल स्वस्थ हो गया। बीमारी मिट गई। रोटी खाने लगा। माता-पिता और समूचा परिवार हर्ष से उत्फुल्ल हो गया।[1] लोगो ने कहा—यह संतों के भाग्य से जिया है। जिसकी नियति तेरापंथ के भाग्य-विधान के साथ जुडी हुई थी, उसे असमय में मृत्यु कैसे उठा लेती ? यह घटना अनाथी मुनि की घटना की पुनरावृत्ति है। अनाथी मुनि की आंख मे भयंकर वेदना उठी। वहुत उपचार किए, पर सव व्यर्थ। आखिर उन्होंने संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया - यदि वेदना शात हो जाए तो मुनि-दीक्षा स्वीकार करूंगा। रात्रि के प्रथम चरण में संकल्प किया और उसके अन्तिम चरण में वेदना शात हो गई। अनाथी मुनि वन गए। उनकी साधना से प्रभावित होकर ही मगध सम्राट् श्रेणिक जैनधर्म में दीक्षित हुआ था। आईदानजी ने 'सरूप' और 'भीम' की सगाई कर दी। उनके विवाह की तैयारी कर रहे थे। परिस्थिति ने मोड़ लिया। मन की वात मन में ही रह गई।

पिता की छाया उठ गई

जीतमल ने अपने जीवन के तीन वर्ष पूरे कर लिए। घर का वातावरण आनन्द से उल्लसित था। सव सुख का अनुभव कर रहे थे। मनुष्य सदा सुख चाहता है। परिवर्तन हमारे जगत् का सार्वभौम नियम है। दिन के वाद रात और रात के वाद दिन, सुख के वाद दुःख और दुःख के वाद सुख—यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। कुछ ऐसा ही हुआ। उन दिनो (सं० १८६३) एक आकस्मिक घटना घटी। मीरखां राठ जाति का मुसलमान था। वह अपने साथियों के साथ मारवाड़ में लूट-खसोट किया करता था।

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. ५२,५३ [जयसुजश, १।८-१७]।

उसने रोयट को लूटना शुरू किया। आईदानजी को इसका पता चला। वे रोयट के जागीरदार के प्रधान थे। मीरखां शस्त्रों से सुसज्जित था। इनके पास उतनी तैयारी नही थी। वे गांव की सुरक्षा करने में अपने-आप को असमर्थ पा रहे थे। देखते-देखते गांव लूट लिया गया। वे इस आघात को सह नहीं सके। उनकी मृत्यु हो गई। वे अपने पीछे कल्लूजी और तीन पुत्रों को छोड़ गए। एक ओर आर्थिक कठिनाई, दूसरी ओर पति का वियोग, तीसरी ओर पुत्रों की अवस्था छोटी—इन तीनों समस्याओं का कल्लूजी ने बड़े धैर्य के साथ सामना किया।

४

अज्ञात की प्रतिध्वनि

हम स्थूल जगत् को जानते है, उसी की प्रतिध्वनि सुनते हैं। हमारे आस-पास और भीतर एक सूक्ष्म जगत् भी है, पर उससे हम परिचित नहीं हैं। हमारे सारे व्यवहार और निर्णय स्थूल जगत् की सीमा में ही होते हैं। एक छोटा वच्चा जव मुनि-जीवन की चर्चा करता है या मुनि-जीवन स्वीकार करता है तव वह वात समझ में नही आती। जिज्ञासा वनी ही रहती है, संदेह वना ही रहता है। यदि सूक्ष्म जगत् की कोई छोटी-सी खिड़की भी खुल जाए तो संदेह अपने-आप निरस्त हो सकता है। हम उस खिड़की को खोलने की दिशा में प्रस्थान ही नहीं करते। हम बुद्धि के खेल खेलने में ही उलझे रहते है। जीतमल सात-आठ वर्ष की अवस्था में भी बुद्धिमान प्रतीत होता था। उसकी आकृति पर शांति झलकती थी। इन्द्रियों पर उसका नियंत्रण था।[1] वह सवको वहुत प्रिय था। उसे धर्म वहुत अच्छा लगता था। उसकी प्रवल धार्मिक रुचि देख लोग पूछते—तू साधु वनेगा? जीतमल कहता—जरूर वनूंगा। साधु कहते—अभी तू छोटा है, अभी साधु नहीं वन सकता। यह वात उसे प्रिय नही लगती। गांव में जव कभी साधु-साध्वियों का आगमन होता तव वालक जीतमल उनसे पूछता—अव मैं साधु वन सकता हूं या नहीं? साधु वनने की अज्ञात प्रेरणा भावना तक सीमित नही रही। वह आचरण में भी उतर आई। एक दिन कपड़े की झोली में कटोरी रख जीतमल चाचा के घर गया। उसने कहा—मैं साधु वन गया हूं। मुझे शुद्ध आहार की भिक्षा दो। चाचा का परिवार इस

---

१ ते. वा. प. २ पृ. ५२, [जयसुजश, १।५]।

बाल-लीला को देख आश्चर्यचकित हो गया ।[1]

हर प्रभात सूर्योदय की सूचना दे रहा था । हर दिन जीवन को आगे वढ़ा रहा था । हम प्रभात को जानते हैं, जीवन-वृद्धि को जानते है, पर चेतना की आंच में पकते भावों को नही जानते । कोई नहीं जानता था कि जीतमल साधु वनेगा, आचार्य वनेगा और बनेगा तेरापंथ का भाग्य-विधाता। कोई व्यक्ति एक ही दिन में साधु और आचार्य नहीं वन जाता । अज्ञात में वना हुआ साधु और आचार्य ही ज्ञात जगत् में साधु और आचार्य वनता है ।

विवाह की योजना और वैराग्य

भारतीय समाज-व्यवस्था में विवाह-संस्कार वहुत पवित्र माना जाता है । इसमे दो व्यक्तियों के जीवन की सहयात्रा की व्यवस्था है; एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का प्रयोग है; सहयोग, समर्पण और आत्मीयता का अनुपम उदाहरण है ।

अतीत की कुछ शताब्दियों में छोटी अवस्था में विवाह की प्रथा चल पड़ी । सुदूर अतीत में परिपक्व अवस्था में ही विवाह संपन्न किया जाता था । जीतमल की अवस्था वहुत छोटी थी । फिर भी पिता का देहावसान होने के वाद परिवार वालो ने उसकी सगाई घूवारा गांव मे कर दी । वही उसका ननिहाल था ।[2]

पति-वियोग के कुछ वर्षों वाद कल्लूजी अपने तीनों पुत्रो के साथ किशनगढ़ चली गईं । वहां उनके वड़े पुत्र सरूपचंद जी ने व्यापार शुरू किया । उस समय अंधकार को चीरती हुई प्रकाश की एक किरण फूटी । कल्लूजी को सुनहले जीवन का प्रथम आभास हुआ । भारमल जी स्वामी के आने की उन्हे सूचना मिली । उनकी अन्तरात्मा मे आह्लाद व्याप गया । दुःख के क्षण सुख में वदल गए । भारमलजी स्वामी जयपुर पधार रहे थे । कुछ दिन किशनगढ़ विराजे । ऋषिराय और हेमराजजी आदि अनेक प्रमुख साधु उनके साथ थे । कल्लूजी ने अपने पुत्रों सहित उनके सान्निध्य का लाभ उठाया ।[3]

१. ते. आ. घ. २, पृ. ५८ [जयसुजश, ३।१-४]।
२. ते. आ. घ. २, पृ. ५८ [जयसुजश, ढाल. २]।
३. ते. आ. घ. २, पृ. ५८ [जयसुजश, ढाल ५,३]।

भारमलजी स्वामी ने चतुर्मास का प्रवास (सं० १८६९) जयपुर में किया। उनका आवास सेठ पदमसी ढड्ढा के घर में था। कल्लूजी अपने तीनों पुत्रों सहित भारमलजी स्वामी के चरणों में उपस्थित हुईं। लाला हरचंद जौहरी के घर में ठहरी। प्रातःकाल भारमलजी स्वामी प्रवचन करते थे। रात्रि के समय ऋषिराय रामचरित का वाचन करते थे। जीतमल दोनों समय प्रवचन सुनता था। प्रातःकालीन प्रवचन में तत्त्व की चर्चा होती, उसे बहुत ध्यान से सुनता और समझ लेता। दिन में साधुओं की सन्निधि में बैठ तत्त्वज्ञान पढ़ना शुरू किया। शायद गुरु की पाठशाला में पढने का मौका नही मिला। उसने पहला पाठ तत्त्वज्ञान का ही पढ़ा। 'पचीस बोल' (चौबीसवें बोल को छोड़कर) और 'तेरहद्वार' के ग्यारह द्वार उसने कंठस्थ किए। अन्य नाना प्रकार की तत्त्व-चर्चा की धारणा की।[1] इस तत्त्व-विद्या ने उस नौ वर्षीय बालक की सुप्त चेतना को जगा दिया। आचार्य भिक्षु के तत्त्व-दर्शन को पढ़ बालक जीतमल का आन्तरिक व्यक्तित्व भिक्षु के रूप में बदलने लगा। मुनि-दीक्षा स्वीकार करने की अभीप्सा प्रबल हो गई।

लाला हरचंद जौहरी का ध्यान जीतमल की ओर आकर्षित हो गया। उन्होने देखा—यह अवस्था मे छोटा है, पर बहुत चतुर, बहुत समझदार, बहुत बुद्धिमान्, शान्त और धीर है। ऐसे बालक विरले ही होते हैं। उन्होंने कल्लूजी और सरूपचंदजी से कहा—'जीतमल बहुत होनहार बालक है। इसकी प्रतिभा और अध्यवसाय विलक्षण है। यह मुनि बनेगा तो बड़ा तेजस्वी होगा। यह मुनि बनता है तो बहुत अच्छी बात है। यदि मुनि बनने की भावना परिपक्व न हो तो मैं आपसे एक बात कहना चाहता हूं कि मै इसे अपनी भतीजी को ब्याहूंगा। बहादुरसिंह पटोलिया मेरे मित्र है। अच्छे जौहरी है। मेरी भावना है—यह उनका दत्तक पुत्र बने। पचास हजार रुपए नगद और घर की सारी संपत्ति इसके अधिकार मे आए।'[2]

लाला हरचंद ने आगे कहा—'मै प्राथमिकता मुनि-दीक्षा को देता हूं और मै चाहता हूं कि यह मुनि बने। यदि संयोगवश वैसा न हो तो मेरा प्रस्ताव आपके ध्यान में रहे।'

---

१. ते. आ. ध. २, पृ. ५५ [जयसुजश, ३।१-६]।
२, ते. आ. ध. २, पृ. ५५,५६, [जयसुजश ३।७-१०]

बहुत बार बात बात तक और कामना कामना तक रह जाती है। जीतमल का मन भिक्षु के रंग में रंग चुका था। भोग और वैभव का आकर्षण उसके चित्त को नहीं छू रहा था। लाला हरचंद की पहली कल्पना साकार हुई और दूसरी केवल इतिहास का विषय बन कर रह गई। जीतमल के मन में वैराग्य की धारा अजस्र धारा होकर बहने लगी।

मुनि-दीक्षा

मुनि होने का अर्थ है—पुराने जीवन की संपन्नता, नए जीवन का प्रारंभ। मुनि का जीवन जीना बहुत बड़ी साधना है। जिसकी अंतश्चेतना चैतन्य के अनुभव में रम जाती है, वही व्यक्ति मुनि का जीवन जी सकता है। कोई व्यक्ति सहज ही चैतन्य के अनुभव में चला जाता है और कोई प्रेरणा पाकर। किसी प्रतिभा का उन्मेष नैसर्गिक होता है और किसी प्रतिभा का उन्मेष अधिगम से होता है। नैसर्गिक प्रतिभा कम होती है, इसीलिए शिक्षा का तंत्र चलता है प्रतिभा को जगाने के लिए। जीतमल में मुनि होने की सहज भावना थी। सरूपचंद की भावना को साध्वी अजबूजी ने जागृत किया। चातुर्मास संपन्न हो गया। भारमलजी स्वामी के शरीर में व्रण हो गया। भयंकर वेदना, इसलिए जयपुर से विहार नहीं हो सका। फाल्गुन तक वहीं रहे।[1] साधु-साध्वियों के सिंघाड़े चातुर्मास संपन्न कर आचार्यवर के चरणों में उपस्थित हुए। आनेवाले साधुओं मे प्रमुख थे हेमराजजी स्वामी और आने वाली साध्वियों में प्रमुख थी—हीरांजी, अजबूजी, हस्तूजी, कस्तूजी। अजबूजी ने सरूपचंद को मुनि बनने की प्रेरणा दी। वह सरूपचद को प्रतिबोध दे रही थी। साध्वी हस्तूजी ने बीच में ही कहा—तुम्हें दीक्षा लेनी ही है, फिर उसका यश अपनी बुआ को ही दो। हस्तूजी की बात सरूपचंद के मन में चुभ गई। उसने कहा—मुझे घर मे रहने का त्याग है। सरूपचंद अब वैरागी हो गया। माता की स्वीकृति मिल गई। भारमलजी

---

१. (क) ते. आ. ख. २, पृ. ३८ [ऋषिरायचरित्र ३।१] :

भारीमल्ल रे तन मझे, व्रण वेदन भारी हो।
तिण कारण अधिका रह्या, फागण ताई विचारी हो ॥

(ख) ते. आ. ख. २, पृ. ४३ [जयसुजश ९ दो. १]।

स्वामी ने (सं० १८६६ पौष शुक्ला नवमी को) मोहनवाड़ी में वटवृक्ष के नीचे उसे मुनि-दीक्षा दी।

वड़े भाई मुनि हो गए। अव जीतमल का मन दीक्षित होने के लिए छटपटाने लगा। भारमलजी स्वामी के सम्मुख प्रार्थना की। अवस्था छोटी, वैराग्य वड़ा। एक ओर वास्तविकता, दूसरी ओर व्यवहार। भारमलजी स्वामी ने वैराग्य को महत्त्व दिया। माघ कृष्णा सप्तमी का दिन दीक्षा के लिए निश्चित कर दिया। आचार्य व्यवहार के भी पालक होते हैं। जो वास्तविकता को नहीं जानता वह जनमत की अवहेलना करता है। आचार्य इन दोनों सचाइयो को समझकर, उनमे सामंजस्य स्थापित कर चलते है। जीतमल उस समय नौ वर्ष पूरे कर दसवें वर्ष के तीन मास पूर्ण कर चुका था। भारमलजी स्वामी छोटी अवस्था को ध्यान में रख, परिस्थिति पर विचार कर दीक्षा देने स्वंयं नही गए। जीतमल को दीक्षित करने ऋषिराय को भेजा। उस समय वे मुनिदशा में थे। उनकी अवस्था वाईस वर्ष की थी। वुद्धि की सीमा मे सहज ही प्रश्न होगा—हेमराजजी स्वामी जैसे दिग्गज साधु वहा उपस्थित थे, फिर ऋषिराय को दीक्षा देने क्यों भेजा? दीक्षा अध्यात्म जगत् का सवसे वड़ा अनुष्ठान है। वह अनुभवी साधुओं को छोड़ एक वाईस वर्षीय साधु से संपन्न क्यों करवाया? बुद्धि की सीमा से परे यह कोई प्रश्न नही है। भारमल के साथ ऋषिराय की नियति जुड़ी हुई थी। भारमलजी स्वामी ऋषिराय को पाकर निश्चिन्त थे। ऋषिराय को जीतमल की जरूरत थी। भारमलजी स्वामी ने सही निर्णय लिया। ऋषिराय ने घाट दरवाजे की ओर पूर्व दिशा मे वट वृक्ष के नीचे जीतमल को मुनि-दीक्षा मे दीक्षित किया। अपने हाथों एक शक्तिशाली वीज वोया। उसका सिंचन भविष्य के गर्भ मे था। उन्हे एक ऐसा सहयोगी मिला, जो विरले मुनि को मिलता है। तेरापंथ मे शिष्य एक गुरु के ही होते है। कोई मुनि अपना शिष्य वना नही सकता। ऋषिराय उस समय मुनि थे, गुरु नही थे। इसीलिए मुनि जीतमल उनके सहयोगी के रूप में दीक्षित हुए। भविष्य की लिपि जव स्पष्ट हुई तव सवने पढ़ा—ऋषिराय आचार्य वन गए और मुनि जीतमल उनके शिष्य। ऋषिराय अपने शिष्य का पल्लवन करते रहे। मुनि सरूपचंद और जीतमल को हेमराजजी स्वामी को सौंप दिया। कुछ दिनों वाद मुनि हेमराजजी माधोपुर की ओर विहार कर गए। दो भाइयों की दीक्षा ने

भीमराजजी को प्रभावित किया। उनके मन मे भी वैराग्य का वीज प्रस्फुटित हुआ। भारमलजी स्वामी के चरणों में दीक्षा लेने की भावना रखी। माता कल्लूजी भी दीक्षा लेने को तैयार थी। भारमलजी स्वामी ने फाल्गुन कृष्णा एकादशी को मोहनबाडी में उन्हें (भीमराजजी तथा कल्लूजी को) मुनि-दीक्षा स्वीकार करवाई। पूरा परिवार दीक्षित हो गया। सबसे पहले मुनि जीतमल के मन में वैराग्य का अंकुर फूटा था। उसकी रश्मियों ने पूरे परिवार को विरक्त वना दिया। डेढ़ महीने की अवधि में तीनों भाई अपनी माता सहित मुनि बन गए। भारमलजी स्वामी को शिष्य-सपदा की अनुपम उपलब्धि हुई। दोनों भाइयों ने अपनी तेजस्विता से तेरापंथ को तेजस्वी बनाया। *मुनि जीतमलजी तेरापंथ के श्वास-उच्छ्वास और प्राण वन गए।* भारमलजी स्वामी ने मुनि भीमराजजी को अपने पास रखा और साध्वी कल्लूजी को साध्वी अजबूजी को सौप दिया। जीवन का पहला अध्याय संपन्न हुआ, नए अध्याय का शुभारंभ।

५

विद्याभ्यास और विद्यागुरु

प्रज्ञा स्वयं जागृत होती है, बुद्धि को जगाना होता है। मुनि जीतमल-जी की प्रज्ञा जागृत थी। बुद्धि को जगाने का दायित्व मुनि हेमराजजी के कंधो पर आया। मुनि हेमराजजी आचार्य भिक्षु के योग्यतम शिष्यों में प्रमुख थे। भारमलजी स्वामी उनका वहुत् सम्मान करते थे। वे आगम के मर्मज्ञ और वहुत वडे तत्त्ववेत्ता थे। उनकी आचार-गगा की निर्मल धारा में अवगाहन कर जनता अपने को धन्य मानती थी। धर्मसंघ के निरभ्र आकाश में वे एक तेजोमय नक्षत्र की भांति चमकते थे।

समर्थ विद्यागुरु और समर्थ विद्यार्थी का मणिकांचन योग विरल ही मिलता है। मुनि जीतमल को वह विरल योग मिला। भारमलजी स्वामी ने वह योग मिलाया। मुनि जीतमल पावन त्रिवेणी-संगम में नहा कर निहाल हो गए। भारमलजी स्वामी जैसे समर्थ आचार्य, ऋषिराय जैसे दीक्षागुरु और हेमराजजी स्वामी जैसे विद्यागुरु को पाकर वे अपने-आप में जय-विजय का अनुभव करने लगे। उनकी स्मृति प्रखर थी। प्रथम वर्ष में उन्होंने तत्त्व-ज्ञान का अध्ययन किया। मुनि का अध्ययन गृहस्थ जैसा नही होता। वह स्मृति-कोष्ठो में केवल आंकड़ो को इकट्ठा नही करता, केवल शव्दों का अंवार नही लगाता, किन्तु वृत्तियों का परिष्कार करता है, आदतो को वदलने की साधना करता है और करता है व्यक्तित्व के रूपान्तरण का प्रयत्न। मुनि जीतमल ने अध्ययन के साथ-साथ तप और जप का अभ्यास शुरू किया। तप से संचित संस्कार क्षीण होते हैं और जप से चित्त इप्ट के साथ जुड़ जाता है। मुनि-दीक्षा के साथ उन्होंने पांच महाव्रतों को स्वीकार किया। उनकी संसिद्धि के लिए उन्होने तीन गुप्तियों (ध्यान, मौन और कायोत्सर्ग) की

साधना की। उनकी जीवन-यात्रा के लिए अपेक्षित प्रवृत्तिया (गति, भाषा, आहार आदि) अपने-आप सम्यक् हो गई। जीवन की सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है—जागरूकता। वे क्षण-क्षण के प्रति जागरूक हो गए। विद्या विनय देती है—यह सुप्रसिद्ध सूक्त है। विनय विद्या देता है—यह भले प्रसिद्ध सूक्त न हो, पर उससे अधिक वास्तविक है। मुनि जीतमल में विनय, विवेक और विचार तीनो प्रतिस्पर्धी की भाति गतिशील हो रहे थे।[1] वे बहुत लज्जाशील थे। लज्जा आत्मानुशासन का अनिवार्य अग है। निर्लज्जता मनुष्य को ढीठ बनाती है। उनकी वाणी मधुर थी। तत्त्वचर्चा मे उनका रस था। वे प्रतिकूल वचन सुनकर भी मानसिक संतुलन नही खोते थे।[2] दूसरे वर्ष मे मुनि जीतमल और मुनि भीम दोनो हेमराजजी स्वामी के साथ थे। मुनि सरूप भारमलजी स्वामी की सन्निधि मे रहे। तीसरे वर्ष भारमलजी स्वामी ने प्रसन्न होकर मुनि सरूप को भी हेमराजजी स्वामी के पास रख दिया। तीनों भाई अध्ययन और साधना मे लीन हो गए। पंद्रह वर्ष की अवस्था में मुनि जीतमल ने बयालीस उपवास किए। उस समय वे मुनि हेमराजजी के साथ पाली में चातुर्मास बिता रहे थे।

मुनि जीतमल अध्ययन की दिशा में निरंतर आगे बढ़ रहे थे। मुनि हेमराजजी की ज्ञानराशि उस उर्वरा में शतगुणित हो रही थी। प्रवचन की कला, तत्त्वचर्चा, आगमों के सूक्ष्म रहस्य—सभी विषयो पर वे अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे। मुनि हेमराजजी का चातुर्मास जयपुर मे हुआ। उस समय मुनि जीतमल इकीसवे वर्ष मे थे।

आचार्य भिक्षु प्रज्ञा के धनी थे। उन्होन आगमो का अध्ययन प्रज्ञा के बल पर किया था। आगमो की भाषा प्राकृत है। उनकी टीकाएं संस्कृत मे हैं। आचार्य भिक्षु की प्रज्ञा इतनी प्रखर थी कि उन्हे बुद्धि को सहलाने का अवसर ही नही मिला। उनका जीवन साधना की कसौटी मे गुजर रहा था, इसलिए वे बुद्धि का व्यायाम नहीं कर सके। ऋपिराय के शासनकाल में संघ विस्तार पा रहा था। श्रद्धा के साथ बुद्धि को जागृत करने की अपेक्षा अनुभव हो रही थी। उस समय मुनि जीतमल्ल ने तेरापथ सघ मे संस्कृत का बीज-वपन किया। उनके संस्कृत अध्ययन का इतिहास एक

१. ते. आ. ग्र. २, पृ. ५८ (जयसुजश, ५।२,३]।
२. ते. आ. ग्र. २, पृ. ५९ [जयसुजश, ५।८-९]।

विलक्षण घटना है। उस समय राजस्थान में अनेक राजे राज्य करते थे। उनके राज्य मे संस्कृत विद्या का अध्ययन होता था। राजे लोग उसे प्रोत्साहन देते थे। उस पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। इन राज्यो में विहार करने वाले जैन मुनि संस्कृत को भुला चुके थे। वह युग साप्रदायिक कट्टरता का युग था। एक संप्रदाय का व्यक्ति दूसरे संप्रदाय के व्यक्ति को विद्या देने मे कतराता था। मुनि जीतमल की प्रवल इच्छा थी सस्कृत पढने की, पर पढ़ाने वाला कोई नही मिला। चाह स्वय राह खोज लेती है। एक श्रावक का पुत्र सस्कृत व्याकरण पढ़ता था। मुनि जीतमल को इसका पता चला। उन्होने कहा—तुम दिन मे जो पढ़ते हो, वह रात को मुझे सुना देना। उसने वैसा ही किया। मुनि जीतमल का सस्कृत अध्ययन शुरू हो गया।[१] उन्होंने सारस्वत का पूर्वार्ध और सिद्धातचद्रिका का उत्तरार्ध कठस्थ किया।[२] शब्द-सिद्धि की साधनिका जैसे वताई, वैसे लिख ली। उनकी बुद्धि प्रखर थी। वे थोड़े अध्ययन मे वहुत जान लेते थे। उन्होने इस अध्ययन के आधार पर सस्कृत टीकाओ का अपनी रचनाओ में प्रचुर उपयोग किया। मुनि-जीवन के वारह वर्ष पूरे हुए। पुराने जमाने मे अध्ययन का काल वारह वर्ष का माना जाता था। मुनि-प्रवर का अध्ययन भी वारह वर्षो मे सम्पन्न हो गया।

---

१. ते आ. प २, पृ ६४ [जयसुजश, ८।८-९]।
२. ते. आ. प. २. पृ. २०३ [जयसुजश, ६३।२६]।

६

प्रज्ञा की रश्मियां

प्रज्ञा का पढ़ाई से सम्बन्ध नही होता। वह चेतना का सहज प्रकाश है। उसकी रश्मिया फूटती है तव दसों दिशाएं आलोक से भर जाती है। सं० १८७८ वैशाख कृष्णा नवमी की घटना है। भारमलजी स्वामी केलवा मे विराज रहे थे। उनके पेट में चिरकाल से वेदना चल रही थी। शरीर की शक्ति क्षीण हो रही थी। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी चाही। उस समय संघ में अनेक प्रभावशाली संत थे। उनमें खेतसी-जी स्वामी और हेमराजजी स्वामी प्रमुख थे। भारमलजी स्वामी ऋषि-राय को अपना उत्तराधिकारी वनाना चाहते थे। वे ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध थे। जयाचार्य ने उनकी तुलना जंबूस्वामी से की है।[1] वे यशस्वी और शक्ति-सम्पन्न थे। आचार्य भिक्षु ने संविधान में लिखा आचार्य जिसे चाहे, उसे अपना उत्तराधिकारी चुने। वैधानिक दृष्टि से किसी का परामर्श आवश्यक नही था। भारमलजी स्वामी जिसे चाहते, उसे अपना उत्तराधि-कारी चुन सकते थे; फिर भी नया-नया काम था। उन्हे सविधान का पहला प्रयोग करना था। आचार्य भिक्षु ने भारमलजी स्वामी को युवाचार्य पद दिया, तव संविधान का निर्माण किया। अव उसके प्रयोग का समय था। उन्होने खेतसीजी और हेमराजजी स्वामी से परामर्श किया। उन्होंने भारमलजी स्वामी की इच्छा का समर्थन किया।[2] भारमलजी ने उत्तराधि-कार का लेख-पत्र लिखा। उसमें दो नाम लिखे। उसकी भाषा इस प्रकार

१. ते. आ. ग्र. २, पृ. ४८ [ऋषिरायचरित, १२।१८]।
२. ते. आ. ग्र. २, पृ० ३६ [ऋषिरायचरित, ७।८-७]।

है—"सर्व साध-साधवी खेतसीजी, रायचन्दजी री आगन्या माहे चालणो।"[1]

मुनि जीतमल उस समय अठारह वर्ष के नवयुवक थे। उन्होंने वद्धाजलि वंदना कर कहा—'गुरुदेव ! आपने उत्तराधिकार के लिखे पत्र मे दो नाम लिखे है। मेरी विनम्र प्रार्थना है कि उसमे एक नाम ही रखें। आप जिसका चाहे, उसका नाम रखें, पर रखे एक ही नाम।'

भारमलजी स्वामी ने कहा—'जीतमल ! खेतसीजी मामा है, रायचद (ऋषिराय) उनका भानजा है। इसमें कठिनाई क्या होगी ?' मुनि जीतमल ने कहा—'गुरुदेव ! संबंध संबंध है, पद पद है। कठिनाई कभी भी हो सकती है। दूसरी वात—आपके हाथों आचार्य भिक्षु की मर्यादा की प्रथम क्रियान्विति हो रही है, इसलिए समूचे भविष्य का दायित्व आपकी कृति पर निर्भर है।' भारमलजी स्वामी ने मुनि जीतमल की प्रार्थना को स्वीकार किया और मुनि खेतसीजी का नाम हटा दिया। वह पत्र आज भी सुरक्षित है और उस पर बिंदिया लगी हुई है। उत्तराधिकार लिखत की प्रारभिक और अंतिम पंक्ति भारमलजी स्वामी ने स्वयं लिखी और वीच का सारा पत्र किसी दूसरे मुनि का लिखा हुआ है। वह हस्तलिपि मुनि जीतमल की प्रतीत होती है। इस संभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता कि मुनि जीतमल वह पत्र लिख रहे थे। जव भारमलजी स्वामी ने दो नाम लिखाए तव उसी समय उन्होने आचार्यवर से प्रार्थना की। आचार्यवर नें उनकी प्रार्थना मान ली और केवल रायचंदजी (ऋषिराय) का नाम ही उसमें रखा। एक अठारहवर्षीय मुनि की प्रज्ञा ने संघ को वड़े संकट से उवार लिया। यदि एक वार उस परंपरा का सूत्रपात हो जाता तो तेरापथ के नेतृत्व का भविष्य उतना निरापद नही रहता, जितना आज है।

सं० १८८४ की घटना है। ऋषिराय मालवा की यात्रा सम्पन्न कर मेवाड़ पधारे। 'पुर' मेवाड का अच्छा क्षेत्र है। वहां हेमराजजी स्वामी पहले विराज रहे थे। ऋषिराय वहां पधारे। हेमराजजी स्वामी ने उनकी अगवानी की। शिष्य-संपदा और धार्मिक वैभव के साथ ऋषिराय ने पुर में प्रवेश किया। ऋषिराय वहुत प्रसन्न थे, हेमराजजी स्वामी भी वहुत प्रसन्न। संध्याकालीन प्रतिक्रमण के समय सभी मुनि ऋषिराय के पास गए। दैनिकचर्या मे हुए प्रमाद के लिए आलोचना (एक प्रायश्चित्त) की। हेमराजजी

१ उत्तराधिकार का लिखत।

स्वामी ऋषिराय से दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। उन्होने आलोचना अपने-आप कर ली। दीक्षा-पर्याय में बड़े मुनि भी आलोचना आचार्य के पास करे, इस विषय पर कोई चिंतन नही हुआ था। हेमराजजी स्वामी ने उस पर गंभी-रता से चिंतन नहीं किया था।

ऋषिराय संघीय व्यवस्थाओ को सुस्थिर कर रहे थे। वे आलोचना की परंपरा को निश्चित रूप देना चाहते थे। दीक्षा-पर्याय मे छोटे या बड़े सभी साधु आचार्य के पास ही आलोचना करें, इस परंपरा का उन्हे सूत्रपात करना था। उन्होंने कहा—'जीतमल ! तू जब तक हेमराजजी स्वामी को आचार्य के पास आलोचना करने के लिए सहमत न कर पाए तब तक तुझे चारो आहार लेने का त्याग है।'

मुनि जीतमल ने ऋषिराय के आदेश को शिरोधार्य किया। ऋषिराय उनके दीक्षागुरु और आचार्य थे। हेमराजजी स्वामी उनके विद्यागुरु थे। वे दोनों के प्रति बहुत श्रद्धानत थे। आचार्य का आदेश था, इसलिए वे हेमराजजी स्वामी के पास गए। उन्होने कहा—मुनिप्रवर। आपने आलोचना नहीं की ?

हेमराजजी स्वामी—जीतमल ! मैने कर ली।

मुनि जीतमल—किसके पास की ?

हेमराजजी स्वामी—मैंने स्वयं कर ली।

मुनि जीतमल—आप पथ-प्रदर्शन करने वाले है। आप के इस कार्य से दूसरों का पथ-प्रदर्शन कैसे होगा ?

हेमराजजी स्वामी—तुम यही चाहते हो कि मै ब्रह्मचारीजी (वे ऋषिराय को इसी नाम से संबोधित करते थे) के पास आलोचना करूं ?

मुनि जीतमल—मुनिप्रवर ! मेरी यही इच्छा है।

हेमराजजी स्वामी—ठीक है। अब ऐसा ही होगा।

मुनि जीतमल का अनशन समाप्त हो गया। कठोर अनशन, जिसमे पानी पीने की भी छूट नही थी, वह अनशन अनिश्चित काल के लिए था, पर कुछ घंटों में ही समाप्त हो गया। ऋषिराय प्रसन्न, हेमराजजी स्वामी प्रसन्न और मुनि जीतमल प्रसन्न। पूरा वातावरण प्रसन्नता मे भर गया। हेमराजजी स्वामी उस स्वीकृति के बाद ऋषिराय के पास आलोचना करने लगे। मुनि जीतमल की प्रज्ञा का प्रकाश तेरापंथ के कण-कण मे व्याप्त हो गया।

७

संकल्प-शक्ति के प्रयोग

सं० १८७५ की घटना है। उस समय मुनि जीतमल पंद्रह वर्ष की अवस्था मे थे। मुनि हेमराजजी के साथ पाली मे चातुर्मास कर रहे थे। एक दिन उन्होंने संकल्प किया—भारमलजी स्वामी के दर्शन न करू तव तक एक विगय[1] से अधिक विगय नही खाऊंगा। चातुर्मास संपन्न हुआ। पाली से प्रस्थान कर देवगढ़ (मेवाड़) पहुचे। वहां एक आकस्मिक घटना घटी। मुनि हेमराजजी शौच से निवृत्त होकर वापस आ रहे थे। गाय ने उन्हें चोट लगा दी। घुटने की ढकनी नीचे खिसक गई। भयंकर वेदना हुई। सहवर्ती मुनि उन्हें कंवल की झोली मे उठाकर स्थान पर लाए। दिल्ली वाले वैद्य मगनीरामजी ने उनकी चिकित्सा की। वैद्यजी के निर्देशानुसार मुनि सरूपचंदजी ने ढकनी को चढ़ाया। वैद्यजी ने कहा—पीड़ा होगी, पर दया मत करना। वीच मे मत छोड़ देना। सरूपचंदजी स्वामी ने काफी दृढ़ता से काम लिया। फिर भी हेमराजजी स्वामी के कष्ट को देख मन में करुणा जाग गई। ढकनी प्रायः चढ़ गई। थोड़ी सी वाकी रही थी तव उन्होंने पैर छोड़ दिया। इसलिए थोड़ी कसर रह गई। विहार नही हो सका। उन्हे नौ मास तक वहा रहना पड़ा।[2] मुनि हेमराजजी ने देवगढ़ से विहार कर गंगापुर मे भारमलजी स्वामी के दर्शन किए। लगभग तेरह महीने के वाद मुनि जीतमल का संकल्प पूरा हुआ। व्यक्ति का सवसे वड़ा वल होता है मनोवल। वह संकल्प से जागता है। इतनी छोटी अवस्था मे इतने मनोवल का कारण

1. 'विगय' विकृति का प्राकृत रूप है। विगय छह होते हैं—
   १. दूध, २. दही, ३. घी, ४. चीनी, ५. मिठाई, ६. तेल।
2. (क) ते. आ. य. २, पृ. ६० [जयसुजश, ६।३-७]।
   (ख) अमरगाथा [हेमनवरसो, ५।२८-३३]।

था संकल्पशक्ति का विकास। जिसका अपनी इन्द्रियो पर प्रभुत्व नही होता, जो सहिष्णु नही होता—कष्टों को झेल नही पाता, जिसका चित्त चपल होता है, उसका संकल्प टूट जाता है। वही व्यक्ति अपने संकल्प को पार पहुंचाता है, जो जितेन्द्रिय, सहिष्णु और स्थिरचित्त होता है। एक पंद्रह वर्ष का बालकमुनि तेरह मास तक आहार का इतना कठोर संयम करता है, इसका अर्थ है वह जितेन्द्रिय है। पंद्रह वर्ष की अवस्था में बयालीस उपवास करने का अर्थ है वह जितेन्द्रिय भी है और कष्ट-सहिष्णु भी है। मुनि जीतमल मे न बाल-सुलभ चपलता थी और न वृद्ध-सुलभ उदास-भाव। उनमे थी ध्येय-पूर्ति की लगन और गहरी एकाग्रता।

मुनि हेमराजजी काणाणा (जिला बाडमेर) मे थे। मुनि जीतमल मेवाड़ से फलौदी जा रहे थे। चैत्र शुक्ला एकम से उन्होंने एकान्तर तप (एक दिन उपवास, एक दिन भोजन) शुरू किया। यात्रा-पथ मे जोधपुर आया। वहा सत्रह दिन ठहरे। अक्षयतृतीया के दिन हेमराजजी स्वामी के दर्शन करने का निश्चय किया। लंबे विहार और एकातर तप दोनों चलते रहे। अक्षयतृतीया के दिन सोलह मील का विहार कर वे काणाणा पहुंचे। सांझ के समय उपवास की तपस्या में उन्होंने हेमराजजी स्वामी के दर्शन किए।[1]

जीने की कामना है। यही है भय। यही है हिंसा। यही है कायरता। जीने की वासना को छोड़ना बड़ी घटना है। वही है अभय। वही है अहिसा। वही है पराक्रम। वही है वीर का वीरत्व। जयाचार्य का शरीर छोटा किंतु उनका पराक्रम बहुत बड़ा था। शरीर के प्रति होने वाला ममत्व पराक्रम की ज्योति को मंद करता है। तपस्या निर्ममत्व का एक प्रयोग है। उससे पराक्रम की ज्योति प्रज्ज्वलित होती है। आचार्यवर सर्दी के दिनो मे एक उत्तरीय (चादर) ओढ़ते थे। समय-समय पर उपवास करते थे। सं० १८७५ मे जयाचार्य ने मुनि हेमराजजी के साथ पाली मे चातुर्मासिक प्रवास किया। वहा उन्होंने बयालीस उपवास किए।[2] सं० १८८४ के पेटलावद चातुर्मासिक प्रवास में उन्होंने आछ (गर्म छाछ के ऊपर का निथरा हुआ नीला जल) पीकर पन्द्रह दिन का उपवास किया।[3]

१. ते आ. ग्र. २, पृ. ८८ [जयसुजश, २०।८-१०]।
२. ते. आ. ग्र. २, पृ. ६० [जयसुजश, ६।दो. १,२]।
३. ते. आ. ग्र. २, पृ. ७१,७२, [जयसुजश, ११।१२,१३]।

८

समर्पित व्यक्तित्व

हर व्यक्ति अपने-आप में क्षमता के बीज लिए हुए पैदा होता है। कुछ में वे बीज अंकुरित हो पाते है, कुछ में वे अंकुरित नही हो पाते। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को महानता से जोड़ लेते है, द्वैत मे अद्वैत स्थापित कर लेते है, उनके क्षमता-बीज अंकुरित हो जाते है। मुनि जीतमल तीन महान् व्यक्तित्वों से जुड़े हुए थे। भारमलजी स्वामी उनके आचार्य थे, ऋषिराय उनके दीक्षागुरु और मुनि हेमराजजी उनके विद्यागुरु। वे इन तीनों के प्रति समर्पित थे। उनका समर्पण स्वार्थ-भावना से प्रेरित नही था। वह था सत्य की गवेषणा के लिए सत्य के प्रति समर्पण। मुनि जीतमल ने समर्पण के साथ ही संयम-जीवन की यात्रा का शुभारंभ किया था। वे पहले मुनि-दीक्षा में आए। उनके बड़े भाई मुनि भीमराजजी उनके वाद दीक्षित हुए। दीक्षा के दो चरण होते हैं—प्रव्रज्या और उपस्थापना। प्रव्रज्या में दीक्षार्थी सामायिक (समता) की दीक्षा स्वीकार करता है और उपस्थापना में वह महाव्रतो की दीक्षा स्वीकार करता है। एक सप्ताह के वाद दूसरी दीक्षा मे प्रवेश होता है। जिसे उपस्थापना दीक्षा पहले प्राप्त होती है, वह दीक्षा-पर्याय मे वड़ा होता है और उसे वाद में प्राप्त करने वाला छोटा।

भारमलजी स्वामी जयपुर से प्रस्थान कर माधोपुर पधारे। मुनि हेमराजजी कोटा-बूंदी की यात्रा कर वहा पहुंच गए। मुनि अवस्था मे तीनो भाई पहली वार मिले। वहां भारमलजी स्वामी ने मुनि भीमराजजी को चार मास पश्चात् उपस्थापना दीक्षा (वड़ी दीक्षा) स्वीकार कराई। मुनि जीतमल अभी भी सामायिक दीक्षा में थे। उन्हें छह मास के वाद इन्द्रगढ़ मे उपस्थापना दीक्षा प्राप्त हुई। मुनि भीमराजजी को दीक्षा-पर्याय में वड़ा

करने के लिए ही ऐसा किया गया।'[1] मुनि जीतमल वड़प्पन के लिए समर्पित नही थे, इसलिए इस घटना ने उन्हें कभी प्रभावित नही किया।

सं० १६०७ की घटना है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था मे थे। आचार्यवर ऋषिराय ने उन्हे वीदासर में चातुर्मास करने का आदेश दिया। वे चातुर्मास की स्थापना के लिए वीदासर पहुंच गए। आषाढ़ का महीना, भयकर गर्मी, चिलचिलाती धूप, रेगिस्तानी आधिया और झुलसा देने वाली लू। चारों ओर वर्षा की प्रतीक्षा की जा रही थी।

उस समय ऋषिराय जयपुर विराज रहे थे। बीकानेर के मदनचंदजी राखेचा ने उनके पास एक प्रार्थना पहुंचाई—इस वर्ष युवाचार्य जीतमलजी स्वामी का चातुर्मास-प्रवास बीकानेर मे होना वहुत लाभकारी है, इसलिए आप हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान दे। ऋषिराय ने अपने युवाचार्य को बीकानेर में चातुर्मास-प्रवास करने का आदेश दे दिया। यह संवाद वीदासर पहुंचा। युवाचार्य जीतमलजी स्वामी तत्काल विहार करने को तैयार हो गए। सहवर्ती साधु गर्मी की भयकरता को देख विहार करना नही चाहते थे। वीदासर के श्रावक भी नही चाहते थे कि यहा से युवाचार्य विहार करे। मिला हुआ चातुर्मास हाथ से निकल जाए, यह उन्हें अच्छा नही लगा। उन्होंने युवाचार्य से प्रार्थना की—आचार्यवर का आदेश शिरोधार्य है, पर कितना भयंकर है मौसम! यहां से वीकानेर पैंतीस कोस (सत्तर मील) है। रास्ता वहुत विकट है। वड़े-वड़े रेतीले टीले है। धूप चढ़ते ही वालू आग जैसी हो जाती है। आपका शरीर केवल आपका ही नही है, समूचे सघ का है। इसकी सुरक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। हम नही चाहते कि खतरा मोल लेकर आप यहां से विहार करें। हम यह भी नही चाहते कि आचार्यवर के आदेश का अतिक्रमण हो। हमारी भावना है कि आप कोई गली निकाल ले (वहाना वना ले), जिससे आदेश की अवमानना भी न हो, विहार भी न हो, हमारी भावना को भी चोट न लगे।' युवाचार्य जीतमलजी ने उनकी वात ध्यान से सुनी। फिर संक्षिप्त उत्तर दिया। उन्होंने कहा—'गली वह निकालता है जो काम से जी चुराने वाला वेतनजीवी होता है। मैं अनुशासन को अपना धर्म मानता हूं, फिर गली क्यो निकालू।' सव मौन। प्रार्थना का प्रश्न ही

---

१. ते. आ. ग. २, पृ. ५८ [जयसुजश, ५।दो. १-४]।

नही रहा। मुनि भी विहार को तैयार हो गए। आषाढ शुक्ला द्वितीया को विहार हुआ। शुक्ला दसमी को बीकानेर पहुंच गए। नौ दिन की छोटी यात्रा, किन्तु प्राणलेवा यात्रा। एवं कसौटी थी अनुशासन की, भावी अनुशास्ता की और आचार्य भिक्षु के संविधान की। सब खरे उतरे। अनुशासन चिरजीवी हो गया। मुनि सरूपचंदजी को साथ ले युवाचार्य जीतमलजी ने बीदासर से प्रस्थान किया। पहला विहार लंबा था। धूप बहुत तेज। आहार कर चले, प्यास लगी। रास्ते में पानी कहा से आए। मरणात कष्ट का अनुभव हुआ।[1] महासत्त्व पुरुष जीवन में मृत्यु को निमंत्रित कर जीते है, इसलिए वे तेजस्विता का जीवन जीते है। जयाचार्य की तेजस्विता का रहस्य है—उनकी हिमालय जैसी अविचल सकल्प-शक्ति, परम अर्थ से अनुप्राणित समर्पण और अडिग आत्म-विश्वास।

जयाचार्य की विनम्रता ने पद को प्रभावी बनाया, किन्तु पद ने उनकी विनम्रशीलता को प्रभावित नही किया। वे आचार्य बनने के बाद भी उतने ही विनयशील, कृतज्ञ और श्रद्धानत थे जितने पहले थे। उनकी तर्कशक्ति, बौद्धिक विलक्षणता, तत्त्व को गहराई में पैठने वाली श्रद्धा को देख किसी श्रद्धालु ने कहा—आचार्यवर! आप आचार्य भिक्षु से भी आगे है। जयाचार्य हसे, सुन कर फूले नही। अपनी विनम्रशीलता को संजोकर बोले—तुम सचाई को नही जानते। सौ जीतमल इकट्ठे हो जाएं तो भी आचार्य भिक्षु के बाएं पैर की उंगली के नख की बराबरी नही कर सकते।

विद्यागुरु, दीक्षागुरु और आचार्य—इन तीनों का भिन्न-भिन्न होना और उन सबके प्रति अर्हता के अनुरूप श्रद्धाभाव रखना, किसी को भी श्रद्धा की कमी का अनुभव न होने देना, असिधार पर चलने जैसा व्रत है। मुनि जीतमल ने इस व्रत को बड़ी पटुता से निभाया।

सं० १८८९ का चातुर्मास-प्रवास उन्होने दिल्ली मे किया। वहा से प्रस्थान कर उन्होने गोगुदे (मेवाड़) में ऋषिराय के दर्शन किए। दिल्ली चातुर्मास का सारा विवरण ऋषिराय के चरणों मे प्रस्तुत किया। वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—जीतमल! अब हमे गुजरात की यात्रा करनी है। तुम भी हमारे साथ रहोगे। मुनि जीतमल ने कहा—जैसी आपकी

---

१ ते. आ ग्र. २, पृ. १०६-१० [जयसुजश ३१।१-१३]।

इच्छा। जो आपकी आज्ञा वही होगा, वैसे ही होगा। मेरी एक प्रार्थना है। दो वर्षो से मैं मुनि हेमराजजी के दर्शन नहीं कर सका। वे अभी मारवाड़ में है। यदि आप आज्ञा दें तो उनके दर्शन कर फिर श्रीचरणों में उपस्थित हो जाऊं। ऋषिराय ने स्वीकृति दे दी। मुनि जीतमल ने छह दिनों में सिरियारी (मारवाड़) पहुंच मुनि हेमराजजी के दर्शन किए। दस दिन उनकी सेवा में रहे। वहा से विहार कर मेवाड़ आए। वहा से गुजरात के लिए प्रस्थान किया।। गहन जंगल, दोनों ओर उन्नत पर्वत, पथरीली पगडंडियां, चारों ओर जंगली जानवरों की आवाजें। सात मुनि और दो गृहस्थ। उस आदिवासी प्रदेश में भीलों की झोंपडियो में विश्राम लेते-लेते वे एमनगर (?) में पहुंचे। वहां मुनि जीतमल ने मुनि मोतीजी से कहा—आप पांच मुनि धीमे-धीमे आ जाना। मै शीघ्रातिशीघ्र ऋषिराय के दर्शन करना चाहता हूं। वे मुनि कोदरजी को साथ ले सानद ऋषिराय के चरणो में उपस्थित हो गए।[1]

सं० १८८४ की घटना है। ऋषिराय मध्यप्रदेश की यात्रा कर रहे थे। मुनि जीतमल उनके साथ थे। वे झाबुआ के जंगल से गुजर रहे थे। झाड़-झंकाड़ से भरा भयावना प्रदेश। कहा जाता है—

झाड़ी बंको झाबुओ, वचन बंको कुशलेश।
हाडा गायड़ वांकड़ा, नरवंको मरुधर देश॥

चलते-चलते देखा, एक भयावनी आकृति आ रही है। निकट आने पर देखा, सामने से एक रीछ आ रहा है। मुनि जीतमल तत्काल ऋषिराय के आगे आकर खड़े हो गए। ऋषिराय ने कहा—हम चल ही रहे है, तुम आगे क्यों आए? पीछे चले जाओ। मुनि जीतमल ने कहा—यह नही हो सकता। आप संघ के आचार्य है। आपके शरीर की सुरक्षा करना हमारा धर्म है। आचार्य ने चाहा आगे मै रहूं और मुनिवर ने चाहा आगे मै रहूं। परस्पर आग्रह चलता रहा। न ऋषिराय भयभीत थे और न मुनि जीतमल। दोनों अभय। अभय की रश्मिया चारों ओर फैली। रीछ का हृदय भी उससे अभिभूत हो गया। वह रास्ते को पार कर जगल मे चला गया।

भक्ति, श्रद्धा, विनय और समर्पण—ये सब एक ही भाव-दीप की प्रकाश-रश्मियां है। मुनि जीतमल इन सबसे आलोकित हो रहे थे। उनमे

1. जे. आ. च. २, पृ. ८५,८६ [जयसुजश, १६।दो. १-७]।

भक्ति की रेखाएं वहुत प्रस्फुट थी। वे मुनि हेमराजजी के साथ विहार कर रहे थे। मुनि हेमराजजो जहां कही बाहर जाते, मुनि जीतमल उनके साथ जाते। मुनि जीतमल कुशल लिपिकार थे। वे ग्रंथों की प्रतिलिपिया और नव-निर्माण दोनों करते थे। अचानक पता चला—मुनि हेमराजजी वाहर जा रहे है। मुनि जीतमल उस समय प्रतिलिपिया कर रहे थे। जैसे ही पता चला, उन्होंने लिखना बन्द कर दिया। आधा अक्षर लिखा गया, आधा वीच में ही रह गया। यह स्थिति अनेक बार वन जाती। हार्दिक भक्ति और वहुमान जीवन का सर्वोपरि मूल्य होता है। जिसे यह उपलब्ध होता है उसके लिए जीवन की हर प्रवृत्ति अमूल्य बन जाती है। जीवन-मूल्यों को वहुमूल्य बनाने वाली सचाई से हम अपरिचित नही है, फिर भी हर आदमी इसका उपयोग इसलिए नही कर पाता कि समर्पण के आदान-प्रदान की अर्हता किसी विरल व्यक्ति को ही भाग्य-लिपि में अंकित होती है।

९

बहुआयामी व्यक्तित्व

जयाचार्य के व्यक्तित्व मे बुद्धि और अंतर्दृष्टि दोनो का अद्भुत योग था। बुद्धि दूसरे को प्रकाशित करती है। स्वयं अंधेरे में रहने वाला दूसरे को कैसे प्रकाशित करेगा ? अंतर्दृष्टि अपने-आप को प्रकाशित करती है। स्वयं प्रकाशित होकर भी जो दूसरे का अंधेरा नही मिटाता, उसका जनहित के पक्ष में कैसे मूल्य होगा ? मूल्य उस व्यक्ति का होता है जो स्वयं प्रकाशी होकर दूसरों को प्रकाशित करता है। यह कार्य वही कर सकता है, जो बुद्धि और अतर्दृष्टि—दोनो से संपन्न होता है।

जयाचार्य दीक्षित होने के पश्चात् दस वर्ष तक मुनि हेमराजजी के साथ रहे। सं० १८८१ की पौष शुक्ला तृतीया को ऋषिराय ने उन्हे अग्रणी (सिंघाडा-पति) बना दिया।[1] उस समय उनकी अवस्था इकीस वर्ष की थी। अग्रणी आचार्य का प्रतिनिधि होकर जनपद-विहार करता है। उसके साथ सहयोगी साधु रहते है। ऋषिराय ने मुनि जीतमल को तीन सहयोगी साधु दिये। इसी प्रसंग में मघवागणी ने अग्रणी की कसौटिया प्रस्तुत की है। अग्रणी का पद दायित्वपूर्ण होता है। इसलिए वही व्यक्ति अग्रणी बनाया जाता है, जिसमें दायित्व को निभाने योग्य विशेषताएं होती है। मुनि जीतमल ने विनय, विवेक, विद्या, बुद्धि, धृति, पराक्रम और गभीरता—इन विशेषताओं के आधार पर अग्रणी पद प्राप्त किया।[2]

मेवाड़ राजस्थान का पर्वतीय प्रदेश है। अरावली पर्वत की शृखला से जुड़ा हुआ वह प्रदेश जितना नयनाभिराम है, उतना ही शौर्य-वीर्य का

१. ते. आ. ग्रं. २, पृ. ६५ [जयसुजश, ८।१०-१२]
२. ते. आ. ग्रं. २, पृ. ६५ [जयसुजश, ८।११]

प्रतीक है। उसका इतिहास स्वतन्त्रता की गाथा का इतिहास है। मुनि जीतमल के यशस्वी जीवन का पहला पृष्ठ मेवाड़-यात्रा है। वे मुनि हेमराज-जी के साथ मेवाड़-यात्रा कर चुके थे। यह अग्रणी के रूप में उनकी स्वतत्र यात्रा थी। इस यात्रा मे उन्होने अनेक दिशाओ मे अनेक कार्य सम्पादित किए।

ग्रन्थ-संपदा का विकास

नाथद्वारा वैष्णवों का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। वहा नन्दराजजी नामक जैन मुनि थे। मुनि जीतमल ने उसके साथ धर्म-चर्चा की। यतिजी ने अपने संदेह उनके सामने रखे। मुनिवर ने उनका समाधान किया। यतिजी ने प्रसन्न होकर कहा—आप मेरे उपाश्रय में पधारे। मुनिवर उनके अनुरोध पर वहा गये। यतिजी ने हस्तलिखित ग्रंथ उनके सामने रखे। उस समय यतियो के पास वड़े-वड़े ज्ञान-भण्डार थे। उनमें अनेक ग्रन्थ उपलब्ध थे। यतिजी ने कहा—ज्ञातासूत्र की प्रति के अतिरिक्त आप जो ग्रन्थ चाहें वह ले। मुनिवर ने भगवती वृत्ति, अनुयोगद्वार, दीपिका सहित उत्तराध्ययन आदि अनेक ग्रन्थ लिए।[1] नाथद्वारा से आप उदयपुर गये। वहा केसरजी भण्डारी के पास कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ थे। उस समय मुद्रित पुस्तके वहुत कम मिलती थी। अधिकाशतया हस्तलिखित ग्रन्थ ही उपयोग मे आते थे। मुनिवर ग्रन्थ-सग्रह के प्रति वहुत जागरूक थे। आचार्य भिक्षु से अव तक संघ में ग्रन्थो की कमी चल रही थी। मुनिवर सघ को ग्रन्थ-संपन्न वनाना चाहते थे। इस दिशा मे उन्होंने अनेक प्रयत्न किये। भण्डारीजो के ज्ञान-भण्डार से आपने दीपिका सहित सूत्रकृताग और सटीक कर्मग्रन्थ लिए।[2]

सं० १८९० की वात है। ऋपिराय काठा (मारवाड और मेवाड़ का सधि-स्थल) मे विराज रहे थे। मुनिवर जीतमल ने वहा ऋपिराय के दर्शन किये। ऋपिराय के मन मे चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र पढ़ने की इच्छा थी। आचार्य-वर ने कहा—जयपुर के मालीरामजी लूणिया के पास चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र की प्रति है। यदि कोई वहां से ले आये, तो उसकी प्रतिलिपि करा ले।

---

१. ते आ घ २, पृ, ६७ [जयनुजस, ८। ११-१४]।
२. ते. आ. घ. २, पृ ६७ [जयनुजस, ८। १६-१७]।

तपस्वी कोदरजी ने ऋषिराय से प्रार्थना की—यदि आप मुझे मुनि जीतमलजी के साथ छठे सहयोगी के रूप में भेजें, तो मैं जयपुर से वह प्रति ला सकता हूं। ऋषिराय ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे अकेले जयपुर जा चन्द्रप्रज्ञप्ति की प्रति ले आए।[1]

वक्तृत्व और तत्व-चर्चा

मुनि जीतमल जितने गम्भीर ज्ञानी थे, उतने ही कुशल प्रवक्ता थे। कुछ लोग ज्ञानी होते हैं, प्रवक्ता नहीं होते। कुछ प्रवक्ता होते हैं, ज्ञानी नहीं होते। ज्ञानी और प्रवक्ता का मणिकांचन योग विरल ही मिलता है। मुनिवर के वक्तृत्व से मेवाड़ की जनता मंत्र-मुग्ध हो गई। वे जहां जाते वहीं जनता बड़ी संख्या में एकत्र हो जाती। मेवाड़ की जनता का उल्लास देखकर स्वयं मुनिवर को भी आश्चर्य हुआ।[2]

सं १८८२ का चातुर्मास प्रवास उदयपुर में हुआ। मेवाड़ के महाराणा स्वतन्त्रता की ज्योति को जलाए हुए थे। वे सभी धर्मों का सम्मान करते थे, पर मनुष्य आखिर मनुष्य है। कभी-कभी वह कुविचार से प्रेरित हो अकरणीय कार्य कर लेता है। महाराणा भीमसिंहजी के मस्तिष्क में कुछ कट्टर साम्प्रदायिक लोगों ने एक कुविचार संक्रान्त कर दिया। विचार परिस्थिति और चिंतन से पैदा भी होता है और उसका संक्रमण भी होता है। शासक दूसरों पर अधिक निर्भर होता है। महाराणा के आसपास रहने वाले लोगों ने पर-निर्भरता की प्रवृत्ति का लाभ उठा महाराणा से कहा—तेरापंथी सन्त भारमलजी यहां आए हुए है। वे जहा जाते हैं वहां वर्पा नही होती, अकाल पडता है। वे दया-दान के विरोधी हैं। महाराणा इस कुविचार से प्रभावित हो गये। उन्होने आचार्य भारीमलजी को उदयपुर छोड़ने का आदेश दे दिया। भारमलजी स्वामी वहां से प्रस्थान कर राजनगर की ओर पधार गए। पीछे घटनाचक्र वड़ी तेजी से घूमा। महाराणा को अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ा। फिर एक सुविचार की प्रेरणा मिली। उन्होंने भण्डारी केशरजी से प्रेरणा पा आचार्य भारमलजी को

---

१. ते. आ. प. २ पृ ८८ [जयसुजश २० । ५-७] ।
२. ते. आ० ख. २, पृ. ६६-६७ [जयसुजश ६।५-१०] ।

दो प्रार्थना पत्र भेजे ।[1] उनमें उदयपुर पधारने की अभ्यर्थना थी। आचार्यवर के मन में न रोष था और न तोष। वे अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित थे। लोगों ने प्रार्थना की—अब आप उदयपुर पधारें। आचार्यवर ने कहा—मेरी अवस्था वृद्ध है। अभी-अभी उदयपुर की घाटियों के नुकीले पत्थरों को रौंदता हुआ आया हूं। अब वापस वहां जाने की मेरे मन में कोई प्रेरणा नहीं है। यदि तुम लोग चाहो तो मैं साधुओं को भेज सकता हूं। उन्होंने साधुओं को भेजने की प्रार्थना की। आचार्यवर ने मुनि हेमराजजी को तेरह साधुओं के साथ उदयपुर भेजा। ऋषिराय और मुनि जीतमल—ये दोनों उनके साथ थे। महाराणा की सवारी (शोभायात्रा) निकली। सन्तों का प्रवास-स्थान रास्ते में था। महाराणा ने हाथ जोड़ वन्दना की और कहा—भले पधारे, भले पधारे। उनके मन में उल्लास झलक रहा था। महाराणा जब-जब उस रास्ते से निकलते तब-तब वन्दना करते। उनके उत्तराधिकारी जवानसिंहजी वन्दना नहीं करते। मुनि हेमराजजी एक साल तक उदयपुर में रहे। उस अवधि में महाराणा ने ग्यारह बार सन्तों से तत्त्व-चर्चा की।[2] सं० १८८२ मुनि जीतमलजी ने अग्रणी अवस्था में उदयपुर चातुर्मास किया। कुंवर जवानसिंहजी भी मुनिवर से बहुत प्रभावित हुए। वे भी वन्दना करने लगे।

---

१ पहला पत्र—

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री साध श्री भारमलजी तेरेपथी साध थी राणा भीम सिघ री विनती मालूम हे। कपा करे अठे पधारोगा। की दुष्ठ वे दुष्टाणो कीदो जी सामु न्हो देखेगा। मा सामु वा नगर मे प्रजा है ज्यारी दया कर जेज नही करेगा। वती काही लपु। आर स्माचार स्हा स्वलाल का लष्या जाणेगा। सवत १८७५ वर्षे अषाढ़ बीद तीज शुक्रे।

दूसरा पत्र—

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्रीनाथजी

स्वस्ती श्री तेरापन्थी साध श्री भारमलजी सु म्हारी उण्डोत वचे। अत्र आप अठे पदारसो जमा पात सु। आगे ही रुको दियो हो नो अबे वेगा पधारेगा। सवत् १८७६ वर्षे पोष बीद ११। वेगा आवेगा। श्री जी रो राज है सो सारा को सीर है, जी थी सन्देह काहि वी न्हो लावोगा।

२. प्रकीर्णपत्र, संख्या २८।

एक दिन महाराणा भीमसिंहजी सवारी के साथ जा रहे थे। मुनिवर को देखा, तत्काल वन्दना की और उनके पास आकर बैठ गये। उस दिन महाराणा किसी अज्ञात चिता से घिरे हुए थे, आन्तरिक वेदना उन्हे चंचल बना रही थी। वे खिन्नता के स्वर मे बोले—यह राजसी, वैभव और सम्पदा पवन की लहर है। आपके पास अध्यात्म की महान् सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति को प्राप्त करने वाला सभी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। मुनिवर ने उनके सामने आध्यात्मिक प्रवचन किया। महाराणा की चिता आनन्द में बदल गई। महाराणा भीमसिंहजी का मुनि जीतमल के प्रति श्रद्धा-भाव निर्मित हो गया था। उन्हें मुनिवर के साथ तत्व-चर्चा करने में बड़े आनन्द का अनुभव होता था। उन्हें सवारी के साथ घूमने का आकर्षण था। वे बहुत बार साज-सज्जा के साथ नगर के विभिन्न भागों में यात्रा करते रहते थे। एक बार बहुत दिनों के बाद नगर की यात्रा में निकले। सूर्यपोल का रास्ता यात्रा के लिए निश्चित था। वह मार्ग मुनि जीतमल के प्रवास-स्थान से कुछ दूर था। यात्रा-दल सूर्यपोल के पास पहुंच गया। महाराणा ने अपने पूरे दल को वहां रोक दिया। वे स्वयं घोड़े पर सवार हो, कुछ लोगों को साथ ले, मुनिवर के पास पहुंचे। मुनिवर को वन्दना कर फिर अपने दल के साथ चले गए।[1]

सं० १९१२ की घटना है। जयाचार्य ने उदयपुर में चातुर्मास-प्रवास किया। उस समय वहां महाराणा सरूपसिहजी शासन कर रहे थे। महाराणा भीमसिहजी से लेकर अब तक जयाचार्य के साथ तत्व-चर्चा का सम्पर्क बना हुआ था। महाराणा ने मोखजी खिवेसरा के द्वारा जयाचार्य से कुछ प्रश्न पूछे। आचार्यवर ने उनके उत्तर दिए। वे प्रश्न और उत्तर आज उपलब्ध नही है। जयाचार्य द्वारा प्रदत्त उत्तरों को सुन महाराणा के मन में धर्म के प्रति प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न हो गई।[2]

चातुर्मास सम्पन्न हो रहा था। विहार की तैयारी थी। जयाचार्य ने मोखजी से कहा—कल हमारा विहार हो रहा है। रास्ते मे महाराणा का

---

१ (क) ते आ. ख्र २, पृ ७९-८० [जयसुजश, १०।७-२१]।
(ख) ते आ ख २. पृ ६२ [जयसुजश, ७।१-४]।
(ग) ते. आ ख. २, १२६ [जयसुजश, ३९।१६]।
२ ते आ. ख. २, पृ०. २३४ [जयसुजश, ४३।७-१६]।

हाथियों को युद्ध-कला सिखाने का दीवानखाना है। वहां हम एक रात रहना चाहते है। तुम महाराणा की इच्छा जान लेना। मोखजी ने जयाचार्य की भावना महाराणा के सामने रखी। महाराणा ने कहा—मुझे पूछने की क्या जरूरत है। एक रात ही क्यों ? आचार्यवर चाहे तो वहा एक मास रहे। केवल अभी ही नही, वे जव कभी यहां आएं और वहां रहना चाहें तो सुख से रहे। मेरी सदा के लिए स्वीकृति है। महाराणा ने मोखजी से कहा कल प्रातः अविलम्ब तुम मेरे पास आ जाना। 'जो आज्ञा' कहकर मोखजी वहां से चले और जयाचार्य के पास आ उन्होने सारी वात वता दी।

दूसरे दिन सूर्योदय होते-होते मोखजी महाराणा के पास पहुचे। महाराणा ने कहा—आचार्यवर आज विहार कर रहे है। तुम आचार्यवर के पास मेरी ओर से जाओ और उनके चरणों मे मेरी चार वाते रखो -

१. महाराणा ने आपके चरणो में दंडवत् कहलाया है।

२. आप कृपा कर उदयपुर फिर शीघ्र आना।

३. मुझ पर कृपा वनाए रखना।

४. आपकी कृपा से हमारे यहा सव कुछ ठीक है।

मोखजी महाराणा से विदा ले जयाचार्य के पास पहुंचे। महाराणा ने जो कहलाया वह जयाचार्य के चरणों मे रख दिया। जयाचार्य ने और उपस्थित सभी साधु-साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओं ने महाराणा की भावना पर प्रसन्नता प्रगट की।[1]।

आचार्यवर मेवाड़ के अनेक गावों में घूमे। कुछ दिनों वाद गोगून्दा पधारे। महाराणा को इसका पता चला। मोखजी दर्शन करने गोगून्दा जा रहे थे। महाराणा ने उनके साथ कहलवाया—'आचार्यवर ! आप गोगून्दा पधार गए है, तव फिर उदयपुर ने कौन-सी चोरी की है ? यहा आप क्यो नही पधार रहे है ? मेरी प्रार्थना है। यहा अवश्य पधारे[2]।

आचार्यवर ने महाराणा की भावना का मूल्यांकन करते हुए मोखजी से कहा—अभी इतना जल्दी फिर उदयपुर जाना सभव नही है, तुम महाराणा को वता देना।

---

१ ते. आ. ध २, पृ. १३८-१३५ [जयसुजस ८३।१७,१८ कलश-३]।
२ ते. आ ध २, पृ० १३६ [जयसुजस ४३।२०-३१]।

जयाचार्य ने जीवन की संध्या के दो चातुर्मास जयपुर में किये। जयपुर नरेश रामसिंहजी की तत्व-चर्चा में रुचि थी। तत्व-चर्चा में रुचि रखने वाले व्यक्ति जयाचार्य के पास अनायास पहुंच जाते। उस समय के राजे-महाराजे जनता की प्रतिक्रिया जानने के लिए रात के समय वेष वदल कर नगर में घूमा करते थे। महाराजा रामसिंहजी नगर की परिक्रमा करते समय जयाचार्य की सेवा में उपस्थित हो जाते। एक वार लाला भैरूलालजी के नौकर ने महाराजा को पहचान लिया। उसने लालाजी के सामने यह बात रखी। कुछ दिनों बाद फिर महाराजा जयाचार्य के पास आए। लालाजी को जयपुर नरेश के आने का पता चला। वे भेंट लेकर दरवाजे पर खड़े हो गए। महाराजा जाने लगे तब लालाजी ने उनका अभिवादन किया और उपहार देने के लिए हाथ आगे बढ़ाया। महाराजा ने कहा—'यह उपहार लेने का समय नही है। यहां मैं आचार्यवर के दर्शन करने आया हूं। यह मेरी तीर्थ-यात्रा है। यहां लेने की नहीं, देने की बात हो सकती है। दिन में आने में अनेक कठिनाइयां होती है, इसलिए मैं रात्रि के समय एकांत में आचार्यवर के पास आ जाता हूं और तत्व-चर्चा कर समाधान पा लेता हूं। लालाजी! उपहार की वात छोड़ो। रात्रि के समय मेरे यहां आने का पता भी दूसरों को नहीं लगना चाहिए।' यह निर्देश दे महाराजा वहां से चले गए।

जयाचार्य लूणिया के वाग से जयपुर के वाजार में आ रहे थे। मार्ग में एक पादरी मिला। उसका नाम था वाल्टेन। आचार्यवर से वह वहुत प्रभावित हुआ। उसने कहा—मैं आपके स्थान पर आऊंगा। वह कुछ दिनों वाद आचार्यवर के पास आया। लम्बे समय तक तत्व-चर्चा की। आचार्यवर का तात्विक विश्लेपण सुन उसे वहुत आश्चर्य हुआ।[1] महाराणा सरूपसिंहजी, महाराज रामसिंहजी और पादरी वाल्टेन के साथ तत्व-चर्चा के उल्लेख मिलते है, पर उसका पूरा विवरण नही मिलता।

सं० १९२८ का चातुर्मास-प्रवास जयपुर में था। वहा एक सेठ था अनंतराम दीवान। उसके पुत्र का नाम था वगतावरमल। उसका वड़ा पुत्र जल में डूवकर मर गया। सेठ अनंतराम अपने पौत्र की मृत्यु से वहुत दुःखी

---

१. ते आ. च. २, पृ. १६४-१६५ [जयसुजश, ५४।२८, यतनी ३,४]।

हो गया। उसका चिन्ताकुल मन पंखविहीन पंखी की भांति रात-दिन छटपटाता रहता। वह जयाचार्य की गौरव-गाथा से परिचित था। उसने सोचा, इस समय जयाचार्य हमारे शोक-संतप्त परिवार को सांत्वना दे सकते हैं। यह सोच उसने जयाचार्य के पास अपना आदमी भेज दर्शन देने के लिए प्रार्थना कराई। जयाचार्य उसकी प्रार्थना स्वीकार कर वहां पधारे। उसके परिवार के सामने वैराग्य-रस से पूरित प्रवचन किया। मोहजीत के लेखक[1] ने मोह में फंसे हुए सेठ और उसके परिवार को मोहजयी वना दिया। काल के पंजे से कोई नही छूटता, पर जो मोहजयी हो जाता है वह सहज ही कालजयी बन जाता है। आचार्यवर की वाणी ने सेठ को शोक के समंदर से निकाल परमानंद के सागर तट पर ला खड़ा किया। छह वार के सत्संग में सेठ का मानस विलकुल वदल गया। अव सेठ पक्का भक्त वन गया। उसने प्रार्थना की आप एक मास तक यही विराजे। आचार्यवर ने कहा—चातुर्मास संपन्न हो रहा है। अव हम यहा एक मास तक नही रह सकते। सेठ प्रार्थना के स्वर मे वोला—एक मास आप घाट पर मेरे वाग में रहें। एक मास सरदारमलजी लूणियां के वाग में रहे। दो मास तक शहर के वाहर प्रवास कर फिर शहर में पधारें और एक मास तक मेरी हवेली मे रहें। आचार्यवर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। द्विमासीय उद्यान-प्रवास के वाद सेठ की नई हवेली मे पधार गए। साध्विया उसकी पुरानी हवेली में ठहरी। मर्यादा-महोत्सव का आयोजन वही हुआ। जयाचार्य ने कुछ दिन वहां ठहर कर लाला भैरूलालजी की हवेली में ठहरने की वात सोची। पुस्तक-पन्ने वहां भेज दिए। सेठ को इस वात का पता चला। उसने अत्यंत आग्रहपूर्वक प्रार्थना की—आचार्यवर ! एक मास तक आप तो मेरे घर ही विराजे। मै आपको यहां से जाने नही दूंगा। आचार्यवर ने कहा—यहां कुछ असुविधाएं है। साधुओं को गोचरी के लिए वहुत दूर जाना होता है, शौच का स्थान भी दूर है, इसलिए हम लालाजी के भवन मे जाना चाहते है। सेठ ने कहा—सव ठीक है। आपको असुविधा हो रही है, फिर भी मैं आपको यहा से जाने नही दूगा। आपको मुझ पर कृपा करनी होगी। आप जाएंगे कैसे ? मै दरवाजे पर लेट जाऊंगा। आप मेरी छाती पर पैर रखकर ही

---

१. 'मोहजीत'—जयाचार्य की एक कृति।

जा सकते है। सेठ ने प्रार्थना करते-करते युवाचार्य मघवा के पैर पकड लिए। उनसे आग्रह किया—आपको मेरी भावना पूरी करनी ही होगी। पगड़ी एक ओर रखी हुई है, आंखों में आसू बरस रहे है, युवाचार्य के पैर दृढ़ता से पकड़े हुए है। सेठ की प्रार्थना सुन, उसकी मन.स्थिति को देख जयाचार्य का अंतःकरण अनुकपा से भर गया। आचार्यवर ने उस समय एक गाथा का उच्चारण किया—

'म्है तो श्रावक घणां देखियाए, ओ हठ नै ओ फोड।
कठैइ दीठो नहीं ए, दीठो इणहिज ठोड़ ॥'[1]

जिन्हें आग नही पिघाल सकती, उन्हें आसू पिघाल देते है। आचार्यवर का अंतःकरण पिघला। उन्होंने एक मास पूरा विताने की स्वीकृति दे दी। मर्यादा-महोत्सव वही हुआ। पूरा माघ का महीना वही वीता। फाल्गुन कृष्णा एकम को आचार्यवर ने वहां से प्रस्थान की तैयारी की। सेठ अपने लवाजमे के साथ आचार्यवर की सेवा में उपस्थित हुआ। आचार्यवर ने कहा—'आसा', घोटा, छड़ी ये सब ऐश्वर्य के चिन्ह है। ये हमारे साथ क्यों ? सेठ ने कहा—ये आपके साथ नही है। आपके साथ मैं हू और ये मेरे साथ है।

एक मुनि ने सेठ को गुरु-दीक्षा की प्रेरणा दी। सेठ ने कहा—ये मेरे गुरु के गुरु है, फिर गुरु-दीक्षा कहा बची है ? मुनि ने कहा—चादी बहुत अच्छी है, पर मुद्रा के विना रुपया नही बनता। सेठ ने मुनि के तर्क को स्वीकार किया और जयाचार्य से गुरु-दीक्षा ले ली।[2]

जिसे आकाश को छूना है, उसे पाताल को छूना होगा। व्यक्तित्व का विकास ऊंचाई और गहराई दोनो आयामो मे होता है, तभी वह महान् वनता है। गहराई के विना ऊचाई आ नही पाती। आती है तो वह टिक नहीं पाती। मुनि जीतमल मे साधना की गहराई और तत्व-ज्ञान की ऊंचाई—दोनों विद्यमान थीं। उनकी तात्विक दृष्टि से प्रकाश-रश्मिया विकीर्ण होती थीं। हजारों-हजारो लोगो को उनसे आलोक मिलता था। उनके पास तत्व-जिज्ञासु लोग आते रहते थे।

सं० १८८८ का चातुर्मास-प्रवास वीकानेर में था। वहा हरियाणा के दो भाई पहुचे—मोमनलाल और गुलहजारी। उस समय जयाचार्य मुनि

1 यह गाथा आषाढभूति के व्याख्यान की है।
2 जै. आ म २, पृ १६५ [जयसुजश, ५८।१७-३८]।

अवस्था में थे। उन्होंने मुनि जीतमल से दिल्ली शहर में आने की प्रार्थना की। मुनिवर का मन उनकी प्रार्थना की ओर आकर्षित हो गया। दिल्ली-जाने के लिए आचार्यवर ऋषिराय से आदेश प्राप्त करना जरूरी था। मुनि कोदरजी का जंघा-वल अद्‌भुत था। वे वहुत लम्वे-लम्वे विहार कर लेते थे। उन्हे आचार्यवर के पास मेवाड भेजा। मुनिवर वीकानेर से विसाऊ पहुंचे, तव तक तपस्वी मुनि कोदरजी मेवाड़ में जा आचार्यवर से दिल्ली-यात्रा का आदेश ले मुनिवर के पास पहुंच गए।

मुनिवर राजगढ़ पहुंचे। वहां कालवादी सम्प्रदाय का एक अनुयायी था। उसका नाम था वालकराम। वह अपने सम्प्रदाय का मर्मज्ञ था। मुनिवर से उसने अनेक वार तत्व-चर्चा की और उसे समाधान मिला।

मुनिवर राजगढ से प्रस्थान कर ऊमरा, हासी, भिवानी, दादरी होते हुए दिल्ली के परिसर में पहुचे। दिल्ली शहर से दो मील दूर पहाड़ी गाव में ठहरे। आज वही पहाड़ी गाव पुरानी दिल्ली का एक भाग वना हुआ है। उसका नाम है पहाड़ी धीरज। वहा मुनिवर तीन दिन रहे।

सं० १८८१ में मुनिवर मुनि हेमराजजी के साथ जयपुर मे चातुर्मास-प्रवास कर रहे थे। उस समय कृष्णचंदजी माहेश्वरी और चतुर्भुजजी ओसवाल दिल्ली से जयपुर आए। दोनो स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने मुनिवर से अनेक प्रश्न पूछे। उनका समाधान पा उन्होने मुनि हेमराजजी से गुरु-दीक्षा ली। वे दिल्ली लौट गए। कुछ वर्षो तक वे इस अवधारणा मे स्थिर रहे। फिर मूर्ति-पूजा में विश्वास करने वाले किशनचंद-जी ने उनका विचार वदल दिया। विचार गतिशील होता है, इसलिए उसके स्थायित्व को संभव नही माना जा सकता। वे दोनों मूर्ति-पूजा में विश्वास करने लगे। उनका विचार वदल गया, विश्वास वदल गया, पर मुनिवर के प्रति उनका धर्मानुराग नही वदला। कृष्णचंद माहेश्वरी चौथे दिन प्रभात के समय पहाड़ी गांव पहुंचा। उसने अपने वदल जाने को छिपाया नहीं। न हाथ झुकाए और न वंदना की। दोनो हाथो को समरेखा मे कर वोला—जिस दिन आपके दर्शन किए, उसी दिन से आपकी सूरत मेरे हृदय मे वसी हुई है। यह कहते-कहते उसकी आखे प्रफुल्ल हो गई। मुख विकस्वर हो गया। उसने कहा—अव आप शहर मे पधारें। मुनिवर ने जिज्ञासा की—ठहरने को स्थान कहा मिलेगा? हम यहा पहली वार आ रहे है। हमारे

संघ का कोई भी यहां पहले नहीं आया है। हमारे लिए यहां सव कुछ नया-नया है। क्या स्थान मिल जाएगा ? उसने कहा—स्थान की क्या कमी है। बहुत स्थान मिलेंगे। आप पधारने की कृपा करे। मुनिवर शहर में पधारे। कृष्णचंदजी और उनके कुछ साथी साथ में थे। वाजार में एक दुकान पर रहने का स्थान दिखाया। उसके पास वाले मकान में वेश्याएं रहती थीं, इसलिए मुनिवर ने वहां रहना अस्वीकार कर दिया। दूसरा स्थान दिखाया, वह भी अनुकूल नही लगा। तीसरा स्थान रोशनपुरा में दिखाया। वह था गंगाराम कश्मीरी का भवन—लम्वा-चौड़ा और रमणीय स्थान। वहा मुनिवर ठहरे। कृष्णचंद माहेश्वरी प्रतिदिन प्रातःकालीन प्रवचन सुनता था। उसने कहा—आपके और मेरे विचार अव भिन्न हैं। फिर भी आप बड़े तत्ववेत्ता हैं, तत्व के गूढ़ रहस्य के मर्मज्ञ हैं, इसलिए मै प्रतिदिन आपके पास आता हूं और आपका प्रवचन सुनता हूं। किशनचंद ओसवाल ने सोचा—कृष्णचंद फिर जयाचार्य के प्रभाव में चला न जाए। उसने कृष्णचंद की सुरक्षा के लिए तत्व-चर्चा शुरू की। कुछ दिनों तक वह बरावर चलती रही। इस विषय में चर्चा के कुछ विषयों का मघवागणी ने 'जयसुजश' में उल्लेख किया है।[1] मुनि जीतमल तत्ववेत्ता और नीतिविद् दोनो थे। मुनिवर ने देखा, किशनचंद और कृष्णचंद इन दोनों में वहुत गहरा सम्वन्ध है। यह संबंध धार्मिक अवधारणा से जुड़ा हुआ है। धार्मिक अवधारणा में अन्तर आए विना यह संबंध कम नही होगा और संबंध कम हुए विना कृष्णचंद की दृष्टि सम्यक् नही होगी। तत्व-चर्चा का विषय था—मिथ्यादृष्टि की धर्माराधना। आचार्यवर ने कहा—मिथ्यादृष्टि के शील, संतोष, दया, क्षमा—ये गुण मोक्ष की सीमा में हैं। किशनचंद वोला—ये गुण अच्छे हैं, पर मिथ्यादृष्टि के हैं, इसलिए अच्छे नही है। खीर अच्छी होती है, पर भंगी की खीर कौन खाना चाहेगा ? मुनिवर ने कहा—भंगी की खीर मत कहो। यह भंगी का रुपया है, जो कहीं भी नही अटकता, सव लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं। कृष्णचंद माहेश्री के मन मे यह वात वैठ गई। उसका किशनचंद से विचार-भेद हो गया, सम्वन्ध भी कम हो गया। मुनिवर के प्रति उसका अनुराग वढ़ गया। दिल्ली चातुर्मास सम्पन्न होने पर मुनिवर के पास मुनि-

---

१. हे. आ. प. २, पृ. ७६-८२ [जयसुजश, ढा० १६-१७]।

दीक्षा स्वीकार कर वह उनका अंतेवासी हो गया।[1]

दिल्ली में स्थानकवासी संप्रदाय का एक प्रमुख श्रावक था। उसका नाम था खंडेराम। वह व्याख्यान सुनने आता था। उसने एक तत्व-चर्चा प्रारम्भ की। अन्य अनेक लोग उस चर्चा में रस ले रहे थे। उसने कहा—मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के दो ध्यान होते है—आर्त्त और रौद्र। वह धर्मध्यान का अधिकारी नही होता। मुनिवर ने कहा—वह धर्मध्यान का अधिकारी होता है। दो ध्यान और तीन ध्यान की चर्चा जनता में काफी प्रसिद्ध हो गई। उसने तीन ध्यान का प्रमाण चाहा। मुनिवर ने भगवती सूत्र का 'अश्रुत्वा' अधिकार दिखाया। उससे वड़ा संवल मिला, अनेक लोगों को सम्यग्दृष्टि मिली। मुनिवर का संप्रदायातीत धर्म का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक लोगों के दिल को छू गया।[2]

मुनिवर चातुर्मासिक प्रवास सम्पन्न कर मेवाड़ पहुंचे। वहां आचायवर ऋषिराय के दर्शन कर दिल्ली प्रवास के संस्मरण सुनाए। आचार्यवर वहुत प्रसन्न हुए। उनके मन में मुनि जीतमल का स्थान और अधिक गहरा हो गया।[3]

मुनिवर जीतमल अग्रणी अवस्था में विहार करते-करते लाडनूं पहुचे। वहां के लोगों ने मुनिवर के सामने तात्विक जिज्ञासाएं प्रस्तुत की। मुनिवर ने उनका समाधान दिया। उससे वे वहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—यदि आप चातुर्मासिक प्रवास यहां विताएं तो हम आपके पथ-दर्शन में चलने का सकल्प स्वीकार कर लेगे। मुनिवर ने उन्हे अपना संघीय अनुशासन वताया। चातुर्मासिक प्रवास का निर्णय हम नही कर सकते। उसका निर्णय हमारे आचार्य करेगे। हमें जहा आदेश होगा, वही हम चातुर्मास विताएंगे। इसलिए मै आपके अनुरोध को स्वीकार करने में असमर्थ हूं। यदि आचार्यवर का मुझे यहां चातुर्मास विताने का आदेश मिल जाएगा तो मैं यहां चातुर्मास-प्रवास कर दूंगा। मुनिवर का अनुकूल उत्तर पा सव लोग संतुप्ट हो गए। उन्होंने मुनिवर के पथ-दर्शन को स्वीकार कर आचार्य ऋषिराय की गुरु-दीक्षा स्वीकार कर ली। वे पहले आचार्य भिक्षु के संघ से

---

१. जे. आ. ध. २, पृ. ८४ [जयसुजश, १८।१७-२०]।
२. जे. आ. ध. २, पृ. ८३-८४ [जयसुजश, १८।४-१८]।
३. जे. आ. ध. २, पृ. ८८-८५ [जयसुजश, १६।१-४]।

पृथक्भूत मुनि चन्द्रभाणजी का अनुगमन कर रहे थे। उन लोगों में लालचंदजी पाटणी प्रमुख थे। मुनिवर के प्रभाव से लाडनूं हमारे धर्मसंघ का एक शक्तिशाली केन्द्र बन गया।[1] वहा सवा सौ वर्ष से वृद्ध साध्वियों के लिए सेवा-केन्द्र बना हुआ है। मेरी जन्म-भूमि है। वही जैन विश्व भारती का मुख्य कार्यालय और पारमार्थिक शिक्षण संस्था का आवास है। वही साधु-साध्वियों और समण-समणियों के अध्ययन की व्यवस्था हैं। इस विकास के वटवृक्ष का बीज-वपन मुनि जीतमल ने किया था। तेरापंथ धर्म-सघ के विकास और विस्तार में जयाचार्य का महत्वपूर्ण योगदान है। मुनि, युवाचार्य और आचार्य—इन तीनों अवस्थाओं में वे संघ का नेतृत्व कर रहे प्रतीत होते हैं।

कुचामन के दो प्रसंग

सं० १९०७ की घटना है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में पद-विहार कर रहे थे। वे कुचामन पधारे। वहां के सरावगी भाई युवाचार्य श्री के पास आए। युवाचार्यवर तत्त्वज्ञ के रूप में ख्याति पा चुके थे, इसलिए वे जहा कही जाते वहां तत्त्व-चर्चा के प्रसंग उपलब्ध हो जाते। सरावगी भाइयो ने प्रश्न उपस्थित किया—आप महाजनो के सिवाय दूसरी जातियों के घरो से भिक्षा लेते है, यह उचित नही है। युवाचार्यवर ने कहा—हम ओसवालो के घरों से भिक्षा लेते है। उनके घरो मे अनेक जाति के स्त्री-पुरुष रसोई वनाने का काम करते है। इस दृष्टि से हमें ओसवालों के घरों से भी भिक्षा नही लेनी चाहिए।

आप लोग लाडनूं, सुजानगढ़ के सरावगियो के साथ वैवाहिक संवंध करते है। उनके घरो से वेटिया लाते है और उन्हे वेटिया देते है। वे सरावगी ओसवालो के साथ भोजन करते है। उनकी वेटियां अनेक जाति के रसोइयों द्वारा वनाई हुई रसोई खाती है और वे ही तुम्हारे घरों मे आती हैं। वे तुम्हारे यहां अन्य जाति के लोगों द्वारा वनाई हुई रसोई नही खाती, अपने पीहर जाती हैं तव वैसा भोजन खाती है। तुम उनके साथ भोजन करते हो, फिर वह अलगाव कहां रहा? कैसे रहा? प्रश्नकर्त्ता सव मौन थे।[2]

सभी लोग तत्त्व-जिज्ञासु नही होते। कुछ व्यक्ति जय-पराजय की

---

१. ते आ घ. २, पृ. ९० [जयसुजश, २१।१-४]।
२. ते. आ ख २, पृ. ११४,११५ [जयसुजश, ३८।दो १-३।गा. १-७]।

भावना से भी तत्त्व-चर्चा करते है और कुछ व्यक्ति तत्त्वज्ञ को उलझाने के लिए भी तत्त्व-चर्चा मे रस लेते है। तत्त्ववेत्ता को इन सभी समस्याओ का सामना करना होता है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में कुचामन पधारे। वहा प्रसिद्ध सेठ का पुत्र काफी यशस्वी था। उसने युवाचार्यश्री की वहुत ख्याति सुन रखी थी। उसे युवाचार्यवर के आगमन का पता चला। वह दर्शन करने आया। उसने कुशल-क्षेम पूछने के वाद एक प्रश्न रखा—युवाचार्यश्री ! कोई व्यक्ति आपके पास आकर कहे—आप कहे तो मै हिरन मारने का त्याग करू और आप कहें तो मै मूली खाने का त्याग करू। मै दोनों मे से एक का त्याग करना चाहता हूं। जो आप निर्देश दें, वही करू। अव मेरा प्रश्न है कि आप उसे दोनों में से किसका त्याग करायेंगे ?

युवाचार्यश्री—हम कहेंगे कि तुम दोनों का त्याग करो।

श्रेष्ठिपुत्र—वह कहता है कि दोनों को त्यागने का मेरा मन नही है। मै दोनों मे से एक का त्याग करना चाहता हूं। जो आपकी इच्छा हो, वह त्याग कराएं।

युवाचार्यश्रा—हमारा उत्तर होगा कि यदि तुम दोनो को त्यागना नही चाहते तो फिर तुम्हारी इच्छा हो वह करो। त्याग का चुनाव वह करेगा। हम उसका चुनाव कैसे करेंगे ?

श्रेष्ठिपुत्र ने फिर प्रश्न दोहराया। युवाचार्यवर ने अपना उत्तर दोहरा दिया। उसने अनेक वार अपना प्रश्न दोहराया। युवाचार्यवर ने अनेक वार अपना उत्तर दोहरा दिया।[1] प्रश्न था उलझन में डालने के लिए, पर दूसरों को उलझन मे से निकालने वाला एक महान तत्त्ववेत्ता इस छोटी-सी पहेली मे कैसे उलझेगा, इस सचाई को भूल गया था वह श्रेष्ठिपुत्र।

आगम-प्रामाण्य

दिल्ली प्रवास की घटना है। कुछ जैन भाई आए। एक था किशन-चंद, तत्त्वज्ञान की रुचि वाला। उसने पूछा—आप आगम कितने मानते है ? जैन संप्रदायो मे आगम-प्रामाण्य के विषय मे अनेक मान्यताएं है। कुछ सम्प्रदाय वत्तीस आगमों को प्रमाण मानते है, कुछ पैतालीस आगमो को और

---

1. जे. आ. ख २, पृ ११३,११४ [जयनुजश, ३३।१८-२०]।

कुछ चौरासी आगमों को। आचार्य भिक्षु ने ग्यारह अंगों का प्रामाण्य स्वीकार किया।

जयाचार्य ने इस सारी परंपरा से हटकर नया ही उत्तर दिया। आचार्यवर ने कहा—हम तीन प्रकार के आगम मानते हैं : १. सूत्रागम, २. अर्थागम, ३. तदुभयागम।

सूत्रागम क्या है ?

सूत्र का मूल पाठ है, वह सूत्रागम है।

अर्थागम क्या है ?

मूल पाठ से मिलता (मेल खाता) वह व्याख्या ग्रंथ अर्थागम है।

तदुभयागम क्या है ?

सूत्रागम और अर्थागम दोनों का योग।

इस उत्तर ने विवाद को समाप्त कर दिया। किशनचंद ने कहा—आपको आगम का चौथा प्रकार और मानना होगा।

कौन-सा ?

'मिलता' आगम।

किशनचंद का व्यंग था जयाचार्य की उस टिप्पणी पर, जिसमें कहा गया था—मूल पाठ से मिलता हुआ व्याख्या ग्रंथ प्रमाण है।

जयाचार्य ने इस व्यंग का उत्तर उसी भाषा में दिया। उन्होंने कहा—'अनमिलता' आगम है ही नहीं। जो आगम है, वह 'मिलता' (मेल खाने वाला) ही है।

चर्चा संक्षेप में समाप्त हो गई।[1]

आचार्य भिक्षु ने पौराणिक कथाओं का प्रामाण्य नहीं माना। उन्होंने मौलिक आगम सूत्रों का ही प्रामाण्य स्वीकार किया। उत्तरवर्ती आगमो और व्याख्या-ग्रंथों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की विस्तृत समीक्षा जयाचार्य ने की।[2]

यांत्रिक तोता

जयपुर के एक शिल्पी ने एक अद्भुत तोता बनाया, जो कुछ शब्द बोलता और दाने भी चुग लेता। उसे देख लोग बड़े आश्चर्य में डूब जाते। शहर मे बात फैल गई कि शिल्पी ने एक जीव पैदा किया है। जीव के दो

१. तै. या. ग्रं. २, पृ. ७९,८० [जयसुजश, १६।१६]।
२. चौरासी आगम अधिकार।

वड़े लक्षण हैं—वोलना और खाना। तोता दोनों काम कर रहा था। एक दिन वह शिल्पी जयाचार्य के पास आया। आचार्यवर ने उस तोते को देख कर कहा—यह यान्त्रिक है। यंत्र वोलता है, यंत्र ही खाता है। यह जीव नही है। शिल्पी मौन और साथ आने वाले दर्शक भी मौन।

प्रमाद का प्रायश्चित्त

जयाचार्य लाडनूं में विराज रहे थे। होली के दिन थे। लोग होली खेल रहे थे। एक-दूसरे पर रंग ही नही डाल रहे थे, गंदा पानी व कीचड़ भी डाल रहे थे। जयाचार्य उसी मार्ग से पधारे। रंग और पानी के कुछ छीटे जयाचार्य के वस्त्र पर गिर गए। लोगों को पता चला। वे आचार्यवर के पीछे-पीछे प्रवास-स्थल पर आए। उन्होंने अपने प्रमाद के लिए क्षमा मांगी। आचार्यवर ने शात स्वर में कहा—आप अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त करना चाहते है तो यह संकल्प करे कि भविष्य में होली के अवसर पर गंदी वस्तुओं का प्रयोग नही करेंगे। उन लोगों ने वह संकल्प स्वीकार कर लिया। भूल का प्रायश्चित्त परिष्कार में हो गया।

समाधि-मरण

जयाचार्य समाधि के मर्मज्ञ थे। उनकी दृष्टि में जीने और मरने का उतना मूल्य नही था, जितना मूल्य था समाधि का। मानसिक समाधि के साथ जीना भी अच्छा है और मानसिक समाधि के साथ मरना भी अच्छा है। जीवन-मरण गौण है, मुख्य है समाधि।

आचार्यवर ने समाधि-मरण के हर अवसर पर अपने-आप को प्रस्तुत किया। समाधि-मरण की सुगंध आई और उस दिशा में उनके चरण आगे वढ़ गए। तपस्वी मुनि रामसुखजी और कोदरजी जयाचार्य के पास समाधि-मरण को प्राप्त हुए।

तपस्वी उदयराजजी लाडनूं में थे। उनके समाधि-मरण के अवसर पर जयाचार्य वीदासर से लाडनूं पधारे।

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी का समाधि-मरण आचार्यवर की सन्निधि मे हुआ। आचार्यवर ने उन्हे विस्तार के साथ आत्मालोचन कराया और उनके समाधि-मरण की सम्यक् व्यवस्था की।

साध्वी उमेदाजी को सुजानगढ़ में समाधि-मरण के अवसर पर आचार्यवर ने दर्शन दिए।

साध्वी बन्नाजी को समाधि-मरण के अवसर पर आत्मालोचन करवाया। उनकी गुणानुवाद की कुछ गाथाएं रच उन्हे सुनाई।

साध्वी हस्तूजी के समाधि-मरण के अवसर पर आचार्यवर वीदासर से प्रस्थान कर सीधे लाडनू पधारे।

पाली में तुलसी बाई स्वर्णकार जाति की श्राविका थी। वह सात उपवास और एक दिन भोजन, फिर सात उपवास और एक दिन भोजन—इस क्रम से महीने में केवल तीन दिन भोजन करती थी। एक बार उसने पैंतीस उपवास किए। उस समय जयाचार्य पाली पधारे। उसे दर्शन दिए। उसे धर्म-वार्ता सुनाई। उसने प्रार्थना की—मुझे आजीवन अनशन स्वीकार कराएं। आचार्यवर ने कहा—आजीवन अनशन करना बहुत कठिन काम है। इसे सोचे-समझे विना नही करना चाहिए। वह वोली मैंने वहुत सोचा है, समझा है, इसीलिए प्रार्थना कर रही हूं। मैं अपनी षष्ठीपूर्ति पर आजीवन अनशन करूंगी, यह मेरा दृढ संकल्प है। मेरी षष्ठीपूर्ति में केवल दो दिन बाकी है। मुझे अनशन स्वीकार करना ही है। मै चाहती हू कि आपके श्रीमुख से वह स्वीकार करूं।

आचार्यवर जीवन और मरण दोनों से अनासक्त थे। उनका लगाव था केवल समाधि से। उन्होंने तुलसी बाई की समाधि को देखा। उसकी समाधि ने उन्हे प्रेरित किया और आजीवन अनशन का संकल्प स्वीकार करा दिया। वह अनशन इकतीस दिन के वाद संपन्न हुआ।[1]

सफलता का योग

सं० १८६९ की घटना है। मुनिवर हेमराजजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए कोटा के पास पहुंचे। भयकर गर्मी, चिलचिलाती धूप और लंवा विहार। मुनि हेमराजजी को प्यास लग गई। पास मे जल नही था। सजीव जल पिया नही जा सकता। अचित्त (निर्जीव) जल की खोज करनी थी। मुनि जीतमल अभी वालक अवस्था मे थे। वे साहस के साथ आगे वढे। कोटा शहर मे पहुंचे। साझ का समय था। वहुत खोज करने का अवकाश नही था।

---

1 जे. आ. प २, पृ १३७,१३८ [जयसुजश, ४८।१-६]।

सहज ही एक वहन मिली। उसने वंदना कर कहा—मुनिवर ! अचित्त जल की आवश्यकता हो तो मेरे घर पर चलने का अनुग्रह करें। मुनि जीतमल उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसके घर गए। वहन ने वड़ी श्रद्धा के साथ जल का दान दिया। उसकी आखों में हर्ष के आसू छलक पड़े। वह गद्‌गद्‌ स्वर में वोली—'मुनिवर ! वारह वर्ष पूरे हो रहे है। निरंतर भावना करती हूं कि कोई मुनि आए और मेरे हाथ से अचित्त जल का दान स्वीकार करे। एक दिन भी ऐसा योग नही मिला। आज वारह वर्ष से मेरा आम फला है।'

वहन की भावना फलित हुई। इधर मुनि जीतमल की भावना फलित हुई। मुनि हेमराजजी की प्यास वुझी। प्यास वुझाने वाले हाथ सफलता के हाथ हो तो उसका स्पर्श या अतृप्ति सहज ही तृप्ति में वदल जाती है।

१०

ग्रहणशील व्यक्तित्व

वायु ग्रहशील होती है। सर्दी को लेती है ठंडी हो जाती है, गर्मी को लेती है गर्म हो जाती है। मनुष्य भी ग्रहणशील होता है। वह अच्छाई को भी लेता है, बुराई को भी लेता है। मनुष्य केवल ग्रहणशील ही नहीं है, वह विवेकशील भी है। विवेक यह है कि बुराई को न ले, अच्छाई को ले और मुक्तभाव से ले। जयाचार्य में विवेकशीलता और ग्रहणशीलता दोनों का समन्वय था। उन्होंने अच्छाई को मुक्तभाव से लिया। 'अमेध्यादपिकांचन' (सोना अपवित्र स्थान से भी ले लेना चाहिए), 'बालादपि सुभाषितं' (अच्छी वात वच्चे से भी सीख लेनी चाहिए)—ये सूक्त उनके परिपार्श्व मे परिक्रमा कर रहे थे। उन्होंने एक विद्यार्थी से संस्कृत व्याकरण पढ़ा, यह हम जान चुके है। उनके मन में प्रश्न उठा—हम लोग आगम ग्रन्थों की प्रतिलिपि कर रहे हैं पर यतियों की लिपि में जो सौदर्य है, वह हमारी लिपि मे नही है। उन्होंने लिपि-सौदर्य प्राप्त किया था। हम भी उसे प्राप्त कर सकते हैं। आचार्यवर ने एक यति द्वारा लिखित भगवती सूत्र की प्रतिलिपि को आदर्श मान उस पर ध्यान केद्रित किया। उसके प्रत्येक अक्षर-विन्यास को गहरे ध्यान से देखा। स्वयं अपनी लिपि को उसके अनुरूप वनाने का अभ्यास किया। वे इस कार्य में सफल हो गए। उनका अक्षर-विन्यास वहुत सुन्दर हो गया।

जयाचार्य ने अपनी गीतिकाओं मे लोकगीतो की रागिनियो का वहुत उपयोग किया। वे राग-रागिनियो को वहुत जल्दी पकड़ लेते थे। वे अनेक वार गायक ढोलियों से रागिनियां सुनते और उन्हे स्वगत कर लेते। राजस्थान मे रात्रि-जागरण के कार्यक्रम वहुत चलते हैं। कही आस-पास मे रात्रि-जागरण होता तव आचार्यवर भी रात्रि-जागरण कर लेते और उसमे

गाई जाने वाली रागिनियों का विभिन्न रचनाओ मे उपयोग हो जाता। उन्होंने अपनी पद्यात्मक रचनाओं मे सैकड़ों-सैंकड़ों रागिनियों का उपयोग किया। मोहजीत के व्याख्यान की रचना इसी ग्रहणशीलता के द्वारा हुई। आचार्यवर ने रात्रि के समय मोहजीत का आख्यान सुना और दूसरे दिन उन्होंने उस आख्यान के आधार पर व्याख्यान रच दिया।

कला के क्षेत्र मे भी उनकी यह वृत्ति प्रस्फुरित रही। जो भी अच्छी वात देखी उसे हस्तगत कर लिया। जयाचार्य से पूर्व तेरापंथ के साधु-साध्वियों को वेशभूषा स्थानकवासी संप्रदाय से मिलती-जुलती थी। आचार्यवर ने उसमें कुछ परिवर्तन किया और उसे कलात्मक वना दिया। रजोहरण और प्रमार्जनी वनाने, कपड़ो की सिलाई करने तथा आहार-पात्रों को रगने व उन पर रोगन करने की कला का विकास आचार्यवर ने ही किया था। हस्तकला की दृष्टि से तेरापथ की अपनी कुछ विशेषताएं है। इन सव का मूल वीज आचार्यवर की ग्रहणशीलता और कलात्मक दृष्टि है।

११

अन्तर्जगत् के प्रतीक

शकुन

हमारा जगत उतना ही नही है जितना हमें दिखाई दे रहा है। स्थूल जगत् दृश्य है, वह बहुत छोटा है। सूक्ष्म जगत् अदृश्य है, वह बहुत वड़ा है। हम अपनी आंखों से सूक्ष्म जगत् को नही देख पाते। उसके नियमों को जानने में भी हम सक्षम नही हैं। हमारी इस अक्षमता ने ही हमें एक सीमा में बांध रखा है। उस सीमा से परे जो कुछ घटित होता है उसे हम या तो चमत्कार मान लेते है या अन्धविश्वास। शकुन के वारे में भी हमारे ये दो दृष्टिकोण हैं। किन्तु अन्तर्दृष्टि संपन्न लोग उसे अंधविश्वास नही मानते। वे उसे सूक्ष्म जगत् का एक नियम मानते है। आचार्य भिक्षु शकुन में विश्वास करते थे।[1]

जयाचार्य शकुन-शास्त्र के मर्मज्ञ थे। वे शकुन में वहुत विश्वास करते थे। वे यात्रा मे शकुन का उपयोग किया करते थे। कभी-कभी शकुन अपने आस-पास घटना का ताना-वाना बुन लेते है। शकुन में विश्वास न करने वालों को उसकी आलोचना का अवसर मिल जाता है। एक ऐसी ही घटना घटी। जयाचार्य लाडनू में विराज रहे थे। एक वृद्ध श्राविका कुनणीवाई सरावगी ने प्रार्थना की—गुरुदेव ! मेरे घर में भोज के वाद मिठाई वची है। मैं उसे सावुओं को देना चाहती हूं। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें। जयाचार्य ने वृद्धा की उत्कट भावना देख स्वीकृतिसूचक शव्दों मे कहा—अवसर आने पर देखेंगे। दूसरा सूर्योदय हुआ। आचार्यवर

---

१. अमर गाथा [हेमनवरसा २।३]

हिवे आगल जाता अपशकुन जाणा, तब पाछा फिर्‌या स्वामी महा स्याणा।

प्रातःकाल शौच-निवृत्ति के लिए जंगल गए। वे जा रहे थे तव वहुत अच्छे शकुन हुए। उनका घूमने का क्रम यात्रा में वदल गया। उन्होने सुजानगढ़ के लिए प्रस्थान कर दिया। दो साधु आचार्यवर के साथ रहे। शेष साधु वस्त्र-पात्र लेने नगर पहुंचे। उन्होने आचार्यवर के विहार की लोगों को सूचना दी।

वृद्धा को आचार्यवर के विहार का पता चला। उसकी आशा पर तुषारपात हो गया। वह साधुओं के आगमन की प्रतीक्षा में बैठी थी। सूचना दूसरी ही मिली। उसकी आंखों से आसू छलक पड़े। वह तत्काल साधुओं के स्थान पर आई। उसने उलाहने के स्वर मे कहा महाराज ! मेरी वात सुनो ! जयाचार्य से कह देना—सव लोग आपको गरीवनिवाज कहते है पर उन्होंने आज यह दिखा दिया कि वे गरीवो के नही, धीगो के महाराज है। वड़े लोगों की प्रार्थना तत्काल स्वीकार हो जाती है। मेरे जैसी गरीवन की प्रार्थना पर कौन ध्यान दे ? मेरे मन मे कितनी प्रवल भावना थी। जयाचार्य उसे कच्चे धागे की भाति तोड़ यहा से प्रस्थान कर गए। आप मेरे मन की व्यथा आचार्यवर तक पहुंचा देना।

साधु लाडनू से प्रस्थान कर सुजानगढ़ पहुंचे। उन्होने आचार्यवर को वदना कर कायोत्सर्ग किया। वातचीत के प्रसग मे उन्होने वृद्धा की मानसिक वेदना आचार्यवर के सामने रखी। आचार्यवर ने वृद्धा को प्रार्थना की विस्मृति पर खिन्नता अनुभव की। उन्होने साधुओं से कहा—लाडनू के लिए प्रस्थान की तैयारी करो। युवाचार्य मघवा ने विनम्र भाव से कहा—आप यही विराजे। वृद्धा की भावना-पूर्ति के लिए मुझे लाडनू जाने की अनुमति दे। आचार्यवर ने युवाचार्य को लाडनू भेजा। वृद्धा आचार्यवर के इस अनुग्रह पर गद्‌गद् हो गई। उसने परम प्रसन्नता का अनुभव किया।

घटना के अध्ययन से लगता है कि जयाचार्य ने शकुन के आधार पर विहार कर दिया, इसलिए वृद्ध श्राविका को मानसिक आघात लगा। लाडनूवासियों को भी वह प्रस्थान भाया नहीं। युवाचार्य मघवा को सुजानगढ से वापस आना पड़ा। यदि विहार नहीं होता तो ये सारी स्थितिया घटित नहीं होतीं। इसका दूसरा पहलू भी है। ये सारी घटनाएं ईंधन हैं ज्योति प्रज्वलन के लिए। एक वृद्धा के लिए मघवा को सात मील भेजना एक विशिष्ट घटना है। इससे जयाचार्य की महानता की ज्योति प्रज्वलित होती है। महान् वही वनता है जो दूसरों के लिए कठिनाइयों को

झेलता है।[1]

जयसुजश मे मघवागणी ने इस घटना का उल्लेख नही किया है। उन्होने लाडनू मे तीसरे चातुर्मास का कारण भी वृद्धावस्था को वतलाया है—

वृद्ध अवस्था जोग सू, वलि तीजो चोमास ।
शहर लाडनू मे कियो, सुणज्यो तेह समास ॥

[ढा. ५८ दो. १]

स्वप्न और पूर्वाभास

नींद एक प्राकृतिक घटना है। भूख और नीद ये दोनो हमारे शरीर की रहस्यमय प्रवृत्तियां हैं। भूख सक्रियता की प्रेरणा है और नीद निष्क्रियता की। नीद दो प्रकार की होती है—शान्त और सक्रिय। स्वप्न शात नींद में नही आते। मनुष्य सक्रिय नींद मे ही स्वप्न देखता है। स्वप्न न गहरी नीद मे आते है और न जागृत अवस्था मे। वे अर्ध-जागृत अवस्था मे आते है। वह सक्रिय नीद की अवस्था होती है।

आधुनिक स्वप्नशास्त्री स्वप्न के दो प्रकार बतलाते है—सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय स्वप्न में व्यक्ति अपने आपको कार्य करते हुए अनुभव करता है। निष्क्रिय स्वप्न में वह दृश्य को द्रष्टा की भाति देखता रहता है।

स्वप्न के द्वारा शारीरिक और मानसिक रोगों की जानकारी मिलती है। उनकी चिकित्सा के संकेत भी मिल जाते है। भावी घटनाओं की जान-

---

१ जिसका मूल्य प्रस्थापित होता है, उसका आभास भी होता है। सुख का मूल्य है, इसलिए सुखाभास भी होता है। आभास कभी-कभी भ्रम पैदा करता है। फिर भी उसके आधार पर मूल को नही झुठलाया जा सकता। जयाचार्य को भी एक वार शकुन के आभास ने भ्रम मे डाल दिया। उसके आधार पर उनकी विहारचर्या वदल गई।

तेरापथ का इतिहास (खड १) पृ. २७३ मे एक घटना का उल्लेख है। उसका साराश यह है—

स० १९३२ और १९३३ दो वर्ष लाडनू के लिए परम सौभाग्य के थे। जयाचार्य वृद्धावस्था के कारण वही विराज रहे थे। १९३४ का चातुर्मासिक प्रवास वे दूसरे स्थान पर करना चाहते थे। लाडनू के श्रावको ने वही विराजने की प्रवल प्राथना की। जयाचार्य ने उसे स्वीकार नही किया। वहा से सुजानगढ की ओर प्रस्थान कर दिया। वे शहर से थोडी दूर गए। मार्ग के पास ही था एक वृक्ष। उस पर वैठा था एक लडका। जयाचार्य को देखते ही वह जोर-जोर से चिल्लाया—साधुओ! आगे मत जाओ। आचार्यवर ने उसके सामने देखा। वह और जोर मे चिल्लाया—साधुओ! आगे मत जाओ। वह वार-वार इसे दोहराता गया। जयाचार्य ने इसे वालक द्वारा किया हुआ स्वाभाविक निषेध मान वह चातुर्मास लाडनू मे ही विताया। वह निषेध दूलीचदजी दूगड द्वारा शिक्षित वच्चे ने किया था।

कारी का भी यह एक वड़ा स्रोत है। चेतन मन मे जो उलझे प्रश्न होते है उनका समाधान अवचेतन मन देता है। वह मार्ग-दर्शन देता है और चेतावनी भी देता है—यदि हम स्वप्नों के प्रति जागरूक हों, उनकी उपेक्षा न करे। हर व्यक्ति स्वप्न देखता है। वहुत कम लोग उन्हे याद रख पाते है। वे लोग वहुत ही कम होते है, जो उनका अर्थ समझने का प्रयत्न करते है। जयाचार्य सूक्ष्म जगत् की यात्रा मे निकले हुए यात्री थे। इसलिए वे सूक्ष्म जगत् की किसी भी घटना की उपेक्षा नही करते थे। उन्होने जो महत्त्वपूर्ण स्वप्न देखे, वे लिख लिए। उनका अर्थ समझा और जीवन व्यवहार में उतारा। उनके कुछ स्वप्नो मे उनके मानसिक द्वद्वों के प्रतिविव है।

सं० १९०४ मिगसर शुक्ला पचमी। गाव दूदू। रात्रि का अंतिम प्रहर। जयाचार्य ने एक स्वप्न देखा—आचार्य भिक्षु सामने खड़े है। जयाचार्य ने पूछा—इस समय हमारे संघ मे सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रत ये तीनो है? आचार्य भिक्षु ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। कुछ विराधना होती है। प्रायश्चित्त करने पर शुद्धि हो जाती है। फिर पूछा—वार-वार विराधना होने पर मूल वस्तु कैसे रहेगी? उत्तर मिला—विराधना से चारित्र का नाश नही होता। जितनी विराधना उतना प्रायश्चित्त करने पर शुद्धि हो जाती है। पूछा—चारित्र तो होगा? उत्तर मिला—चारित्र शुद्ध होगा। उसका भलीभाति पालन किया जाएगा। फिर प्रश्न किया—आने वाले साधु 'सरधा और आचार की जोड़' तथा 'भ्रमविध्वंसन' आदि ग्रंथो को पढकर क्या यह सोचेगे कि हमारे पूर्वज 'जवर' हुए है? उत्तर में कहा गया—वे ऐसा अवश्य सोचेगे। इस स्वप्न के वाद जयाचार्य जाग उठे। यह स्वप्न उपस्थित साधुओं को सुनाया। छठ के दिन यह लिख लिया।[1]

सं० १९०८, आश्विन शुक्ला त्रयोदशी। रात्रि का समय। स्वप्न मे एक दोहा सुना—

देखो रे भारी करी, पंचम आरा माय।
वर्ष पचीसां आसरै, कुमिय न राखी काय॥

इसका आशय क्या है? यह पूछने पर सरदाराजी ने कहा—आचार्य भिक्षु वहा खडे है उनसे पूछे।

सं० १९१७ फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी। आचार्य भिक्षु ने स्वप्न मे

1 सं० १९०४ मिगसर सुक्ला ६, सोमवार लिखत ऋष जीतमल।

झेलता है।[1]

जयसुजश मे मघवागणी ने इस घटना का उल्लेख नही किया है। उन्होने लाडनू मे तीसरे चातुर्मास का कारण भी वृद्धावस्था को वतलाया है—

वृद्ध अवस्था जोग सू, वलि तीजो चोमास।
शहर लाडनू में कियो, सुणज्यो तेह समास ॥

[ढा ५८ दो. १]

स्वप्न और पूर्वाभास

नीद एक प्राकृतिक घटना है। भूख और नीद ये दोनों हमारे शरीर की रहस्यमय प्रवृत्तियां है। भूख सक्रियता की प्रेरणा है और नीद निष्क्रियता की। नीद दो प्रकार की होती है—शान्त और सक्रिय। स्वप्न शात नीद में नही आते। मनुष्य सक्रिय नीद में ही स्वप्न देखता है। स्वप्न न गहरी नीद मे आते है और न जागृत अवस्था में। वे अर्ध-जागृत अवस्था मे आते है। वह सक्रिय नीद की अवस्था होती है।

आधुनिक स्वप्नशास्त्री स्वप्न के दो प्रकार बतलाते है—सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय स्वप्न में व्यक्ति अपने आपको कार्य करते हुए अनुभव करता है। निष्क्रिय स्वप्न में वह दृश्य को द्रष्टा की भाति देखता रहता है।

स्वप्न के द्वारा शारीरिक और मानसिक रोगों की जानकारी मिलती है। उनकी चिकित्सा के संकेत भी मिल जाते है। भावी घटनाओ की जान-

---

१ जिसका मूल्य प्रस्थापित होता है, उसका आभास भी होता है। सुख का मूल्य है, इसलिए सुखाभास भी होता है। आभास कभी-कभी भ्रम पैदा करता है। फिर भी उसके आधार पर मूल को नही झुठलाया जा सकता। जयाचार्य को भी एक वार शकुन के आभास ने भ्रम मे डाल दिया। उसके आधार पर उनकी विहारचर्या बदल गई।

तेरापथ का इतिहास (खड १) पृ. २७३ मे एक घटना का उल्लेख है। उसका साराश यह है—

स० १९३२ और १९३३ दो वर्ष लाडनू के लिए परम सौभाग्य के थे। जयाचार्य वृद्धावस्था के कारण वही विराज रहे थे। १९३४ का चातुर्मासिक प्रवास वे दूसरे स्थान पर करना चाहते थे। लाडनू के श्रावको ने वही विराजने की प्रवल प्रार्थना की। जयाचार्य ने उसे स्वीकार नही किया। वहा से सुजानगढ की ओर प्रस्थान कर दिया। वे शहर से थोडी दूर गए। मार्ग के पास ही था एक वृक्ष। उस पर बैठा था एक लड़का। जयाचार्य को देखते ही वह जोर-जोर से चिल्लाया—साधुओ! आगे मत जाओ। आचार्यवर ने उसके सामने देखा। वह और जोर से चिल्लाया—साधुओ! आगे मत जाओ। वह वार-वार इसे दोहराता गया। जयाचार्य ने इसे वालक द्वारा किया हुआ स्वाभाविक निषेध मान वह चातुर्मास लाडनू मे ही विताया। वह निषेध दूलीचदजी दूगड द्वारा शिक्षित वच्चे ने किया था।

कारी का भी यह एक वड़ा स्रोत है। चेतन मन मे जो उलझे प्रश्न होते है उनका समाधान अवचेतन मन देता है। वह मार्ग-दर्शन देता है और चेतावनी भी देता है—यदि हम स्वप्नो के प्रति जागरूक हों, उनकी उपेक्षा न करे। हर व्यक्ति स्वप्न देखता है। वहुत कम लोग उन्हे याद रख पाते है। वे लोग वहुत ही कम होते है, जो उनका अर्थ समझने का प्रयत्न करते है। जयाचार्य सूक्ष्म जगत् की यात्रा मे निकले हुए यात्री थे। इसलिए वे सूक्ष्म जगत् की किसी भी घटना की उपेक्षा नही करते थे। उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण स्वप्न देखे, वे लिख लिए। उनका अर्थ समझा और जीवन व्यवहार में उतारा। उनके कुछ स्वप्नों में उनके मानसिक द्वंद्वों के प्रतिविब है।

स० १९०४ मिगसर शुक्ला पंचमी। गाव दूदू। रात्रि का अंतिम प्रहर। जयाचार्य ने एक स्वप्न देखा—आचार्य भिक्षु सामने खड़े है। जयाचार्य ने पूछा—इस समय हमारे संघ मे सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रत ये तीनों है? आचार्य भिक्षु ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। कुछ विराधना होती है। प्रायश्चित्त करने पर शुद्धि हो जाती है। फिर पूछा—वार-वार विराधना होने पर मूल वस्तु कैसे रहेगी? उत्तर मिला—विराधना से चारित्र का नाश नही होता। जितनी विराधना उतना प्रायश्चित्त करने पर शुद्धि हो जाती है। पूछा—चारित्र तो होगा? उत्तर मिला—चारित्र शुद्ध होगा। उसका भलीभाति पालन किया जाएगा। फिर प्रश्न किया—आने वाले साधु 'सरधा और आचार की जोड' तथा 'भ्रमविध्वंसन' आदि ग्रंथों को पढ़कर क्या यह सोचेगे कि हमारे पूर्वज 'जवर' हुए है? उत्तर में कहा गया—वे ऐसा अवश्य सोचेंगे। इस स्वप्न के वाद जयाचार्य जाग उठे। यह स्वप्न उपस्थित साधुओं को सुनाया। छठ के दिन यह लिख लिया।[1]

सं० १९०८, आश्विन शुक्ला त्रयोदशी। रात्रि का समय। स्वप्न में एक दोहा सुना—

देखो रे भारी करी, पंचम आरा माय।
वर्ष पचीसां आसरै, कुमिय न राखी कांय॥

इसका आशय क्या है? यह पूछने पर सरदारांजी ने कहा—आचार्य भिक्षु वहां खड़े है उनसे पूछें।

सं० १९१७ फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी। आचार्य भिक्षु ने स्वप्न में

१. स० १९०४ मिगसर शुक्ला ६, सोमवार : लिखत ऋष जीतमल।

एक पत्र लिखाया। जयाचार्य ने उसे स्मृति में रखा और दिन में लिख लिया। उन्होंने स्वप्न के अत मे लिखा है—मैने वही वात लिखी है जो ब्रह्मेंद्र (आचार्य भिक्षु) ने लिखाई है। निश्चयार्थ सर्वज्ञो जानाति। मैने उनकी कही हुई बात लिखी है। सचाई क्या है यह केवली जाने। लिखाने वाले ब्रह्मेंद्र है या कोई अन्य है, यह भी केवली जाने। मम दोषो न दीयते। लिखितं जयगणपतिना।'

स्वप्न मे लिखाया हुआ पत्र इस प्रकार है—

पश्चिम महाविदेह (हमारे सौर-मंडल का एक सुदूरवर्ती प्रदेश) मे अमरकंका नगरी। वहा सूर्यकरण नामक केवली। उनके शिष्य अमृतघोष ने पूछा—अभी भरतक्षेत्र मे आचार्य कौन है? केवली ने उत्तर दिया—जयाचार्य। फिर पूछा—उनकी संपदा कैसो है? साधु-साध्वियों की आचार पालने की नीति कैसी है? आचार्य उन्हे संयम-पालन में सहयोग कैसा देते है? केवली ने कहा—संपदा प्रवल है, नीति अच्छी है, सहयोग अच्छा देते है। पुण्य का उदय प्रबल है और वह जीवन पर्यंत रहेगा। पुण्य क्षीण न करे तो अतिशय और अधिक बढ़ सकता है।

अमृतघोष ने फिर पूछा—पुण्य क्षीण कैसे होता है? वह क्षीण न हो उसका क्या उपाय है? प्रश्न के उत्तर मे केवली ने कहा—न्याय और नीति अच्छी होती है, न्याय मे रागवश किसी का पक्ष न किया जाए तो पुण्य क्षीण नही होते। पूछा—पुण्य क्षीण न हो और दिन-दिन अतिशय वढ़े, इसका उपाय वतलाइए। केवली बोले—आचार्य का पद वड़ा है। इस पद के गुण भी विशिष्ट होते है। पुण्यवान् पुरुष नीचवृत्ति वालों की संगत नही करते। यह उपाय है अतिशय वढ़ने का।

जयाचार्य ने और भी अनेक स्वप्न देखे। उनमे कुछ गम्य है, कुछ अगम्य भी है। गम्य स्वप्नो की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। इन स्वप्नो की व्याख्या के तीन कोण हो सकते है—

१. मानसिक प्रतिविंव।

२. अवचेतन द्वारा चेतन के प्रश्नो का समाधान।

३. आचार्य भिक्षु द्वारा दर्शन।

जयाचार्य का दिव्य आत्माओ से संपर्क रहा है, यह अनेक घटनाओ से प्रमाणित होता है। दिव्य आत्माओं के प्रति उनकी रहस्यपूर्ण वाणी पढ़ने मात्र मे यह स्वयं ज्ञात हो जाता है। स्वप्न मे दिव्य आत्माओं के दर्शन से

होने वाले रोमांच की चर्चा उन्होंने वार-बार की है। हो सकता है आचार्य भिक्षु ने उन्हें स्वप्न मे कुछ संकेत दिए हों। स्वप्न की भाषा और उसके प्रतीको को समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे अनेक रहस्यों का अनावरण होता है।

भाग्य की रेखा

जव तक अंधेरा है तव तक दीप जलेंगे। प्रतिदिन सूर्य की रश्मियां भूमि पर प्रकाश विखेरती है और प्रतिरात्रि दीप जलते हैं। प्रतिदिन ऐसा क्यो होता है ? यह प्रश्न नही है। प्रतिदिन अंधेरा होता है तो प्रतिदिन प्रकाश क्यों नही होगा ? अंतःकरण को आलोकित करने के लिए प्रज्ञापुरुष चंक्रमण करते हैं। उनका चंक्रमण कभी नही रुकेगा। जयाचार्य ने अंतर्यात्रा के साथ-साथ वाहर की यात्राएं भी बहुत की। उन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में ही पद-यात्राएं[1] नही की, कर्म के क्षेत्र मे भी लंबी-लंबी पद-यात्राए की। राजस्थान, हरियाणा, गुजरात और दिल्ली—ये उनके विहारक्षेत्र रहे। उनकी एक वर्ष में सवसे लंवी यात्रा चौदह सौ मील की हुई। उस पद-यात्रा का प्रारभ दिल्ली से हुआ और उसकी संपन्नता बालोतरा (राजस्थान) में हुई। उनका चातुर्मास दिल्ली मे था। एक दिन वे जंगल मे घूम कर अपने प्रवास-स्थल मे आए। उनके पीछे-पीछे एक सामुद्रिक (हस्तरेखाविद्) आया। उसने वालू पर अंकित जयाचार्य के पैरों की रेखाएं देखी। वह संदेह से आदोलित हो गया। पद-रेखाएं वताती है प्रवल राजयोग और यह व्यक्ति नंगे पैर रास्तों पर चल रहा है। दोनो विरोधी वाते है। क्या समुद्र-शास्त्र मिथ्या है ? राजयोग की रेखा वाला व्यक्ति नगे पैर घूम रहा है तव मेरी विद्या सत्य कैसे होगी ? इन प्रश्नों मे उलझा हुआ वह जयाचार्य के प्रवास-स्थल पर पहुंचा। उसने देखा, नंगे पैर घूमने वाला व्यक्ति एक तेजस्वी संन्यासी है। धर्म का शासन राज्यशासन से अधिक शक्तिशाली और अधिक गरिमा-मंडित है। ये रेखाएं इस संन्यासी के धर्मशासन का शास्ता होने की सूचक है, यह वात उससे छिपी नही रही।

जयाचार्य के जीवन की पुस्तक का प्रत्येक पृष्ठ हमारे सामने है। इसलिए ज्योतिप के आधार पर उसे समझने की कोई सार्थकता प्रतीत नही होती। पर जिज्ञासा एकमुखी नही होती। हमारी जिज्ञासा का एक कोण यह है कि उनके कर्तृत्व की प्रखरता में सौर-मंडल ने सहयोग किया या

१. पदो की यात्रा, शब्द-यात्रा।

असहयोग ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए हम जयाचार्य की जन्म-कुंडली और उस पर दो ज्योतिर्विदों का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे है—

जन्म-कुंडली

	संवत्	स्थल	आयुमान
जन्म	१८६०	रोयट	गृहस्थ, ९ वर्ष
दीक्षा	१८६९	जयपुर	साधु, १२ वर्ष
अग्रणी	१८८१	पाली	अग्रणी, १२ वर्ष
युवाचार्य पद	१८९४	नाथद्वारा	युवाचार्य, १५ वर्ष
आचार्य पद	१९०८	बीदासर	आचार्य, ३० वर्ष
स्वर्गवास	१९३८	जयपुर	सर्व आयु ७८ वर्ष

१. ज्योतिर्विद् एम. एस सीतारामैया

महानता, विशेषतया अध्यात्मिक महानता, ईश्वरीय वरदान है। जन्म-कुंडली के द्वारा व्यक्ति की महानता सहज ही जानी जा सकती है। जैन समाज के महान् आध्यात्मिक नेता श्रीमज्जयाचार्य की जन्म-कुंडली में उनकी महानता का भरपूर दिग्दर्शन होता है। उनकी विद्वत्ता, साहित्यिक प्रतिभा, पैनी तर्क-शक्ति, मानवोचित गुणों का विस्तार तथा आध्यात्मिक

मूल्यों के प्रति उनका समग्र समर्पण-भाव—ये सब तत्त्व उनकी जन्म-कुडली में परिलक्षित होते है।

उनका कर्क लग्न है, जिसका स्वामी चन्द्र है। इसी से वे भारत के अन्य आध्यात्मिक धर्म-गुरुओ रूपी नक्षत्र-मंडल के एक देदीप्यमान् नक्षत्र है। जयाचार्य की भाति आद्य शंकराचार्य, अरविन्द घोष, स्वामी शिवानन्द जैसे सभी महापुरुषो की कुडलियो मे कर्क लग्न है। सभी अध्यात्म-योगियो की कुंडलियो के अध्ययन का यही निष्कर्ष है कि चन्द्र एवं वृहस्पति का संबंध नौवे घर से है जो धर्म और अध्यात्म मे प्रवृत्ति कराता है। जयाचार्य की कुडली मे लग्न का स्वामी चन्द्र है। वह नौवे घर मे स्थित है। चन्द्र पूर्णतया वली है, क्योकि जयाचार्य का जन्म शुक्ल-पक्ष की चतुर्दशी को हुआ था। चन्द्र पर देव-गुरु वृहस्पति की सीधी दृष्टि पड़ रही है। चन्द्र और वृहस्पति का पारस्परिक संबंध भी है तथा वृहस्पति नौवे घर का स्वामी है। जन्म-कुडली मे वृहस्पति और चन्द्र के द्वारा केशरी योग वना हुआ है जो समाज पर नेतृत्व का परिचायक है। नौवे घर मे लग्नेश चन्द्र का होना भी महत्त्व-पूर्ण है। गुरु की दृष्टि पड़ने से वह और भी वली वन गया है।

चन्द्रमा का संबंध मन से है। चन्द्र पर सूर्य, शनि और शुक्र की भी दृष्टि है। रवि, गुरु, शुक्र और शनि—ये चारों ग्रह कन्या राशि के है। चारो ग्रहों की दृष्टि नौवे घर में स्थित चन्द्रमा पर पड़ने से पाचों का सबध हो गया है। घर का स्वामी या दृष्टि या स्थान—इन संबंधो मे से एक संबध बुध के साथ भी हो जाता है, क्योकि कन्या राशि का स्वामी बुध है। चन्द्रमा का संबंध मन से, बुध का बुद्धि से, सूर्य का आत्मा से, गुरु का ज्ञान से तथा शनि का संबंध ध्यान और अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त स्वानुभव से है। इनके साथ शुक्र का सुन्दर और मृदु योग करे, तो पता चलेगा कि शुक्र दुर्वल है, परन्तु वह दुर्बलता बुध के कारण नही रहती, जो कन्या का स्वामी है तथा लग्न से चतुर्थ स्थान केन्द्र मे स्थित है। इस प्रकार शुक्र भी नौवे घर पर शुभ दृष्टि डाले हुए है। इन्ही ग्रह-योगो के प्रताप से जयाचार्य ने आत्मा का साक्षात्कार किया और अपने विशाल ज्ञान का उपयोग किया जो अनुभवो द्वारा उपार्जित, बुद्धि के द्वारा परिष्कृत और काव्य-शक्ति द्वारा अनुप्राणित था। वे आदर्श और ध्येय की व्याख्या करने में कुशल थे।

आध्यात्मिक ज्ञान का द्योतक केतु लग्न में स्थित है। इससे सिद्ध होता है कि जातक न केवल दूर-दृष्टि-सम्पन्न है, अपितु सम्यक् ज्ञान के मूल तक

पहुंचने में समर्थ एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि से समन्वित है। लग्न में केतु होने का अर्थ है ज्ञान-भण्डार के विश्लेषण तथा मानवता के उद्देश्यों एवं आकाक्षाओं को मूर्तरूप देने की क्षमता। ऐसा व्यक्ति छोटा या वड़ा कोई भी कार्य सुन्दरता से कर सकता है, चाहे वह व्याकरण की विधि हो अथवा ऋषि-मुनियों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का समन्वयीकरण हो। केतु मोक्ष कारक है, अतः वह उचित ही है कि जातक द्वारा रचित साहित्य उदात्त और शाश्वत आनन्द की वृष्टि करे।

देखा गया है कि आद्य शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, स्वामी शिवानन्द प्रभृति विख्यात आध्यात्मिक विभूतियों की कुण्डलियो में रवि और शुक्र, शनि और चन्द्र तथा गुरु और चन्द्र का अपूर्व योग है। ऐसे सभी व्यक्ति महान् लेखक तथा धर्मोपदेष्टा थे। उनके द्वारा रचित साहित्य ने काल की सीमा का अतिक्रमण किया है। जयाचार्य भी उन्ही की भाति एक महान् लेखक और धर्मोपदेष्टा हैं और उनके साहित्य ने काल की सीमा लांघ दी है। उनकी रचनाएं अब भी उतनी ही नवीन और प्रेरणादायक है जितनी कि रचना-काल के समय थी। कुण्डली का तृतीय घर साहित्यिक कृतियों तथा जन-कार्यों से सम्बन्धित है और छह ग्रह इसको प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि उनकी लेखनी विभिन्न विषयों में चली है। मूल मे उनकी व्याकरण की रचनाएं है, जिनके पश्चात् उन्होंने क्रम-क्रम करके धर्म संघ का संविधान, प्राचीन रचनाओं का समन्वय, विवादास्पद समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान तथा अति मनमोहक काव्य में आचार सम्बन्धी आत्मान्वेषी नियमों की रचना करके साहित्य में अभिवृद्धि की।

इस कुण्डली में शुभ योग भी विद्यमान हैं। पञ्चम घर का स्वामी मंगल चतुर्थ घर में है और इससे केन्द्र कोण योग वनता है, जो प्रतिष्ठा और भाग्योदय का सूचक है। कई आध्यात्मिक महापुरुषों की कुण्डलियों मे मंगल या तो चतुर्थ स्थान पर है या चतुर्थ पर दृष्टि डाल रहा है। पूर्व लेखानुसार चन्द्र और गुरु की पारस्परिक दृष्टि होने से केशरी योग वनता है। नौवे घर के स्वामी गुरु की नौवें घर पर दृष्टि तथा दसवें घर के स्वामी मंगल की स्वयं के दसवें घर पर दृष्टि से नौवें तथा दसवे घरो को वल मिलता है। नौवां घर धर्म और पूर्व पुण्यों का है और वली है। इसी भांति दसवा घर कर्म और क्रिया का है और वली है। अतः कोई आश्चर्य नही है कि जयाचार्य की आध्यात्मिक प्रवृत्तियां उनके जीवन काल में ही क्रियान्वित होने लग गई।

बारहवें और तीसरे घर के स्वामी बुध की चौथे घर मे स्थिति है और ग्यारहवें घर के स्वामी शुक्र के दुर्बल होने से जातक ने गृह एवं सम्पत्ति का त्याग किया है। सातवें स्थान में राहु की स्थिति के बावजूद सप्तम घर के स्वामी शनि का नीच शुक्र से योग तथा सप्तम घर पर मंगल और गुरु की दृष्टि संन्यासमय जीवन का द्योतक है।

चन्द्र की स्थिति से ज्ञात होता है कि जयाचार्य ने वचपन से क्रमशः शनि, बुध, केतु, शुक्र, सूर्य और चन्द्र की विंशोत्तरी दशाएं भोगी। वर्ष-तालिका से पता चलता है कि ये सारी तिथियां लग्न तथा तीसरे घर से सम्बन्धित हैं। दशाओं का यह परस्पर-सम्वन्ध बताता है कि जयाचार्य द्वारा मानवता के प्रति की गई निःस्वार्थ आध्यात्मिक सेवाओं में कभी कोई व्यवधान उपस्थित नही हुआ।

भारत मे अनादि काल से ज्योतिष शास्त्र के द्वारा जातक के जन्म-समय का उसके भाग्य से अटूट सम्वन्ध वताया जाता रहा है।

महान् सन्त श्रीमज्जयाचार्य को हमारा शत शत प्रणाम।

२. विष्णुदत्त शर्मा शास्त्री

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, मेरठ

सूर्यफलम्—

विक्रान्तो बलयुक्तो विनष्टसहजः तृतीयगे सूर्ये।
लोके मनोऽभिराम. प्राज्ञो जितदुष्टपक्षश्च॥

[कल्यान वर्मा]

यह व्यक्ति पराक्रमी, वलवान्, परिवारहीन, सर्वजनप्रिय, सुन्दर और प्राज्ञ होगा तथा अपने पक्ष के विरोध में चलने वाले दुष्टो को जीतने वाला होगा।

चन्द्रफलम्

धर्मे चन्द्रे चारु कान्तिः स्वधर्मनिरतः सदा।
वीतरोगः सतां श्लाघ्यः पापहीनश्च जायते॥

['काशीनाथ']

यह मनुष्य सुन्दर, स्वधर्म परायण, नीरोग, सज्जनमान्य और निप्पाप होगा। **पाश्चात्यमत**—धर्म और शास्त्रों का प्रेमी, अध्यात्मज्ञानी, योगी, कल्पनाशक्ति से युक्त, स्थिरचित्त और तेजस्वी होगा।

भौमफलम्

'भौमे बन्धुमते तु बन्धुरहितः स्त्रीनिर्जितः शौर्यवान् ।'

[वैद्यनाथ]

यह व्यक्ति परिवार रहित, स्त्रीजित् और पराक्रमी होगा ।

बुधफलम्—

चतुर्थे यस्य ज्ञे प्रवरजन मैत्री क्षितितले-
ऽधिकारोऽपि द्वारे भवति वसुधा भर्तुरिमतः ।।

इस मनुष्य की मैत्री संसार के श्रेष्ठ मनुष्यों से होगी। इसे राज दरवार में भी सम्मान प्राप्त होगा ।

गुरुफलम्—

जीवे तृतीये तेजस्वी कर्मदक्षो जितेन्द्रियः ।
मित्राप्तसुखसम्पन्नस्तीर्थवार्ताप्रियो भवेत् ।।

[काशीनाथ]

यह तेजस्वी, कार्य करने में चतुर, जितेन्द्रिय, मित्र तथा आप्त जनों के सुखों से सम्पन्न और तीर्थयात्रा करने वाला होगा ।

शुक्रफलम्—

विदारसुखं संपदं उदासीनमप्रियं भोगें च ।

यह स्त्री-सुख तथा सम्पत्ति से रहित होगा, उदासीन तथा ऐश्वर्य के प्रति अनासक्त होगा ।

शनिफलम्—

छायात्मजे तृतीयस्थे, प्रसन्नो गुणवत्सलः ।
शत्रुमर्दी नृणां मान्यो, धनी शूरश्च जायते ।।

[काशीनाथ]

यह प्रसन्नचित्त, गुणो का प्यारा, शत्रु-विजेता, लोगो मे आदरणीय, धनी और शूरवीर होता है ।

राहुफलम्—

पाश्चात्य मत—गृहस्थी से असन्तोप रहता है ।

केतुफलम्—

यवनमत—शरीर कृश होता है, और रोग से पीडित रहता है ।

१२

मातृऋण से उऋण

कल्लू जी तपस्विनी साध्वी थी। समूचे धर्मसंघ में उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव था। उनके तीन पुत्र दीक्षित थे। वे तीनों ही अपनी-अपनी विशेषता के कारण संघाकाश में चमकते सितारे थे। अपने शक्तिशाली पुत्रो के कारण नहीं, अपनी साधना के वलपर ही उन्होंने संघ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। सं० १८८६ का चातुर्मास संपन्न कर मुनि जीतमल ने आचार्यवर ऋषिराय के दर्शन किए। आचार्यवर ने खेरवे मे साध्वी कल्लूजी को दर्शन दिए। साध्वी श्री कल्लूजी के तीनो पुत्र मुनि सरूपचन्दजी, मुनि भीमराजजी और मुनि जीतमल, वहा उपस्थित थे। उस समय साध्वी श्री कल्लूजी ने संलेखना (तपस्या द्वारा समाधि-मरण की तैयारी) की आज्ञा मागी। आचार्यवर ने कहा—'अभी तुम्हारी शक्ति अच्छी है, अभी सलेखना क्यों ? अभी इसकी उतावल क्या है ? साध्वी श्री ने विनम्रस्वर मे कहा—'गुरुदेव ! मेरे मन मे इसकी भावना जाग गई है। तपस्या से मुझे प्रेम है। खाने की अपेक्षा मुझे न खाना ज्यादा अच्छा लगता है। आप कृपा कर मुझे इसकी स्वीकृति दें।' अत्यन्त आग्रह के साथ उन्होंने आचार्यवर से संलेखना की स्वीकृति प्राप्त कर ली। मुनि जीतमल उनके पास तत्वज्ञान की चर्चा करते। उससे उन्हे वड़े आनन्द का अनुभव हुआ। आचार्यवर ने पचीस दिन ठहर वहा से थली प्रदेश की ओर विहार कर दिया। मुनि सरूपचन्दजी और मुनि जीतमल आचार्यवर के साथ ही विहार कर गये। मुनि भीमराजजी को मातुश्री के पास रखा।

साध्वी श्री कल्लूजी पहले ही वहुत तपस्या कर चुकी थी। सलेखना

के आराधना-काल में उनका तपस्या-क्रम निम्न प्रकार चला—

१. एक मास तक अवमोदरी—अल्प आहार।

२. पन्द्रह दिन तक एकान्तर—एक दिन उपवास और एक दिन आहार।

३. दो सौ दिन में पचास तेले—तीन-तीन दिन के उपवास और बीच-बीच में एक दिन आहार।

४. पारणा के दिन आहार की मात्रा अति अल्प।

५. तीन दिन का उपवास।

६. ग्यारह दिन का उपवास।

७. आठ दिन का उपवास।

८. गर्म छाछ के ऊपर का पानी पी तीन दिन का उपवास।

९. तीन मास तक एकांतर—एक दिन उपवास और एक दिन आहार।

१०. बहुत दिनों तक फिर अवमोदरी—अल्प आहार।

इस संलेखना की आराधना से उनका शरीर कृश हो गया। सं० १८८७ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी के दिन के अन्तिम पहर में उन्हें अनशन स्वीकार कराया गया। वे लगभग एक पहर अनशन की अवस्था में रही उसी अवस्था में उनका महाप्रयाण हो गया। साढे सतरह वर्ष तक संयम की साधना कर वे विदेह हो गईं।[1] एक महान् पुत्र की महान् माता का जीवन शौर्य और पराक्रम से भरा था। उन्होने अपने पति के देहावसान के वाद पुत्रों की पालना में भी पराक्रम का परिचय दिया। दीक्षित हो जाने पर साधना के क्षेत्र मे भी उनका जीवन सदा ज्योति की भाति प्रज्वलित रहा। वे अपने महान् पुत्र के आचार्यपदाभिषेक का क्षण नही देख सकी। पर वे अपने पुत्र के कर्तृत्व की प्रतिमा का साक्षात्कार कर चुकी थी। उनसे कैसे छिपा रहा होगा अपने प्रिय पुत्र का भविष्य! वह साध्वी कोई सामान्य साध्वी नही थी। वह थी एक विशिष्ट साधना मे रत तपस्विनी साध्वी!

---

१ ते. आ. चं. २, पृ. ७४-७५ [जयसुजश ढा० १३]

१३

युवाचार्यपद पर मनोनयन

तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्य का चुनाव नही होता। आचार्य अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन करते है। आचार्य द्वारा मनोनीत व्यक्ति समूचे संघ को मान्य होता है। यह पद्धति संविधान और परम्परा दोनो द्वारा समर्पित है। यह भावधारा धर्मसंघ की रग-रग में रक्तधारा की भाति प्रवाहित है। मुनि जीतमल तेरह वर्ष तक अग्रणी अवस्था में रहे। इस अवस्था में उनके कर्तृत्व की प्रतिध्वनि आचार्यवर ऋषिराय के कानों में गूजती रही। उनका वौद्धिक वैभव और वक्तृत्व समूचे संघ को आकर्षित करता रहा। लाड़नू से वीकानेर तक की जनता को उन्होने संवोधि दी। जयपुर, अजमेर, किशनगढ़ आदि अनेक क्षेत्रों, मेवाड़ और मारवाड में उनका प्रभाव एकछत्र हो गया। मालवा और गुजरात मे उनकी यशोगाथा गाई जाने लगी। वे जहां गये वही उन्होने अपनी छाप छोड़ी।[1] आचार्यवर ऋषिराय मुनि जीतमल की क्षमता का अंकन कर रहे थे। उचित समय आने पर उन्होने मुनिवर का अपने उत्तराधिकारी के रूप मे मनोनयन किया। उस समय आचार्यवर नाथद्वारा (मेवाड़) में विराज रहे थे। सं० १८९४ आषाढ मास। आचार्यवर ने उत्तराधिकारी के मनोनयन का पत्र लिख मुनि सरूपचन्दजी को सौप दिया। आचार्यवर ने उन्हें निर्देश दिया, अभी इसे गुप्त रखना है। चातुर्मास समाप्त होने पर जव जीतमल यहां आएगा तभी उत्तराधिकारी के मनोनयन की वात को प्रगट करेगे।

उस समय मुनि जीतमल थली प्रदेश से विहार कर आषाढ मास मे

१. ते आ. ख. २ पृ. ६६-६२ [जयसुजश ढा० ६-२२]

पालो पहुंचे। आचार्यवर ने चातुर्मास नाथद्वारा में विताया, मुनिवर ने पाली में। दोनों में क्षेत्रीय दूरी थी, पर अंतःकरण की दूरी नही थी। मुनि जीतमल युवाचार्य वन गये पर उन्हें इसका पता नही था। वे अभी मुनि अवस्था मे ही चल रहे थे। यह एक निदर्शन है वास्तविक और व्यवहारिक जगत् के घटनाक्रम का। चातुर्मास सम्पन्न हुआ। मुनि जीतमल पाली से प्रस्थान कर फलोदी पहुंचे। वहां से खीचन आए।

आचार्यवर ने मेवाड़ से दो साधुओ को मुनि जीतमल के पास भेजा। दो पत्र लिख कर उन्हें दिये, एक छोटा और दूसरा वड़ा। आचार्यवर ने कहा—'छोटा पत्र पढ़ने की तुम्हें आज्ञा नही है। यह पत्र केवल जीतमल ही पढ़ेगा। तुम यहा से मारवाड जाओ और ये दोनो पत्र जीतमल को सौप देना।' दोनो मुनि आचार्यवर की आज्ञा शिरोधार्य कर वहां से चले, कुछ ही दिनों में वे मारवाड़ में प्रवेश कर खीचन में मुनि जीतमल के पास पहुंच गये। मुनिवर को उनके आकस्मिक आगमन पर वड़ा आश्चर्य हुआ। मुनिद्वय ने आचार्यवर का मौखिक संदेश सुनाया—'आचार्यवर ने आपके स्वास्थ्य की मंगल-कामना की है। आज से आपको समुच्चय की पाति (आहार के संविभाग) से मुक्त किया है। आचार्यवर के ये दो पत्र प्रस्तुत है। आप इन्हें स्वीकार कर हमें कृतार्थ करें। यह छोटा पत्र केवल आपके लिए है और वड़े पत्र को सव पढ़ सकते हैं। मुनि जीतमल ने छोटा पत्र पढ़ा। वह उनके मनोनयन का पत्र था। आचार्यवर ने अपने हाथ से लिखा था—

ॐ नमो सिद्धम्

भिक्षु भारीमाल त्याको शरणं। ऋषि भिक्षु पाट भारीमाल ऋषिराय पाट ऋषि जीतमल जुगराज पद स्थापनं। विनैवंत ऋषिराय नी आज्ञा परमाणे चालसी जीवै जितरै। घणा हरख स्यू, स्वमत थी ए काम कीधो, वीजा नों जश इण मे छै नही।

(अनुवाद) भिक्षु भारीमल, उनकी शरण। ऋषि भिक्षु के पट्ट पर भारीमाल, ऋषिराय के पट्ट पर जीतमल की युवराज पद पर स्थापना, विनयवान ऋषिराय की आज्ञा के अनुसार चलेगा जीवन पर्यंत। वहुत हर्ष मे और अपने मन से (या अपनी मति से) यह कार्य मैंने किया है। कोई दूसरा इस कार्य में यशोभागी नही है।

इस पत्र को पढ़ने के बाद मुनि जीतमल की मुद्रा गम्भीर हो गई। वे दो क्षण के लिए स्तब्ध से रहे। उनका मानस इस आकस्मिक उपलब्ध दायित्व की एषणा में लग गया।

वड़े पत्र में लिखा था—ऋषि जीतमल से सुख-प्रश्न विदित हो। तुम पर मेरा वहुत ध्यान है, दिन-दिन प्रेम वढ रहा है। तुम वहुत प्रसन्न रहना। यहां शीघ्र आ जाओ। शरीर का यत्न करना। तुम्हारे आने से सव काम अच्छे होगे। अधिक रसायन उत्पन्न होगा। कोई कमी नही रहेगी। तुम्हारी और मेरी भावना एक है। शेष समाचार छोटे पत्र मे है। वह तुम जान लेना। उसे अपने मन में रखना। मूल वात यह है कि तुम्हे शीघ्रातिशीघ्र यहा आना है। विलम्व नही करना है। मुनि सरूपचंद पर मेरी दृष्टि बहुत अनुकूल है। साध्वी दीपांजी तुम से बहुत प्रसन्न है। उनकी वंदना स्वीकार कर लेना। उदयपुर में अच्छा उपकार हुआ है। मेरा यह जिनशासन का भार तुम्हारे कंधों पर है।

मुनिवर ने आचार्यवर के दोनों पत्र पढे। सारी स्थिति ज्ञात हो गई। उन्होंने अपने सहवर्ती तीन साधुओं से कहा—तुम धीमे-धीमे आना। हम लोग लम्बे-लम्बे विहार कर आचार्यवर के पास शीघ्र पहुंच रहे है। मुनिवर एक साधु को साथ ले आगे बढ गये। आपने एक संकल्प किया—आचार्यवर के दर्शन नही होगे तव तक मार्ग मे आने वाले गावो में एक दिन से अधिक नही रहूंगा। किसी भी गांव में दूसरे दिन न आहार करूंगा और न पानी पीऊंगा। इस संकल्प के साथ आपकी यात्रा शुरू हुई। जोधपुर, पाली होते हुए मेवाड़ पहुंचे। नाथद्वारा में एक रात का प्रवास कर उसके वाहरी भाग में गए। उधर आचार्यवर उदयपुर से विहार कर नाथद्वारा के वाहरी भाग मे पहुचे। मुनि जीतमल ने वही आचार्यवर के दर्शन किए। उन्होने अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया। आचार्यवर भी वहुत प्रसन्न हुए। सारा वातावरण उत्साह से भर गया। मुनिवर आचार्यवर के साथ फिर नाथद्वारा में आए। आचार्यवर ने मुनि जीतमल के युवाचार्यपद पर किए गए मनोनयन की घोषणा कर दी।[1] समूचे संघ में मुनि जीतमल की जय का स्वर गूज उठा। प्रसन्न था आकाश, प्रसन्न थी धरती, प्रसन्न था

---

१. ते. आ. ख. २ पृ ६२-६५ [जयसुजश, ढा० २२,२३]।

वातावरण। मुनि जीतमल के मनोनयन में कुछ वाधाएं थी। वाधाओं के बादल फट गए। इसलिए प्रसन्न था आकाश। वे सर्वसह थे इसलिए उनके मनोनयन से प्रसन्न थी सर्व संघभूमि। उनकी सृजनात्मक शक्ति और कृतित्व की सुरभि से सुरभित था वातावरण, इसलिए वह भी प्रसन्न था। प्रसन्नता की परिस्थिति में मुनि जीतमल अव युवाचार्यपद पर अभिषिक्त हो गए।

युवाचार्यपद की कसौटी—

आचार्य अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन करते है, यह कोई आकस्मिक घटना नही है। वे मनोनीत किये जाने वाले व्यक्ति का दीर्घ-काल तक परीक्षण करते है, उसे विभिन्न कसौटियों से कसते है। ऋषिराय ने अपने युवाचार्य को जिन कसौटियो से कसा था, वे ये है :—[१]

१. विनय और अनुशासन।
२. गण के प्रति वात्सल्य।
३. आचार-कुशलता, संयम-कुशलता।
४. प्रवचन की योग्यता।
५. गण के संचालन में निपुणता।
६. आवश्यक साधन-सामग्री के संकलन की क्षमता।
७. आचरणात्मक और क्रियात्मक क्षमता।
८. धैर्य।
९. पराक्रम।
१०. गम्भीरता।
११. गण के प्रति समर्पण।

गण-संचालन की क्षमता हर किसी में नही होती। उसके लिए विशेप योग्यता की अपेक्षा होती है। आगम साहित्य में उसकी छह कसौटिया वत-लाई गई हैं। गण का सचालन वही कर सकता है जो श्रद्धाशील होता है, सत्यवादी होता है, मेधावी होता है, वहुश्रुत होता है, शक्तिशाली होता है,

---

१. नै. आ. ख्या. २, पृ. ८२ [जयसुजश, २५।८-१०]।

कलहरहित होता है।'[1]

आचार्यवर ने इन आगमिक मानको का उपयोग कर मुनि जीतमल को युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त कर दिया। आचार्यवर ने मुनि जीतमल का मनोनयन उनके परोक्ष में किया। इस मनोनयन की सबसे पहले जानकारी मुनि सरूपचंद को हुई, मुनि जीतमल को वाद मे हुई। वे पाच-छह मास तक अज्ञात अवस्था मे युवाचार्य रहे। अज्ञात के ज्ञात हो जाने पर सघ को एक आश्वासन मिला। कुछ व्यक्ति अन्यमनस्कता और संदेह को लिए हुए भी थे। कुछ लोग चाहते थे कि मुनि जीतमल को आचार्य पद न मिले, वह किसी दूसरे को मिले। कुछ व्यक्ति इस संदेह मे थे कि इतने वड़े-बडे साधुओं पर मुनि जीतमल कैसे अनुशासन कर पाएंगे? इन दोनो प्रतिक्रियाओं के साथ नियति जुड़ी हुई नही थी। उस नियति ने आचार्यवर ऋषिराय को आश्वस्त किया और मुनि जीतमल के भविष्य में शासन के विकास का प्रतिबिंब देखा।

---

१. ठाण ६।१ : छहिं ठाणेहिं सपण्णे अणगारे अरिहति गण धारित्तए, त जहा—सड्ढी पुरिसजाते, सच्चे पुरिसजाते, मेहावी पुरिसजाते, वहुस्सुते पुरिसजाते, सत्तिम, अप्पाधिकरणे।

१४

आचार्यपद का अभिषेक

जयाचार्य पन्द्रह वर्ष तक युवाचार्य अवस्था मे रहे। इस अवधि मे वे ऋषिराय के साथ बहुत कम रहे। उन्होने स्वतन्त्र विहार कर अनेक जनपदों को प्रतिबुद्ध किया। थली प्रदेश (तत्कालीन बीकानेर राज्य) मे उनकी प्रेरणा से धर्म की व्यापक चेतना जागृत हुई। आचार्यवर ऋषिराय ने सं० १९०८ का चातुर्मासिक प्रवास उदयपुर मे किया। चातुर्मास सम्पन्न होने पर आचार्यवर जनपद विहार करते-करते छोटी रावलिया पहुचे। उन्हे कभी-कभी श्वास का प्रकोप हो जाता था। माघ कृष्णा चतुर्दशी का दिन। आचार्यवर ने संध्याकालीन प्रतिक्रमण बैठे-बैठे किया। उनके शरीर मे कोई विशेष व्याधि नही थी, कोई विशेष उपद्रव नही था। सामान्य था स्वास्थ्य और शान्त था मानस। आयुष्य की समाप्ति ही उनके अवसान का कारण बनी। प्रतिक्रमण के पश्चात् सोने की इच्छा हुई। उन्होंने साधुओं से कहा—प्रमार्जनी लाओ। साधुओ ने वह प्रस्तुत कर दी। स्थान का प्रमार्जन कर वे लेट गए। लेटते ही पसीने से भीग गए, श्वास का प्रकोप बढ़ गया। उन्होंने कहा—अब तक सोने पर श्वास का प्रकोप नही होता था। आज यह पहली बार हुआ है। वे तत्काल बैठ गए। कुछ साधु उनके पीछे सहारा दिये बैठे थे। बैठे-बैठे वे महाप्रयाण कर गए। सं० १९०८ माघ कृष्णा चतुर्दशी, एक मुहूर्त रात्री के लगभग।[1] आचार्यवर का महाप्रयाण, युवाचार्य की अनुपस्थिति। आचार्यवर मेवाड में थे, युवाचार्य थली प्रदेश में। माघ के कृष्णपक्ष में युवाचार्यवर बीदासर में विराज रहे थे। माघ शुक्ला अष्टमी के दिन एक पत्र आया। उसमें समाचार था—

१ ते. आ. र २, पृ. ५५-५६ [ऋषिरायचरित ढा० १३]।

आचार्यवर ऋषिराय का माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन स्वर्गवास हो गया। आचार्यवर के स्वर्गवास का समाचार युवाचार्य को दस दिन के वाद मिला। सीमित संचार-साधनों की परिस्थिति मे इसे आश्चर्य नही कहा जा सकता।

आचार्यवर के स्वर्गवास का सवाद सुन युवाचार्य को मानसिक आघात जैसा लगा। उन्होने उस घटना को दृढ़ता के साथ सहा। उस सवेदना के अवसर पर युवाचार्य ने उपवास किया और आचार्यवर के प्रति श्रद्धासिक्त भावाजली समर्पित की। अब युवाचार्य सहज ही आचार्य हो गए। फिर भी औपचारिकता पूर्वक आचार्यपद पर आसीन होना अभी शेष था। माघ शुक्ला पूर्णिमा, वृहस्पतिवार, पुष्य नक्षत्र, विष्टिकरण, शुभ मुहूर्त और शुभ वेला मे चतुर्विध तीर्थ के समक्ष युवाचार्य आचार्यपद पर विराजमान हुए। उस समय साधु-साध्वियों ने उनका अभिनन्दन किया।

'जय जय नंद ! जय जय भद्र ! भद्रं ते।
अजित पर विजय पाएं, विजित की रक्षा करे।'

इस अभिनंदन पदावली का स्वर गूज उठा। जन-जन का मन उत्साहित हो गया। बीदासर के राजा भी उस पदारोहण समारोह मे उपस्थित थे। यह पदारोहण एक धर्माचार्य का था, इसलिए इसमे त्याग-वैराग्य के विकास का उपक्रम भी चला। मुनि रामजी ने जीवन-पर्यंत बेले-बेले की तपस्या (दो दिन का उपवास और तीसरे दिन आहार, फिर दो दिन का उपवास और तीसरे दिन आहार) का सकल्प लिया। अन्य लोगो ने भी नाना प्रकार के त्याग किए। आचार्यवर उस दिन अनेक घरो मे स्वयं गोचरी (आहार और वस्त्र लाने के लिए) गये। इससे जनता मे प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।[1] जयाचार्य आचार्यपद पर आसीन हुए उस समय उनके पास साधु-साध्वियों के वर्ग कम थे। वे आचार्यवर ऋषिराय के पास पहुचे हुए थे। वे ऋषिराय के स्वर्गवास के वाद जयाचार्य के पास नही पहुच पाए, उससे पहले ही युवाचार्य का आचार्य पदारोहण अभिषेक सम्पन्न हो गया। आचार्यवर वीदासर से विहार कर लाडणू पहुचे। वहा मेवाड़ से आने वाले साधु-साध्वियों के वर्गो ने आचार्यवर के दर्शन किए। वहा साधुओं की संख्या चालीस और साध्वियों की संख्या चवांलीस हो गई।[2] आने वाले साधुओ ने

१. ते. आ. ख. २, पृ. ११७-११८ [जयसुजश ३५।१-६]
२. ते. आ. ख. २, पृ. ११६ [जयसुजश ३६।दो.१-३]

असंतोष की भाषा मे कहा—'आप हमारे आने से पहले ही पदासीन हो गये। हमारे मन की वात मन मे रह गई।' आचार्यवर ने कहा—'तुम लोग होते तो क्या करते ?' साधु वोले—'हम पट्टोत्सव मनाते, अभिनंदन करते, नई चादर ओढाते।' आचार्यवर ने मुस्कराते हुए कहा—'ये सव तुम अव भी कर सकते हो। वात संपन्न हो गई। शोभाचन्दजी बैगानी ने प्रार्थना की—आचार्यप्रवर ! एक वार फिर वीदासर पधारें और वहां कोई वड़ा आयोजन करें। वे वड़े शासन-भक्त और समर्थ व्यक्ति थे। आचार्यवर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर सुजानगढ़ से वीदासर पधारे। वहा मेवाड़ से आए हुए साधु-साध्वियों ने पट्टोत्सव मनाया।

कुछ साधु सोचते थे—जयाचार्य का पदारोहण हमारी कुछ शर्त्तो को स्वीकारने के बाद ही हो सकेगा। किन्तु दूरदर्शी और नीतिज्ञ शास्ता ने ऐसा अवसर ही नही दिया। वे इस प्रकार के चिन्तन से अनभिज्ञ नही थे। उनकी अभिज्ञता और विज्ञता ने सूझ-बूझ से काम लिया। शर्त्त मनवाने की वात सोचने वाले साधुओं के आगमन से पूर्व ही पदारोहण-विधि संपन्न हो गई। इसके साथ उनके मानसिक स्वप्न भी संपन्न हो गए। जयाचार्य शर्तो के वारे में जानते थे। वे शर्त्तें संघ की एकता के लिए हितकर नही थी। आचार्यवर का ध्यान उन शर्त्तो में नही उलझा। उन्होने अपनी पूरी शक्ति संघ के विकास की दिशा मे लगा दी।

१५

संघ-विकास के सूत्र

जयाचार्य ने सघ के विकास के लिए बहुत प्रयत्न किया। उनमे प्रतिभा और कार्यक्षमता दोनों गुण विद्यमान थे। उनमें ध्यान-वल और मनोबल दोनों थे। इसलिए वे संघ-विकास के लिए निरंतर जागरूक रहे। संघ का विकास वही कर सकता है :—

(१) जो अश्रुत धर्मो को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए जागरूक रहता है।

(२) जो सुने हुए धर्मो के मानसिक ग्रहण और उनकी स्थिर स्मृति के लिए जागरूक रहता है।

(३) जो संयम के द्वारा नए कर्मो का निरोध करने के लिए जागरूक रहता है।

(४) जो तपस्या के द्वारा पुराने कर्मो का विवेचन और विशोधन करने के लिए जागरूक रहता है।

(५) जो असंगृहीत शिष्यों को आश्रय देने के लिए जागरूक रहता है।

(६) जो नवदीक्षित मुनि को आचार का सम्यग् वोध कराने के लिए जागरूक रहता है।

(७) जो ग्लान की अग्लानभाव से सेवा करने के लिए जागरूक रहता है।

(८) जो साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर ये मेरे सार्धमिक किस प्रकार अपशब्द, कलह और तू-तू मै-मैं से मुक्त हों—ऐसा चिंतन करते हुए लिप्सा और अपेक्षा रहित होकर, किसी का पक्ष न लेकर, मध्यस्थभाव को स्वीकार कर, उसे उपशात करने के लिए जागरूक रहता है।[1]

---

१ ठाण, ८।१११।

संघ की अनेकपरम्पराएँ होती है, उसके विधि-विधान होते है। उनके प्रति उपेक्षा नही वरती जाती तभी संघ फूलता-फलता है। उसी आचार्य के नेतृत्व में संघ फूलता-फलता है :—

(१) जो संघ में आज्ञा व धारणा का सम्यक् प्रयोग करता है।

(२) जो संघमें छोटे-वड़े के क्रमसे वन्दना का सम्यक् प्रयोग करता है।

(३) जो जिन सूत्र-पर्यायों को धारण करता है उनकी उचित समय पर संघ को सम्यक् वाचना देता है।

(४) जो संघ के ग्लान तथा नवदीक्षित-साधुओं की यथोचित सेवा के लिए सतत जागरूक रहता है।

(५) जो संघ को पूछकर अन्य प्रदेश में विहार करता है।

(६) जो संघ के लिए अनुपलब्ध उपकरणों को यथाविधि उपलब्ध करता है।

(७) जो संघ में प्राप्त उपकरणों का सम्यक् प्रकार से संरक्षण तथा संगोपन करता है, विधिका अतिक्रमणकरसंरक्षणऔरसंगोपन नही करता।[1]

जयाचार्य ने संघ-विकास के सूत्रों को क्रियान्वित किया था, इसलिए वे संघ को प्रगति की दिशा में ले जा सके। प्रगति के पथ पर चलना सहज-सरल नही होता। उसके लिए सपन्नता आवश्यक होती है। आचार्य के लिए आठ प्रकार की संपन्नता उपेक्षित है :—

(१) आचारसंपदा—संयम की समृद्धि।
(२) श्रुतसंपदा—श्रुत की समृद्धि।
(३) शरीरसंपदा—शरीर-सौन्दर्य।
(४) वचनसंपदा—वचन-कौशल।
(५) वाचनासंपदा—अध्यापन-पटुता।
(६) मतिसंपदा—वुद्धि-कोशल।
(७) प्रयोगसंपदा—वाद-कौशल।
(८) संग्रहपरिज्ञा—संघ-व्यवस्था मे निपुणता।[2]

जयाचार्य शारीरिक सौन्दर्य से अविक सपन्न नही रहे होंगे, किन्तु उनका आन्तरिक सौन्दर्य अनुपम था। उनकी संपन्नता की तुलना मे कोई खड़ा रह सके वैसा व्यक्ति खोजने पर कठिनाई से मिलेगा।

१. ठाण ७।६
२. ठाण ८।१५

१६

अनुशासन

आचार्य के दो परिषदे होती है—अंतरंग और बाह्य। अंतरंग परिषद् के सदस्य होते है—साधु और साध्विया। वाह्य परिषद् के सदस्य होते हैं—गृहस्थ। ऋषभदासजी मोदी गृहस्थ थे फिर भी अपनी प्रगाढ श्रद्धा और समर्पण के कारण वे अतरग परिषद् के सदस्य वन गए थे। जयाचार्य का विशिष्ट अनुग्रह उन्हें उपलब्ध था। एक दिन वातचीत के प्रसंग मे जयाचार्य ने कहा—सब संत ठीक है। वे जैसे ऋषिराय के प्रति व्यवहार करते थे वैसा ही व्यवहार अब मेरे साथ कर रहे है। मोदीजी ने कहा—वहुत अच्छी वात है। गुरुदेव! पर मैं एक कहानी सुनाना चाहता हू। एक जागीरदार के नौकर का नाम था शंभू। वह जागीरदार के मुह लगा हुआ था। जागीरदार के कपड़ो और गहनों की व्यवस्था उसके जिम्मे थी। वह मौका देख कभी कपड़े और कभी गहने चुरा अपने घर ले जाता। कपड़े और गहने न मिलने पर कहता—उन कपड़ो और गहनों को चूहे ले गए। जागीरदार जानता था उसकी दुर्बलता को, पर वह था मुंहलगा और कृपापात्र। इसलिए वात आगे नही वढती, वहीं समाप्त हो जाती। जागीरदार वूढा था। एक दिन वह वीमार हो गया। उसे अपना महाप्रयाण सामने दीखने लगा। उसने शंभू से कहा—अव मेरा पुत्र पदमसिंह गद्दी वैठेगा। उसका स्वभाव वड़ा तेज है। अव तू अपने चूहों को समझा देना, अन्यथा वह छठी का खाया हुआ निकाल लेगा। शंभू की आदत वदल गई। वह साहूकार हो गया।

मोदीजी ने कहा—आपका अनुशासन वहुत प्रभावी है। कोई शंभू था वह भी वदल गया है।[1]

---

१. ते. आ. ख. २, पृ. १२८ [जयसुजश, अन्तर्गत ४०।१-३]।

जयाचार्य अनुशासन के पक्ष में सदा सतर्क रहे। यह सतर्कता कठोरता या कोमलता से परे का तत्त्व है। कठोरता के पीछे कष्ट देने की नीति होती है। सतर्कता के पीछे केवल व्यवस्था वनाए रखने की नीति होती है।

सं० १९३८ की घटना है। जयाचार्य जयपुर मे विराज रहे थे। जीवन का अंतिम वर्ष चल रहा था। संघीय-व्यवस्था का संचालन युवाचार्यश्री कर रहे थे। आचार्यवर का अधिकतम समय स्वाध्याय-ध्यान मे ही लग रहा था। सायंकालीन प्रतिक्रमण प्रारंभ हो गया। युवाचार्यश्री आचार्यवर के पास ही बैठे थे। एक साधु [जुहारजी] शौचार्थ वाहर जंगल मे गया था। वह लौटा तब तक कुछ अंधेरा हो गया। युवाचार्यश्री ने कहा—'इतनी देर कैसे की ? सूर्यास्त कब-का हो चुका, जल्दी आना चाहिए ? भविष्य मे ध्यान रखना। आज देरी की उसके लिए पांच कल्याणक (प्रायश्चित्त का एक माप विशेष) स्वीकार करो।'

साधु बोला—'दैहिक आवश्यकता है। देरी हो गई उसका मै क्या करूं ? मैं प्रायश्चित्त स्वीकार नही करूंगा।'

युवाचार्यश्री मौन रहे। जयाचार्य ने ध्यान संपन्न कर उस साधु को बुलाया। 'प्रायश्चित्त स्वीकार नही करोगे, यह निर्णय है तुम्हारा?'—आचार्यवर ने पूछा। 'क्या यह अनुशासन की अवहेलना नही है ? तुमने अनुशासन का भंग किया है, इसलिए मै तुम्हारा संघ से संबंध-विच्छेद करता हू।' उस साधु ने सोचा नही था कि अनुशासन-भंग का यह परिणाम होगा।

१७

आत्मानुशासन और अनुशासन का समन्वय

महात्मा गांधी ने कहा था—वैयक्तिक स्वतंत्रता को अस्वीकार कर सभ्य समाज का निर्माण नही किया जा सकता। साथ-साथ यह भी कहा—अवाध व्यक्तिवाद वन्य पशुओ का नियम है। स्वतंत्रता और नियंत्रण के वीच एक सीमा-सेतु है। व्यक्ति और समाज दोनों की निश्चित मर्यादा है। हम सापेक्षदृष्टि का प्रयोग नही करते इसलिए या तो नितांत स्वतंत्रता के पक्षधर वन जाते है या परतंत्रता के, या तो नितांत व्यक्तिवादी वन जाते है या नितांत समाजवादी। अच्छी व्यवस्था के लिए अपेक्षा है स्वतंत्रता और समाजवाद के समन्वय की। समन्वय नही हो रहा है, यह सचाई है। इसका कारण मानवीय दुर्बलता है। सत्ता पर अधिकार होने के वाद शासक की दृष्टि में नियंत्रण का अतिरिक्त मूल्य हो जाता है। सत्ता की पकड़ शिथिल न हो, इस दृष्टि से वैसा करना स्वाभाविक भी है। इस स्थिति में समाजवाद व्यक्तिवाद से प्रभावित हो जाता है, स्वतंत्रता नियंत्रण के भार से दव जाती है, स्वतंत्रता और समाजवाद दोनो का समन्वय हो नही पाता।

जयाचार्य इस समन्वय के सफल प्रयोगकार थे। उन्हे वैचारिक स्वतंत्रता का पक्ष आचार्य भिक्षु से विरासत मे मिला। समानता पर आधारित व्यवस्थाओ को उन्होने स्वयं विस्तार दिया। आज का तेरापथ वैचारिक समृद्धि और समत्व-प्रतिष्ठित व्यवस्था—दोनो से संपन्न है।

आत्मानुशासन मर्यादा की मर्यादा है। मनुष्य को अमर्यादा से मर्यादा मे जाना होता है फिर मर्यादा से अमर्यादा मे। मर्यादा एक मध्य विराम है।

मर्यादा की मर्यादा है—चेतना की जागरूकता।

मर्यादा की मर्यादा है—प्रज्ञा, तपस्या और साधना।

मर्यादा की मर्यादा है—सौहार्द, शान्ति, सचाई और संतुलन।

मर्यादा की मर्यादा है—अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, सापेक्षता।

मर्यादा की मर्यादा है—बाहर की आवाज भीतर तक पहुचे और भीतर की आवाज बाहर आए, व्यवहार और आचरण को प्रभावित करे।

मर्यादा की मर्यादा है—अनुशास्ता तपस्वी है और अनुशासित भी तपस्वी है।

उस समय प्रतिदिन प्रातःकाल मर्यादापत्र का वाचन होता था। गुरुवार (सं० १९२६ आश्विन शुक्ला दसमी) के दिन चतुर्विध संघ की उपस्थिति में मर्यादा-पत्र का वाचन हो रहा था। उस समय जयाचार्य ने कहा—इस शासन में बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएं है—

१. एक ही आचार्य के नाम सब शिष्य-शिष्याओं की दीक्षा होगी।

२. सब एक ही आचार्य की आज्ञा में रहेगे।

३. काम का संविभाग, बोझ का संविभाग, आहार का संविभाग होगा।

एक तो मैं आहार की पांती से मुक्त हूं। सरूपचंदजी स्वामी को मैने उससे मुक्त किया है। मघजी मेरे उत्तराधिकारी है, इसलिए वे उससे मुक्त है। साध्वियों में केवल गुलाबांजी को मैने उससे मुक्त किया है। और किसी को भी मैने उससे मुक्त नही किया है।[1]

मर्यादा सब पर लागू होती है, यह उसकी व्यापकता है। कुछ व्यक्तियों को उनकी विशिष्ट मर्यादाशीलता के कारण अमुक अमुक मर्यादा से मुक्त भी किया जा सकता है। यह मर्यादा का लचीलापन है। मर्यादा व्यापकता और लचीलेपन के कारण अधिक उपयोगी बनती है।

अनुशासन और आत्मानुशासन का समन्वय हर कोई नही कर सकता। वही कर सकता है जो देश-काल को जानता है। वर्तमान परिस्थिति को नही जानने वाला अनुशासन कैसे कर सकता है और आत्मानुशासन को कैसे जगा सकता है ? वर्तमान को समझने का अर्थ शाश्वत सत्यों की उपेक्षा

---

१. प्राचीन पत्र, उपदेश पत्र, मञ्जा ३८

नही हो सकता। जयाचार्य बड़े सहिष्णु थे। जो क्षमा करना नही जानता वह कैसे अनुशासन कर सकता है और कैसे आत्मानुशासन को जागृत कर सकता है ? अनुशास्ता को समय के साथ बोलना होता है और समय के साथ मौन रहना होता है। जो समय पर मौन रहना नही जानता, वह कैसे अनुशासन कर सकता है और कैसे आत्मानुशासन को जगा सकता है ? अनुशासन और आत्मानुशासन का सूत्र है—अनुशास्ता अपनी क्षमता को जगाए, समता को जगाए और ममता को जगाए।

१८

अनुशासन के नये आयाम

बीज बोने पर पेड़ होता है, फूल और फल अपने आप हो जाते है। जो माली अनुशासन का बीज बोना जानता है वह अनुशासन के फल को उपलब्ध हो जाता है। जो सीधा अनुशासन लाना चाहता है वह वैसे ही असफल होता है जैसे संतरे का बीज बोए बिना कोई संतरा चाहता है। आचार्य भिक्षु अनुशासन का बीज वोने में बहुत दक्ष थे। उन्होने अपने साधु-साध्वियो मे साधुत्व और साधु-संघ के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा पैदा की। अनुशासन अपने आप फलित हो गया। श्रद्धा अनुशासन का मूल बीज है।

उन्होंने साधु-साध्वियों को धृति का पाठ पढ़ाया। अनुशासन अपने आप फलित हो गया। धृति अनुशासन का वीज वोने के लिए उर्वरा है।

उन्होंने अपने साधु-साध्वियों को कष्ट-सहिष्णुता का सूत्र सिखाया। अनुशासन अपने-आप फलित हो गया। कष्ट-सहिष्णुता शीतल जलधारा है। उसका स्पर्श पा अनुशासन का वीज अंकुरित हो जाता है।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के पदचिन्हों पर चले। उन्होने श्रद्धा, धृति और कष्ट-सहिष्णुता को द्विगुणित करने का प्रयत्न किया, अनुशासन के फल को सुरक्षित रखने के लिए व्यवस्था के वातानुकूलित भवन का निर्माण किया।

मर्यादा-सूत्रो का वाचन

आचार्य भिक्षु ने साधु-संघ के लिए अनेक मर्यादा-पत्र लिखे। जयाचार्य ने उनके आधार पर गण-विशुद्धि करने वाले अठाईस मर्यादा-सूत्रों का

निर्माण किया। उन सूत्रों का वाचन परिषद् के बीच साधु-साध्वियों की हाजरी (उपस्थिति) मे किया जाता था, इसलिए उनका नाम 'गणविशुद्धि-करण' हाजरी रखा गया। मर्यादा-सूत्रों का वाचन एक कार्यक्रम वन गया। सं० १९१० में जयाचार्य रावलियां (मेवाड) में थे। वहां पौष कृष्णा नवमी के दिन मर्यादा-सूत्रों के वाचन का क्रम प्रारंभ किया गया। प्रातःकालीन व्याख्यान में सव साधु खड़े होकर उन्हे सुनते।[1] यह क्रम एक मास तक चलता रहा। जयाचार्य ने एक स्वप्न देखा—साधु खड़े-खड़े मर्यादा-सूत्रों को सुनते है। परिषद् को दर्शन नही होता। इसलिए सब साधु बैठे-बैठे उन्हें सुने तो अच्छा रहे।[2] वे स्वप्न-शास्त्र, शकुन-शास्त्र और ज्योतिष विद्या के मर्मज्ञ थे। उन्होंने स्वप्न की भाषा को समझा और साधुओं को बैठे-बैठे मर्यादा-सूत्र सुनने का निर्देश दे दिया।

लंबे समय तक प्रतिदिन प्रातःकालीन व्याख्यान में मर्यादा-सूत्रों के वाचन का क्रम चला। जयाचार्य ने देखा, साधु-साध्वियों के अन्तर्मन में अनुशासन, व्यवस्था और संगठन का संस्कार जम गया है, तब उन्होंने मर्यादा-सूत्रों का वाचन सप्ताह में दो वार शुरू कर दिया। कभी-कभी वह पक्ष में एक वार होता था। इसका अपना महत्त्व स्थापित हो गया। मर्यादा-सूत्रों के वाचन के दिन जनता की उपस्थिति अधिक होती, अन्य संप्रदायों के लोग भी उसे सुनने के लिए बड़े लालायित रहते।[3] साधु-साध्वियों के वर्ग जो आचार्य से अलग विहार करते, उन्हें भी चतुर्दशी के दिन परिषद् में मर्यादा-सूत्रों के वाचन का निर्देश दिया गया। यह व्यवस्था तेरापंथ संघ को अनुशासित व संगठित रखने में वहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। मर्यादा महोत्सव जैसे अवसर पर जव पाच सौ साधु-साध्वियां पंक्तिवद्ध खड़े होकर मर्यादा के संकल्प को दोहराते है, वह दृश्य देखते ही वनता है।

लेखपत्र मे हस्ताक्षर

जयाचार्य ने अनुशासन को हृदयंगम कराने के लिए अनेक प्रयोग किए। आज तेरापंथ मे अनुशासन सहज है। किन्तु प्रारभ मे वह ऐसा नहीं था। वहुत लंवी साधना के वाद वह सहज वना। संघ से वाहर हो जाने

१. तें. आ. घ. २, पृ. १२६ [जयसुजश, ३९।६-८]।
२. तें. आ. घ. २, पृ. १२६ [जयसुजश, ३९।९-१०]।
३. तें. आ. घ. २, पृ. १३८ [जयसुजश, ४४।११]।

वाले साधु कहते—हम तो संकोचवश संघ में रह रहे थे। हम संघ के साधु-साध्वियों को साधु नही मानते थे, अपने आप को भी साधु नहीं मानते थे। साधकों में भी एक प्रकार की विचित्र मनोवृत्ति पल जाती है। वे दूसरों को हीन बताने में तथा उन्हें हीन वतलाने के लिए अपने आप को भी हीन बतलाने में रस लेने लग जाते हैं। जयाचार्य ने इस समस्या को सुलझाने के लिए लेखपत्र में प्रतिदिन हस्ताक्षर करने की प्रणाली चालू की। साध्वियो में यह समस्या उभरी नही थी। इसलिए लेख-पत्र में हस्ताक्षर करने की अनिवार्यता केवल साधुओं के लिए ही थी। यह लेखपत्र उच्छृंखल मनोवृत्ति वालों के लिए धर्म-संकट बन गया।

गतद्दिवस-वार्ता निवेदन

साधुचर्या के कुछ मौलिक आधार होते है। दिन आते है और चले जाते हैं। भोजन-पानी साधु के लिए भी आवश्यक होते है। उसके लिए आवश्यकतम होती है जागरूकता। साधु की चर्या है :—

१. चार बार स्वाध्याय करना।

२. स्थान से बाहर जाए तव 'आवश्यक कार्य से जा रहा हूं', इस संकल्प का उच्चारण करना। वापस स्थान पर आए तब 'मैं आवश्यक कार्य से निवृत्त हो चुका हूं', इस संकल्प का उच्चारण करना। गमनागमन की प्रवृत्ति की, तदर्थ कायोत्सर्ग करना।

३. एक पहर रात्रि से पहले न सोना, दिन में न सोना।

४. स्त्रियों और साध्वियों से विना प्रयोजन वातचीत न करना। साध्वियों की चर्या है—पुरुषों और साधुओं से विना प्रयोजन वातचीत न करना।

५. प्रतिदिन लेखपत्र दोहराना।

यह जागरूकता की चर्या है। साधु के लिए इसका अनुशीलन आवश्यक है। स्वाध्याय की विस्मृति हो सकती है। अस्वस्थ-दशा मे दिन में सोना पड़ सकता है। प्रयोजनवश स्त्रियों से, पुरुषों से वातचीत की जा सकती है। प्रयोजनवश चर्या में होने वाला परिवर्तन आचार्य के ध्यान में रहे, जिससे कि वे अनावश्यक परिवर्तन का नियमन कर सके। इस दृष्टि से गत-दिवस-वार्ता सुनाने की व्यवस्था की गई। पहले दिन जैसी चर्या रहे वैसी दूसरे दिन आचार्य को निवेदित कर देना, इसका सांकेतिक शब्द है 'गतदिवस-वार्त्ता निवेदन'। यह व्यवस्था आज भी चालू है। आहार के पश्चात् आचार्य के टहलने का ममय होता है। उस अवधि में यह कार्यक्रम संपन्न हो जाता है।

१९

मर्यादा महोत्सव

उत्सव एक प्रेरणा है प्रगति की और प्राण का प्रवाह है जीवन की सरिता में। जयाचार्य ने तेरापंथ में उत्सवों की स्थापना की। उस समय के कुछ साधुओं ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा—'उत्सव मनाना निषिद्ध है। साधु उत्सव नही मना सकते।' जयाचार्य ने इसका समाधान दिया। उनका कहना था—'साधु गृहस्थ की भाति उत्सव नही मना सकते, किन्तु अपने ढंग से तो मना सकते है। साधु के लिए जो करणीय नही है उसका निषेध हो सकता है पर करणीय का निषेध कैसे हो सकता है? आचार्य-वंदना का निषेध कैसे हो सकता है? अनुशासन के अभिवर्धन का निषेध कैसे हो सकता है?' जयाचार्य का वहुश्रुत और समर्थ व्यक्तित्व शब्द की उलझन से ऊपर था। इसलिए कोरे शब्द की पकड़ उसे प्रभावित नही कर पाई। आचार्य भिक्षु तेरापंथ के प्रवर्तक थे। जयाचार्य के परम इष्ट और परम गुरु। उनका स्वर्गवास भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। उस दिन आचार्य भिक्षु का चरमोत्सव मनाने की परंपरा का सूत्रपात किया। इसका प्रारंभ संभवतः १९१४ की भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ। यह आज भी वड़ी गरिमा के साथ मनाया जाता है।

जयाचार्य मालवा की यात्रा करते हुए इंदोर पहुचे। सं० १९११ की घटना है। सर्दी का मौसम था। उस समय वहत्तर साधु-साध्विया आचार्यवर की सन्निधि में उपस्थित थे।[1] आचार्यवर माघ शुक्ला पूर्णिमा को पट्टासीन

१. ते. आ. व. २, पृ. १३२ [जयसुजश, ४२।११]।

हुए थे। कुछ साधुओं के मन में एक कल्पना जागी—पूर्णिमा के दिन आचार्य-वर की वंदना की जाए। उन्होंने अपनी भावना आचार्यवर के सामने प्रस्तुत की। उनकी प्रगाढ़ भावना अस्वीकृत नहीं हुई। माघ पूर्णिमा को आचार्य-वंदना का कार्यक्रम रखा गया। वह परंपरा स्थायी हो गई।[1] आज भी वर्तमान आचार्य का पट्टोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है।

माघ का महीना तेरापंथ के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ संघ का पहला मर्यादा पत्र सं० १८३२ मृगसर कृष्णा सप्तमी को लिखा था। बीच-बीच में कई मर्यादा-पत्र लिखे। अंतिम मर्यादा-पत्र उन्होंने सं० १८५९ माघ शुक्ला सप्तमी को लिखा। भारमलजी स्वामी का उसी मास में स्वर्गवास हुआ था। ऋषिराय का पदारोहण और स्वर्गवास—दोनों उसी मास में हुए थे। उसी मास की पूर्णिमा के दिन जयाचार्य का पदारोहण हुआ था। जयाचार्य ने माघ मास और उसकी सप्तमी को मर्यादा महोत्सव के लिए चुना। उनके शब्दों में यह दिन तेरापंथ के लिए मंगलमय है।

माघ शुक्ला सप्तमी के दिन पट्टोत्सव और मर्यादा महोत्सव—दोनों मनाए जाते थे। कुछ वर्षों बाद केवल मर्यादा महोत्सव ही मनाया जाने लगा। उसे मनाने की पद्धति पहले ही शुरू हो गई थी। उसका विधिवत् स्वरूप सं० १९२९ बालोतरा (जिला वाड़मेर) से प्रारंभ हुआ। घटना इस प्रकार घटी—पचपदरा के श्रावकों की प्रार्थना पर जयाचार्य ने पट्टोत्सव वहां मनाने की घोषणा कर दी। बालोतरा के श्रावक उसे अपने यहां मनाने का आग्रह कर रहे थे। घोषणा हो जाने पर भी उनका आग्रह कम नहीं हुआ। वह और अधिक वल पकड़ता गया। तव जयाचार्य ने माघ शुक्ला सप्तमी के दिन मर्यादा महोत्सव वालोतरा में मनाने की घोषणा की। वह कार्यक्रम वहुत सफल रहा। तव उसे वैधानिक रूप मिल गया। अव वह मर्यादा महोत्सव तेरापंथ के संगठन का आधार तत्त्व वना हुआ है। संगठन के आधारभूत तत्त्व होते हैं—

१. संगठन के सदस्यों का सम्मिलन, संगोष्ठी और विचारों का विनिमय।

२. वर्तमान की समस्याओ पर विचार-विमर्श और उनके समाधान की खोज।

---

१. ते. वा. ग. २, पृ. १३२ [जयसुजश, ४२।१२]।

३. संगठन के नेता द्वारा अनुशासन और व्यवस्था की देखभाल, कमियों का संशोधन और भविष्य के लिए जागरूकता का निर्देश।

४. नेता के प्रति श्रद्धापूर्ण समर्पण।

५. मर्यादाओं या अनुशासन-सूत्रों के प्रति आस्था की व्यंजना और उनका संकल्पपूर्वक पुनरावर्तन।

मर्यादा महोत्सव के साथ ये सभी आधार-तत्त्व जुड़ गए। चातुर्मास की समाप्ति होने पर साधु-साध्वियों के सभी वर्ग आचार्य की दिशा में प्रस्थान कर देते हैं। आचार्य के दर्शन कर अपने सहवर्ती साधुओं या साध्वियों तथा पुस्तकों और स्वयं का समर्पण करते हैं। वर्ग के मुखिया अपनी-अपनी वार्षिकचर्या का लिखित विवरण आचार्य को प्रस्तुत करते है। आचार्य उसका गहराई से अध्ययन कर सारी स्थिति को अपने ध्यान मे ले लेते है। प्रत्येक वर्ग को अपने पास बुला, पारस्परिक व्यवहार और आचार-विचार और मर्यादा-पालन के संबंध में पूछताछ करते है। खामियो के लिए प्रायश्चित्त देते है और विशेष उपलब्धि के लिए प्रोत्साहन। अध्ययन-अध्यापन की जानकारी लेते है। मर्यादा का यह महान् पर्व वार्षिक महास्नान जैसा होता है। इसमें अतीत की शुद्धि, वर्तमान में भारहीनता और भविष्य के लिए नई पुष्टि मिल जाती है।

इस अवधि में विचार-मंथन का क्रम भी चलता है। जो भी विमर्शनीय विषय होते है, उस पर विमर्श करने के लिए आचार्य द्वारा वहुश्रुत साधुओं तथा साध्वियों की एक समिति नियुक्त हो जाती है। वह समिति विचार-मंथन से प्राप्त निष्कर्ष आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करती है। आचार्य स्वीकृति योग्य विषय पर अपनी स्वीकृति देकर उसे क्रियान्वित कर देते हैं और जो स्वीकृति योग्य नही लगता उसे फिर चिंतन के लिए छोड़ देते हैं।

इस संगम के समय अध्ययन-अध्यापन की प्रेरणा दी जाती है। वक्तृत्व, कविगोष्ठी, समस्यापूर्ति, साहित्यगोष्ठी, प्रेक्षा ध्यान, शिक्षा विषयक अनेक कार्यक्रम आयोजित होते है। इस प्रकार यह दो मास का समय विविध आकर्षणो का केन्द्र होता है।

सप्तमी के आसपास एक दिन साधु-साध्वियों की सामूहिक शिक्षा का आयोजन होता है। उसमें आचार्य अलग विहार करने वाले साधु-साध्वियों को विदाई-संवल देते है। अगले वर्ष में करणीय कार्य का निर्देश पाकर सभी

साधु-साध्वियां अपने आप को लाभान्वित अनुभव करती हैं। इसी समय एक मर्यादापत्र के वाचन का कार्यक्रम होता है। उसे 'वड़ी हाजरी' कहते हैं। मर्यादापत्र वाचन के बाद साधु-साध्वियां दीक्षापर्याय के क्रम से पंक्तिवद्ध खड़े होकर मर्यादा-पालन की शपथ को दोहराते हैं। वह श्वेत पंक्ति और उसका लयवद्ध घोष सचमुच मनोहारी होता है। माघ शुक्ला सप्तमी के दिन मर्यादा महोत्सव का मुख्य आयोजन होता है। उस दिन आचार्य भिक्षु-स्वामी द्वारा लिखित मर्यादापत्र का वाचन करते है, मर्यादा के महत्त्व को समझाते है तथा साधु-साध्वियां और श्रावक समाज भी मर्यादा के विषय मे अपने भाव प्रगट करते है, संघ और संघपति के प्रति अपनी विनम्र भावांजलि समर्पित करते हैं। उस दिन आचार्य अलग विहार करने वाले साधु-साध्वियों के वर्गो के चातुर्मासों की घोषणा करते है। अनुशासन और संगठन का नयनाभिराम दृश्य देखते ही वनता है।

तेरापंथ की संघीय व्यवस्था की प्राणप्रतिष्ठा में जयाचार्य के चिंतन और पराक्रम का महान् अवदान है। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य के दूर-दर्शी उपक्रमों से आज हमारा संघ आकार में छोटा होते हुए भी प्रकार में वहुत वड़ा है। हम आकार की अपेक्षा प्रकार में अधिक विश्वास करते है। जव-जव इस संघ के प्रकार की प्रशस्ति होती है तब-तव अनायास उस आचार्य-युगल की स्मृति हो आती है। हम उनके प्रति श्रद्धानत हो जाते है।

२०

अनुशासन के आधार

अनुशासन के पांच आधार होते हैं—

१. व्यक्तिगत स्वतंत्रता और नियंत्रण की सीमा।

२. वैचारिक स्वतंत्रता और संयम की सीमा।

३. सहिष्णुता।

४. हृदय परिवर्तन में आस्था और स्वभाव-परिवर्तन में आस्था।

५. अप्रतिबद्धता।

संघ के हर सदस्य को सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया जाता है। आचार्य का यह एक विशिष्ट गुण होता है। इसीलिए इतना वड़ा संघ एक अनुशासन में चलता है। संघ का कोई सदस्य विरोधी विचार भी आचार्य के सामने रख सकता है। यह उसे अधिकार है। किन्तु हर किसी के सामने वैसा विचार रखने का उसे अधिकार नही है। आचार्य विरोधी विचार को सुनते है और उसका समाधान देते हैं। विरोध की चेतना समाप्त हो जाती है, कष्ट झेलने की क्षमता क्षीण हो जाती है, विरोधी विचार सुनने की शक्ति नही होती, सहिष्णुता नही होती तव संगठन निर्जीव हो जाता है। अनुशासन की सफलता का सवसे वड़ा रहस्य है व्यक्ति की आंतरिक चेतना को वदलने का उपक्रम। उसको वदले विना कोई भी व्यवस्था-परिवर्तन सफल नही हो सकता। इस दिशा में जयाचार्य के प्रयत्न वहुत उल्लेखनीय हैं। उन्होंने साधु-साध्वियों को प्रोत्साहन दिया; अपनी विनम्रता, मृदुता और उदारता से उनका हृदय जीता। फलतः अनुशासन का कल्पतरु शतशाखी हो गया।

अप्रतिवद्धता अनुशासन का सवसे महत्त्वपूर्ण आयाम है। जयाचार्य

ने इसे बहुत सूक्ष्म-दृष्टि से देखा। उन्होंने साधु-साध्वियों के जनपद-विहार की ऐसी व्यवस्था की, जिससे कोई भी क्षेत्र किसी एक ही साधु या साध्वी से प्रतिबद्ध न रहे, किसी एक का प्रभाव-क्षेत्र न वने, किन्तु वह सभी साधु-साध्वियों का प्रभाव-क्षेत्र रहे।

एक बार ऋषिराय ने कुछ साधुओं को विहार-पट्टी (स्थायी विहार-क्षेत्र) देने का वचन दिया। उस समय जयाचार्य युवाचार्य अवस्था मे थे। उन्हें ऋषिराय का वह वचन संघ की एकसूत्रता के हित मे नही लगा। उन्होने ऋषिराय से प्रार्थना की—'स्थायी विहार-क्षेत्र देने से क्या अपना व्यक्तिगत प्रभाव जमाने का प्रयत्न नही होगा ? क्या अलग-अलग संप्रदाय नहीं बन जाएंगे ? क्या एक के प्रभाव-क्षेत्र में दूसरे साधु का जाना समस्या-पूर्ण नही बन जाएगा ?' ऋषिराय ने अपने युवाचार्य की बात पर ध्यान दिया। वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई। उन्होंने संक्षिप्त उत्तर मे उसका समाधान दे दिया। वे बोले—"मैंने विहार-पट्टी देने का वचन दिया है। क्षेत्रों के नाम नही खोले है। चोटी तो तेरे ही हाथ में रहेगी।'

युवाचार्य और ऋषिराय के वीच जो वार्तालाप हुआ वह युवाचार्य ने स्थान पर आकर लिख लिया। लिखने से पहले उन्होंने आहार भी नही किया। गुरु और शिष्य के वार्तालाप का स्थान था वीठोड़ा गाव का वाहरी तालाव, उसके पास एक पेड़, उस पेड़ की छाया में। वार्तालाप का समय था सं० १९०२ पौष कृष्णा ११ गुरुवार। पहला प्रहर पूर्ण हो गया था, दूसरे प्रहर का आरंभ हो रहा था।

जयाचार्य आचार्य वन गए। मुनि छोगजी ने प्रार्थना की—ऋषिराय ने वचन दिया था विहार-पट्टी का। अव कृपया उसका निर्देश दें। जयाचार्य ने कहा—तुम नागौर-पट्टी में विहार करो। वे नागौर-पट्टी नही चाहते थे। उन्होने कहा—कोई दूसरी पट्टी दे। जयाचार्य ने कहा—दूसरी पट्टी देने का भाव नही है। वे चले गए। कुछ देर वाद आकर वोले—अच्छा नागौर-पट्टी में ही विहार करने की अनुमति दें। जयाचार्य ने कहा—अव वह भी नहीं। वह समय वीत चुका। पहले तुम तैयार नही थे वहा जाने को। अव मैं तैयार नही हूं वहाँ भेजने को। चर्चा समाप्त हो गई। जयाचार्य का लक्ष्य पूरा हो गया। प्रतिवद्धता के वीज का वपन हुआ ही नही।

आचार्य भिक्षु ने क्षमा का कीर्तिमान स्थापित किया था। पर अनु-

शासन के क्षेत्र में उन्होंने किसी को क्षमा नहीं किया। जयाचार्य भी उन्हीं के पदचिन्हों पर चले। उन्होंने शिक्षापद में लिखा—आचार्य उन्ही साधु-साध्वियों का सम्मान बढाएं जो अनुशासन को सह सके। दूसरों के सामने अनुशासन देने पर जो मुरझा जाते हैं, उनका सम्मान बढ़ाना खतरे से खाली नहीं होता। खामी होने पर आचार्य अग्रणी साधु-साध्वियों को भी परिषद् मे उलाहना दे सकते है। उसे झेलने की क्षमता हो तो अग्रणी बनें। मै पहले चेता देता हूं, फिर मत कहना कि हमें चेताया नही गया। अनुशासन को सहना सभी साधु-साध्वियां सीखें, पर अग्रणी के लिए यह और अधिक आवश्यक है। वे जैसे व्याख्यान देना सीखते है वैसे ही अनुशासन को सहना सीखें।

जयाचार्य ने चातुर्मास की प्रतिबद्धता को भी समाप्त कर दिया। श्रावक चातुर्मास की प्रार्थना कर सकते है, पर किसी साधु या साध्वी का नाम लेकर चातुर्मास की प्रार्थना नहीं कर सकते। एक बार पाली (राजस्थान) के श्रावको ने जयाचार्य से प्रार्थना की—हमारे क्षेत्र में साधुओं का चातुर्मास दे। जयाचार्य को यह प्रार्थना उचित नही लगी। चातुर्मास के लिए साधुओ और साध्वियो का भेद क्यों? उन्होंने श्रावको को इंगित भी किया पर वे जयाचार्य के इंगित को समझ नही पाए, वे अपनी वात पर अड़े रहे। जयाचार्य ने उस समय चातुर्मास की स्वीकृति नही दी। पाली के श्रावक अपने नगर लौट आए। उन्हें विश्वास था कि हमारे नगर में साधु या साध्वी किसी का चातुर्मास जरूर होगा। चातुर्मास-प्रवास का समय निकट आ गया। फिर भी जयाचार्य ने पाली चातुर्मास की घोषणा नही की। आपाढ़ी पूर्णिमा विलकुल निकट आ गई। सब क्षेत्रो के चातुर्मास निश्चित हो गए। केवल पाली नगर ही वाकी रहा। अव श्रावकों के मन उद्वेलित हो गए। पाली मे चातुर्मास न हो, यह उन्हे मान्य नही हुआ। उन्होंने परस्पर परामर्श कर खेरवा मे एक संदेशवाहक भेजा। उसने खेरवा के श्रावकों को संदेश-पत्र दे दिया। उसमे समाचार था—जयाचार्य ने खेरवा में चातुर्मास-प्रवास करने वाली साध्वियो (चतुरांजी छोटा, तोसणी वाला, अग्रणी थी, उन्हे) को पाली मे चातुर्मास-प्रवास करने की आज्ञा दी है। अतः वे कल यहां पहुंच जाएं। आपाढ़ी चतुर्दशी को यह समाचार साध्वियों के पास पहुंचा। आपाढ़ी पूर्णिमा को दस मील की दूरी तय कर साध्वियां वहां पहुंच गई। श्रावण

के प्रथम दिन चातुर्मास-प्रवास का प्रारंभ हो गया। अब विहार नहीं हो सकता था।

पूर्णिमा का पाक्षिक प्रतिक्रमण संपन्न हुआ। स्थानीय श्रावकों ने साध्वियों से क्षमा-याचना की। उन्होंने सकुचाते हुए कहा—'आपको जयाचार्य की यहां चातुर्मास-प्रवास करने की आज्ञा का संवाद भेजा गया, वह सही नहीं है। हमसे यह अपराध हो गया है। उसके लिए हम क्षमा चाहते हैं।' साध्वियां इस अकल्पित कहानी को सुनकर सन्न रह गईं। उन्हे श्रावकों की बात पर विश्वास नही हुआ। क्या ऐसा हो सकता है? क्या श्रावक ऐसी भयंकर भूल कर सकते हैं? उनके मन में ये प्रश्न उभरने लगे। वे अनुशासनहीनता की घटना पर बहुत व्यथित हुई। उन्होंने एक निर्णय किया और श्रावकों के घर से आहार लेना और व्याख्यान देना बंद कर दिया। कुछ दिनों तक यह क्रम चालू रहा।

यह सं० १६१२ की घटना है। जयाचार्य उस वर्ष का चातुर्मास-प्रवास उदयपुर में कर रहे थे। पाली के कुछ प्रमुख श्रावक जयाचार्य के दर्शन करने वहां गए। प्रातःकालीन प्रवचन में समय प्राप्त कर उन्होंने अपनी प्रमादकथा आचार्यवर के सामने रखी और प्रार्थना के स्वर में कहा—'गुरुदेव! हम आपकी आज्ञा के चोर है, हमने अपराध किया है, आप जो चाहें वह दड हमें दें।'

स्वरशास्त्र की भाषा में जयाचार्य की शरीर रचना अग्नितत्त्व-प्रधान थी। अग्नितत्त्व की प्रधानता वाला व्यक्ति अनुशासन का प्रवर्तक होता है। अनुशासन प्रवर्तक को अनुशासन की इस प्रकार अवहेलना क्षम्य नही हो सकती। जयाचार्य के मन पर इसका बहुत प्रभाव हुआ। उन्होंने परिषद् के बीच उन श्रावकों को कड़ा उलाहना दिया। उन श्रावकों ने उसे बड़ी विनम्रता से झेला। वे बीच-बीच में बोलते रहे—'गुरुदेव! हमने बहुत बड़ा अपराध किया है, आपको और संघ को हमने धोखा दिया है। इसलिए आप जितना उलाहना दे उतना थोड़ा है। हम प्रार्थना करते हैं, हमें इसका ओ दंड दिया जाए।'

अनुशासन में अग्नितत्त्व और जलतत्त्व दोनों काम करते है। कोरा अग्नितत्त्व जला देता है और कोरा जलतत्त्व बहा देता है। एक से स्थितिस्थापन नही होता। गर्मी और सर्दी दोनों का योग ही ऋतुचर्या को स्वस्थ

बनाता है। उलाहना और प्रोत्साहन—ये दोनों मिलकर ही अनुशासन की गाड़ी को गतिशील बनाते हैं। कुछ दिनों तक पाली के श्रावक अपने अपराध के लिए क्षमा मांगते रहे। जयाचार्य उनकी अनुशासननिष्ठा की कसौटी करते रहे। उन्होंने अनुभव किया—कठोर अनुशासन करने पर भी इन की विनम्रता बढ़ी है। मनुष्य गलती कर सकता है पर जिसमें अनुशासन को सहने की क्षमता होती है वह गलती सुधार लेता है। जयाचार्य ने अनुभव किया—इन श्रावकों में अनुशासन की निष्ठा है, इसलिए अब ये प्रतिष्ठित होने योग्य हैं। उन्होने प्रवचन में परिषद् के बीच उनकी विनम्रता को सराहा, अनुशासन-प्रियता की प्रशंसा की और शिव की भांति आशुतोष बनकर अपना अगला चातुर्मास पाली में करने की घोषणा कर दी। सारी परिषद् इस दृश्य को चित्रवत् देखती रही। उस अकल्पित घोषणा ने सबको आश्चर्यचकित कर दिया। पाली के श्रावक आए थे अपने प्रमाद की क्षमा मागने के लिए और मिल गया आचार्यवर का चातुर्मास। यह थी विनम्रता की महिमा, यह थी अनुशासन-प्रियता की प्रतिष्ठा।

२१

अनुशासन और विसर्जन

वेष एक आधार है पहचान का। उससे गृहस्थ और मुनि की पहचान होती है। पर यह बाह्यदृष्टि की पहचान है। अन्तर्दृष्टि की पहचान का साधन दूसरा होता है। जिसमें अहंकार और ममकार सक्रिय होते है वह होता है गृहस्थ और जिसमें ये निष्क्रिय होते है, वह होता है मुनि। यह अंतर्दृष्टि की पहचान है। आचार्य भिक्षु ने इसी (अहंकार और ममकार-विसर्जन के) सूत्र को अपने अनुशासन का आधार वनाया। जयाचार्य ने उस सूत्र की बहुत मार्मिक व्याख्या की। उन्होंने लिखा[1]—अग्रणी साधु-साध्वियो ने अपने पास रहने वाले साधु-साध्वियों पर ममत्व करने का त्याग किया है और ममत्व-विसर्जन के लेखपत्र पर हस्ताक्षर किए है, इसलिए आचार्य जव चाहें तव किसी भी वर्ग से किसी भी साधु या साध्वी को लें तो मन में तनाव न आए और अग्रणी उसे आचार्य को न सौपे तव तक आहार न करे, पानी न पिए।[1] अग्रणी साधु या साध्वी का स्वर्गवास होने पर उनके सहवर्ती साधु या साध्वियां उनके पुस्तक-पन्ने आचार्य को सौंप दें, उन पर अपना अधिकार न जताएं।[2] कोई इस आकांक्षा से सेवा न करे कि सेवा से वह अग्रणी वन जाएगा। यह आवश्यक नही है कि सेवा करने वाले को अग्रणी वनाया जाए। इच्छा हो तो सेवा करना, अग्रणी वनने की इच्छा से सेवा मत करना।

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा री चोपाई १।११]

> ममत धणियाप करवा तणा, किया त्याग नैं अक्षर लिखाया।
> गुरु माग्या सूं मन न विगाडणो, सूप्या विन च्यारू आहार पचखाया॥

२. वही, [शिक्षा की चोपाई १।१७]

> सत सती सिंघाडावध तै, कदा पडित मरण सुपाया।
> सर्व पोथ्या गुरुद नै सूंपणी, मन सू धणियाप मिटाया॥

यह स्पष्ट चेतावनी है, फिर मत कहना, मैने सेवा की और मुझे अग्रणी नही वनाया।'[1] यदि तुम्हारे मन में अहंकार प्रबल हो तो अग्रणी मत बनना। गुरु अहंकार को पालते नही है। वे उस पर चोट करते है। क्या तुम में चोट को सहने की क्षमता है? अग्रणी की भूल मालूम पड़ने पर उसे परिषद् के वीच में उलाहना दिया जा सकता है। यदि उसे सह सको तो अग्रणी वनना, अन्यथा नहीं, फिर यह मत कहना—गुरुदेव! आप मुझे उलाहना दें, वह परिषद् के बीच में न दें, एकांत में दे। गुरु ऐसा करने के लिए बंधे हुए नही है, यह साफ-साफ समझ लेना। वे कभी-कभी कड़वी दवा भी दे देते है। जो साधु अग्रणी बनने की भावना रखता है और परिषद् में उलाहना देने पर कुम्हला जाता है, वैसे साधु को आगे नही बढ़ाना चाहिए। अग्रणी के लिए यह आवश्यक है कि वह सूत्र-सिद्धांत और व्याख्यान सीखता है, वैसे ही सहन करना सीखे।[2]

जयाचार्य समर्पित व्यक्ति थे। समर्पण का अर्थ है अहंकार और ममकार का विसर्जन। साधना की भूमिका से बाहर घूमने वाले इसका मूल्यांकन नही कर सकते। वे समर्पण को चमचागिरी मानते है। वे इस सचाई को नही जानते कि अहंकार का विसर्जन दूसरों के लिए नही होता, दूसरों के प्रति नही होता, वह अपने लिए और अपनी विकास-भूमिका के प्रति होता है। आचार्यवर ने अनेक घटनाओं द्वारा अहंकार-विसर्जन का मूल्य प्रस्थापित किया है।

---

१ तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १।१८]

गुरु राखै जठै रहिणो निज भणी, सिघाडो करवो नियम नाह्या।
मन हूवै तो कीज्यो चाकरी, गुरु आगूच शब्द सुणाया॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई १।२१-२५]

इमहिज सिघाडावध तणी, खामी पड्या निषेधे अथाया।
मन हूवे तो आगै विचरज्यो, गुरु आगूच शब्द सुणाया॥
चोडै मोनै निषेधो मती, कदा गुरु नहीं मानै वाया।
तिण सू चोट खमणी पहिला धार नैं, अगवाण विचरो मुनि राया॥
वारू वार जताबू था भणी, पछै कहोला पहिला न फुरमाया।
सुगुर काण राखै नही, करलो ओषध देत सवाया॥
हूस राखै सिघाडा तणी, चोड़ै निषेध्या मुख कुमलाया।
तास कुरव न वधावणो, खमिया तोल वधै अधिकाया॥
रीत ए सहू श्रमण-श्रमणी तणी, अगवाण नै तो अधिकाया।
सूत्र वखाण सीखै सही, तिम खमवो सीख्या सुख पाया॥

भारमलजी स्वामी ईड़वा में विराज रहे थे। ऋषिराय व्याख्यान कर रहे थे। किसी घटना का वर्णन करने में उनसे कोई प्रमाद हो गया। भारमलजी स्वामी भीतर बैठे सुन रहे थे। उन्होंने वही से कहा —'रायचंद! क्या गप्पें हांक रहा है?' ऋषिराय ने विनम्रतापूर्वक आचार्यवर की सूचना को स्वीकार किया। व्याख्यान संपन्न होने पर भीतर आकर वोले—गुरुदेव! आप मुझे परिषद् के बीच उलाहना नही देते, अकेले में ही देते तो अच्छा होता। भारमलजी स्वामी ने सतयुगी को बुलाकर कहा -'सुनो, रायचन्द क्या कहता है। यह कहता है—आप हमें उलाहना दें तो एकात में दें, दूसरों के सामने न दें। मैं ऐसा क्यों करूंगा? अव कोई उलाहना देना होगा, सबके सामने दूंगा। बोलो, तुमक्या कहते हो।' सतयुगी ने कहा—'आप जैसा चाहें वैसा करें।' ऋषिराय ने भी अपने संसारपक्षीय मामा सतयुगी की बात का समर्थन किया।[1] इस अहंकार-विसर्जन ने ऋषिराय को तेरापंथ का शास्ता बना दिया।

अहंकार-विसर्जन की दूसरी घटना है मुनि वेणीरामजी का प्रसग। आचार्य भिक्षु पीपाड़ में थे। उन्होंने मुनि वेणीरामजी को बुलाने के लिए संबोधित किया। वे नही बोले। दूसरी-तीसरी वार संवोधित करने पर भी नही बोले। आचार्य भिक्षु ने गुमानजी लूणावत से कहा—वेणो अव संघ में नहीं रह सकेगा, ऐसा लगता है।' गुमानजो यह सुन अवाक् रह गए। वे मुनि वेणीरामजी के पास गए। उन्होंने सारी बात वताई। आचार्य भिक्षु के वे शब्द सुन मुनि वेणीरामजी कांप उठे। वे तत्काल आचार्य भिक्षु के पास आ उनके चरणों में लुट गए। अपनी भूल के लिए क्षमा मागने लगे। आचार्य भिक्षु ने कहा—तीन वार मैंने तुझे वुलाया, फिर तू क्यों नही वोला? मुनि वेणीरामजी ने हृदय की भावना से पैरों को नहाते हुए कहा—'गुरुदेव! मैंने एक वार भी आपका संवोधन नही सुना। यह कैसे हो सकता है, आप मुझे संवोधित करें और मै न वोलू, न पास में आऊं?' उन्होंने अहंकार को

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चोपाई १।२६-२८]

भारीमाल ईडवा मझे, परपदा मे निपेद्या सवाया।
ते मुनिवर कहे स्वाम नै, मोनै छानै कहो ऋपिराया॥
ताम स्वाम भारीमालजी, सतयुगी मुनि नै वोलाया।
सुणो ग्यतसीजी ए इम कहे, मोनै छानै कहो ऋपिराया॥
छानै कहा म्हे किण विधै, हिवै तो चोड़ै कहिवो सवाया।
इम सुण ऋपिराय जी, हद सीख धार पद पाया॥

त्याग, अपनी ऋजु भावना प्रगट कर, आचार्यवर को प्रसन्न कर लिया।[1]

जो मुनि अहंकार-विसर्जन करना जानते हैं, वे उच्च पदों पर प्रतिष्ठित होने योग्य हैं। उन्हें उच्चता के स्थान पर कैसे प्रतिष्ठित किया जाए, जो लोगों के सामने उलाहना देने से सिकुड़ जाते हैं, अहंकार का विषधर जिन्हें डसने लग जाता है।[2] सतयुगी, वेणीरामजी, हेमराजजी और ऋषिराय—ये चारों गण के स्तंभ थे। उन्होंने अहंकार को त्यागा इसलिए वे गण केतंभ बने। गण के भार की धुरा उसकी भुजाओं पर है, जो अहंकार को छोड़ देता है।[3]

मुनि मोजीरामजी अग्रणी थे। वे विहार कर आ रहे थे। मार्ग मे लावा सरदारगढ़ में रुक गए। भारमलजी स्वामी को उनका वहा रुकना अच्छा नहीं लगा। वे वहा से प्रस्थान कर राजनगर पहुंचे। भारमलजी स्वामी ने सब संतों को बुलाकर कहा—मोजीरामजी आ रहे है। कोई भी साधु उन्हें वंदना न करे। मुनि मोजीरामजी स्थान पर पहुंचे। सब साधु देख रहे हैं। पर कोई भी साधु न वंदना करता है, न भार लेता है और न उठकर अगवानी करता है। वे भारमलजी स्वामी के चरणों में उपस्थित हुए, वंदना की। विनम्र स्वर में इस अप्रत्याशित परिस्थिति का कारण पूछा।

---

१. तेरापथ स विधान [शिक्षा की चौपाई १।२९-३२]

भिक्षु स्वाम पीपाड मे, वैणीरामजी नै बोलाया।
दोय तीन वार हेलो पाडियो, पिण बोल्या नही ऋषिराया॥
लूणावत गुमानजी तेहनै, इम स्वाम भिक्षू बोल्या वाया।
वैणो छूटतो दीसै अछै, जब गुमानजी त्या पासै आया॥
कही स्वाम भिक्षु नी वारता, सुण त्रास अधिक दिल पाया।
आय पगा पड्या स्वाम नै, अै तो सुवनीत महा मुनिराया॥
स्वाम कहै हेलो पाडियो, तूं बोल्यो नही किण न्याया।
वैणीरामजी कहै म्हैं सुणियो नही, घणो विनय करी नै रीझाया॥

२. वही [शिक्षा क चौपाई १।६३]

इसडा सुवनीत गुरां तणा, ज्यारो काण-कुरब वधाया।
चोड़ै निषेध्या वेदल हुवै, त्यारो कुरब वधै किण न्याया॥

३. वही [शिक्षा की चौपाई १।३९-४०]

सयजुगी नै वैणीरामजी, वलै हेम अनै ऋषराया।
गण स्तभ ज्यू च्यारू महा गुणी, समभाव सह्या तज माया॥
गण भार-धुरा ज्यारी-भुजा, ते पिण मान अहकार मिटाया।
तो ओरा री कुणसी चली, गुरु सर्वं उपर कहिवाया॥

आचार्यवर ने कहा—मेरी इच्छा के विपरीत तुम लावा सरदारगढ में रहे। वे बोले—गुरुदेव! मुझे इसका तनिक भी आभास नहीं था। यदि मुझे इसका किंचित् भी आभास होता तो मैं वहां नही ठहरता। उन्होंने विनम्र व्यवहार से भारमलजी स्वामी को विश्वास दिलाया। आचार्यवर ने संतों से कहा—अब इन्हें वंदना करो। आचार्यवर का आदेश पाकर सव संतों ने परस्पर वंदना की, सभी हर्ष से आप्लावित हो गए।[1]

अहंकार और ममकार—ये केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही दोष नही है, ये सभी क्षेत्रों में अवांछनीय है। ये संगठन में दरार डालने वाले तत्त्व है। संगठन के चिरजीवी होने का आधार है इनका विसर्जन। जयाचार्य का इस क्षेत्र में संघ को महान् अवदान है।

आचार्यवर मघवा ने मुनि माणकलालजी को अपना उत्तराधिकारी चुना। उन्होंने अंतिम शिक्षा-वचन में कहा—माणकलालजी! जयाचार्य ने व्यवस्था और मर्यादा के राजपथों और मार्गों का इतना निर्माण किया है कि नए निर्माण की बहुत आवश्यकता नही रही। अब तुम्हारा (भावी आचार्यो का) इतना ही काम है कि गायों को मार्ग पर चलने मे सहयोग करो। कोई गाय मार्ग छोड़ इधर-उधर जाने लगे तो पुनः मार्ग पर ले आओ।' रूपक की भाषा में कहा गया यह शिक्षा-वचन जयाचार्य के महान् अवदान का प्रवल साक्ष्य वन गया।

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चोपाई १।४८-४६]

तीन ठाणे मोजीरामजी, विण मुरजी लावा मे रहिवाया।
राजनगर आया पूज आगलै, सुण स्वाम सतां नै वोलाया॥
कोई वनणा कीज्यो मती, हिवै मोजीरामजी आया।
देखै सहु साध-साधवी, पिण किण नवि सीस नमाया॥
पछै आय पूज पगा लागिया, भारीमाल हुकम फरमाया।
जद वनणा कीधी साध-साधव्या, निपेदी तसु दड दिराया॥

२२

अनुशासन का धर्मचक्र

जयाचार्य ने अनेक शिक्षापदो की रचना की। उनमें कुछ शिक्षापद वहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सतियों को संवोधित कर एक शिक्षापद लिखा। उसमें चित्त-समाधि का मार्ग बतलाया है—साध्वियो! तुम दंभ और कदाग्रह मत करो। वाद-विवाद मत करो। क्षमा धर्म की आराधना करो। उससे समाधि प्राप्त होगी।[1]

जयाचार्य की रचना का मुख्य तत्त्व है—संघ के प्रति सर्वात्मना समर्पण। साध्वियो! व्याख्यान में जैसे हेतु और दृष्टांत का प्रयोग करती हो, वैसे ही धर्मशासन की गरिमा का वर्णन करना, उसमें संकोच मत करना।[2]

संतों को संवोधित कर लिखे गए शिक्षापद में आज्ञा का मूल्यांकन मिलता है। साधुओ! सुगुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करो। उसकी अखंड आराधना करो। आज्ञा की आराधना करने वाला सुख पाता है। आज्ञा पार पहुंचा देती है—समस्याओं के उस पार।[3]

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ७।७]

सतिया! दभ कदाग्रह मत करो, वले मत करो वाद विवाद।
सतिया! क्षमा धर्म दिल मे धरो, थारे भव-भव हुवै समाध।।

२. वही [शिक्षा की चौपाई ७।५]

सतिया! हेतु दृष्टात वखाण मे, थे तो दाखो मलाय-मलाय।
सतिया! इमहिज सासण दिढावता, इण मे लाज सरम मत ल्याय।।

३. वही [शिक्षा की चौपाई ८।१]

सता! सुगुरु आण सिर धारियै रे, आ तो आण अखड उदार रे।
सता! आण आराध्या सुख लहै रे, आतो आण उतारे पार रे।।

साधुओ ! पंडित-मरण स्वीकार कर लेना पर गण को मत छोड़ना। गण में प्रवेश पाना मूल पूंजी है, यह एक रत्न मिला है, उसे मत खोना[1]।

एक शिक्षापद गुरु-शिष्य के संवादरूप में मिलता है। शिष्य प्रश्न पूछता है, गुरु उसका उत्तर देते है। शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव ! मै आपकी शरण में आया हूं। आप मुझे शिक्षा दें।'

गुरु ने कहा—'शिष्य ! सुविनीत का संग करना। उससे सम्यग् दृष्टि सुदृढ़ होगी, चारित्र का विकास होगा[2]।'

शिष्य बोला—'गुरुदेव ! एक समस्या है। अविनीत व्यक्ति हित करता है, मीठा बोल प्रलोभन देता है। उस स्थिति मे क्या करना चाहिए?'

गरु ने कहा—'शिष्य ! उस समय यह चिंतन करना चाहिए कि यह दु:खदायी है। इसके संग से विश्वास उठता है। गुरु के प्रति विरोधीभाव जागता है[3]।'

शिष्य—'गुरुदेव ! कभी-कभी क्रोध आ जाता है, उसे विफल कैसे किया जाए ?'

गुरु—'शिष्य ! क्रोध के कड़वे फलों का चिंतन कर और समतारस

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ८।१३]

सता ! पडित मरण आरे करो, पिण गण मति छोडो कोय।
सता ! मूल पूजी दृढ राखज्यो, रत्न हाथ आयो मत खोय॥

२ वही [शिक्षा की चौपाई १४।१२]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी ! सरणे आयो गणनाथ, सीखड़ली आछी आपो म्हारा स्वाम।
होजी स्वामी ! परम उपगारी मुज आप, अविचल सुख थिर पद थापो॥

गुरु उवाच—

हा रे चेला ! सुवनीता रो कीजै सग, वारू जस कीरति वाधे।
हा रे चेला ! चरण समकित दिढ होय, ज्ञानादिक वर गुण लाधे॥

३. वही [शिक्षा की चौपाई १४।३,४]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी ! कोइ अविनीत हित करै, आप ललचावै मीठो बोली।
हो जी स्वामी ! स्यू करिवो गण नाथ ! आखीजे सीख अमोली॥

गुरु उवाच—

हा रे चेला ! मन मे विचारणो एम, दुखदाई खुद्र घणो है।
हा रे चेला ! दग सू पीत किया पत जाय, गणि स्यू प्रतनीकपणो है॥

का पान कर—प्रिय-अप्रिय घटनाओं के प्रति सम रहने का अभ्यास कर।"[1]

शिष्य—'गुरुदेव ! सब अपने-अपने हिस्से का खाते है। फिर एक व्यक्ति सुख का वेदन करता है, दूसरा दु:ख का वेदन करता है, यह क्यों ? दु:खों को दूर करने वाला भिक्षुगण सौभाग्य से उसे उपलब्ध है फिर वह दु:ख का वेदन क्यों करता है ? चितामणि रत्न की भांति चिता का हरण करने वाला चारित्र भी मिला है फिर वह दु:ख का वेदन क्यो करता है ? गुरुदेव ! मुझ पर कृपा करें। मेरी विनती स्वीकार करे। यदि आपको क्लांति न हो तो आप मुझे वताएं।'

गुरु—'शिष्य ! उसके मन में शब्द आदि विषयों की चाह है। वे उसे मिलते नही है, इसलिए वह दु:ख का वेदन करता है। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय है। उसके कषाय प्रवल है। वे ज्ञान और दर्शन पर आवरण डाले हुए है, इसलिए वह दु:ख का वेदन करता है।'[2]

---

१ तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १४।८]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामी ! क्रोध आवै किण वार, किण विध ते निर्फल कीजै।

गुरु उवाच—

हा रे चेला ! क्रोध कटुक फल न्हाल, समता रस मन मे पीजै ॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई १४।१८-२३]

शिष्य उवाच—

हो जी स्वामा ! सर्व पाती रो आहार, विगयादिक पाती रो खायो।
हो जी स्वामी ! सुविनीत सुख वेदत, तो ओ दुख वेदै किण न्यायो ॥
हो जी स्वामी ! स्वाम भिक्षु गण सार, नरकादिक ना दुख वेदै।
हो जी स्वामी ! भाग्य जोग आयो हाथ, किण कारण ओ दुख वेदै ॥
हो जी स्वामी ! चरण-रयण चित चग, चिंतामणि चिंता चूरै।
हो जी स्वामी ! ते पिण आयो हाथ, किण कारण ओ हिवै झूरै ॥
हो जी स्वामी ! मुज पर करो प्रसाद, वीनतडी मुज मानीजै।
हो जी स्वामी ! कहिता किलामना न होय (तो), किरपा कर आप कहीजै ॥

गुरु उवाच—

हा रे चेला ! इण रे शब्दादिक री चाय, मन माहि अधिक उमेदै।
हा रे चेला ! जोग मिलै नही ताय, तिण कारण ओ दु:ख वेदै ॥
हा रे चेला ! क्रोधादि च्यार कषाय, ज्ञानादिक गुन ने भेदै।
हा रे चेला ! (तिण रै) जबर कषाय नो जोर, तिण कारन ओ दु:ख वेदै ॥

'यश का हेतु विनय है। वह विनय कर नहीं सकता। विनीत का यश होता है, उसका नहीं होता। इसलिए वह दु:ख का वेदन करता है। उसकी प्रकृति कठोर है। वह गुरु से अपनी प्रकृति को नही मिलाता। वह मनमाना काम करना चाहता है। पर वह हो नही पाता। इसलिए वह दु:ख का वेदन करता है।[1]'

जयाचार्य अनुशासन के महान् प्रवर्तक है। उन्हें अविनय और अविनीत दोनों प्रिय नहीं है। वे शिष्य को गुलाम वनाने के पक्ष में नही है। वे वहुत उदार हैं। विनीत शिष्य को वहुत ऊंचा स्थान देते हैं। वे विनीत को आचार्य के लिए आधारभूत मानते है।[2] उन्होंने अविनीत की तुलना काच के पात्र से की है। कांच का पात्र चोट नहीं सह सकता, वैसे ही अविनीत चोट नही सह सकता। विनीत हीरे और हेम जैसा होता है। वह चोटें सह सकता है। अविनीत मोम का गोला होता है, वह आग के पास जाने से पिघल जाता है। विनीत मिट्टी का गोला होता है। वह जैसे-जैसे आग मे धमा जाता है, वैसे-वैसे उसकी लालिमा बढ़ती है। अविनीत एरंड का वृक्ष होता है—अस्थिर और कमजोर। विनीत कल्पवृक्ष जैसा होता है—विनय के कवच से कवचित।[3]

जयाचार्य संविभाग को अनुशासन का अनिवार्य अंग मानते थे।

---

१ तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई १४।२४,२५]

हा रे चेला ! जस हेतु विनय विचार, ते (पिण) इण सूं करणी नावै।
हां रे चेला ! अविनीता रो जस नहिं होय, तिण कारण ओ सीदावै॥
हा रे चेला ! इण री प्रकृति अधिक अजोग, गुरु स्यूं पिण नाहिं मिलावै।
हा रे चेला ! मन मान्या काज न होय, तिण कारण ओ दुख पावै॥

२ वही [शिक्षा की चौपाई १६।६]

एहवा शिष्य सुवनीत रो, सर्व कार्य मे सार।
गणपति नैं आधार छै, धरा सहै जिम भार॥

३. वही [शिक्षा की चौपाई १६।७-६]

काच भाजन अवनीतड़ो, कहो चोटा खमैं केम।
सहै चोटा तो वनीत ही, कै हीरा कै हेम॥
अवनीत गोलो मैण नो, तप्त गलै तत्काल।
सुवनीत गोलो गार नो, ज्यूं धमै ज्यूं लाल॥
अवनीत वृक्ष एरंडियो, अस्थिर ते करै कोप।
सुवनीत कल्पतरू समो, विनय नो बगतर टोप॥

आहार के संविभाग को उन्होंने बहुत मूल्य दिया। उन्होंने लिखा—जो अपने हिस्से के आहार में तृप्त हो जाता है, उसे कोई पराजित नही कर सकता। इसलिए संविभाग करो।

जीभ को वश में करो। उससे इष्ट कार्य सिद्ध होगा। तुम इष्ट को पाना चाहते हो तो संविभाग करो। जो संविभाग करते है वे मानसिक सुख का वेदन करते है।[1] जिनका संविभाग मे आकर्षण नही है, उनके मानसिक दुःख को कौन मिटा सकता है? उसकी प्यास बड़ी भयकर है। उसकी आशा को कोई भी पूरा नही कर सकता।[2] जो संविभाग नही करता, उसे भगवान ने अविनीत कहा है।[3] जो संविभाग नही करता, उसे भगवान ने पापी श्रमण कहा है।[4] जो संविभाग नही करता, उसे मोक्ष नही मिलता। जो संविभाग करता, है वह अचौर्य व्रत की आराधना करता है।[5]

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के भाष्यकार थे। उन्होने आचार्य भिक्षु द्वारा विरचित एक गाथा के आधार पर संविभाग के चिंतन का विस्तार

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई २०।१]

निज पाती मे जे रजै, ते मुनिवर ने कुण गजै जी।
सविभाग करी लीजै।
ज्यारी भद्र प्रकृति गुण रास, सहु ने सुखदाइ जासं जी।
जिभ्या—इद्रियवस कीजै, तिण सू वांछित कारज सीझै जी॥
मुज सीख सुगुण धारीजे, लज्या यत्ने राखीजै जी॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई २०।२,३]

निज पाती मे नही रजै, तेहनो दुःख कहो कुण भजै।
अति खावण पीवण री पिपासा, किम पूरीजे तसु आशा॥
निज पाती मे रगराता, प्यारे मानसीक सुख साता।
जेहवो मिल्यो करै सतोष, समभावपणै सुख पोष॥

३. वही [शिक्षा की चौपाई २०।२०]

जे असविभागी सतो, अवनीत कह्यो भगवंतो।
वर उत्तराध्ययन मझारो, ग्यारस अध्ययन उदारो॥

४. वही [शिक्षा की चौपाई २०।२१]

ले असविभागी साधू, तिण ने कह्यो पापी साधू।
सतरम उत्तराज्झयणो, ए वीर तणा वर वयणो॥

५. वही [शिक्षा की चौपाई २०।२२]

असविभागी नैं नाहि मोखो, दशवै० नवमे अवलोको।
वर सविभाग जे साधै, ते तीजो व्रत आराधै॥

किया और उसे प्रायोगिक रूप दिया। आचार्य भिक्षु ने लिखा था—साधु आहार-पानी लाए, उसका सार्धामिक साधुओं में संविभाग करे। मैं लाया हूं, यह सोच कर वह अधिक लेने का प्रयत्न करता है तो वह चोरी करता है। ऐसे आचरण से उसका विश्वास उठ जाता है।[1]

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। जयाचार्य ने उसे व्यापक वनाया था। तेरापंथ में वह धर्मचक्र आज भी गतिशील है।

थोड़े लोग साथ में रहते है तब सुविधा होती है। अधिक लोगों का एक साथ रहना उतना सुविधाजनक नही होता। अनुशासन के क्षेत्र में सुविधा-असुविधा का प्रश्न गौण होता है। मुख्य बात होती है अपेक्षा की। अपेक्षा के अनुसार कभी थोड़े व्यक्तियों मे और कभी अधिक व्यक्तियों मे रहना आवश्यक होता है।

जयाचार्य का चिंतन है—जो लोलुप नही है, जिनके मन में सुगुरु से प्रीति है, वे ही बड़े संघ में रह सकते है, दूसरों के लिए यह सरल नही है।[2]

जयाचार्य ने मानव-प्रकृति की गहराई में उतर कर देखा। उससे साक्षात् संपर्क स्थापित किया। उसे समाधान दिया। उस समाधान का मूल तत्त्व है अनुशासन। वह अनुशासन नही, जो स्वतंत्रता को आत्महत्या के लिए विवश करे। वह है अनुशासन जिसके आगे स्वतंत्रता की लौ जलती है और पीछे-पीछे समता की अनुभूति चलती है। समता की अनुभूति के विना स्वतंत्रता नही। स्वतंत्रता की अनुभूति के विना अनुशासन नही। यह है अनुशासन का धर्मचक्र।

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई २०।२४]

> आहारपाणी साधु वहिरी ने ल्याया, सभोगी साधु ने वाट देवा री रीत।
> आप आण्यो जाणी अधिक लेवै, तो अदत्त लागै जाये परतीत॥
> आ श्रद्धा श्रीजिनवर भाखी॥

२. कीर्त्ति गाथा [आर्यादर्शन ढा० १।दो-]

> लोलपणो जेहनें नहीं, सुगुरु प्रीत अधिकाय।
> ते सेवा मे रहै, अन्य ने कठिण अथाय॥

८. मेरे पीछे ही पड़ गए हो।

९. अपनी भूल भी देखा करो।[1]

कोई आदमी पंडित हो गया पर उसकी प्रकृति अच्छी नही है तो उसकी नौली में एक रुपया आता है, निनानवे रुपये वाकी है।[2] क्षुद्र प्रकृति वाला व्यक्ति[3]—

१. आपे को नही खोजता।

२. स्वार्थ न सधने पर उनके अवगुण वोलने लग जाता है।

३. निंदा करता है, फिर कहता है—यह वात तुम तक ही रहे किसी दूसरे को मत कहना।

---

१. तेरापथ सविधान [शिक्षा की चौपाई २।६-१३]

करे चालता वात, कहै कोइ ते भणी।
ठीक न कहै बोले और, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
पक्की जयणा रो कहै करता आहार, इण मे चूका अणी।
ठीक न कहै रहै मौन, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
आहार करता पूरी जयणा नाहि, करै को जतावणी।
तो पाछौ ओडो दे जाण, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
चूकै पडिलेहण करत, दीयै सीख ते भणी।
फेरै मुंहढा नो नूर, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
जोडी करता चूका कहै तास, तो रीस करै घणी।
वदै क्रोध तणे वश वाण, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
चालता ततू घीसत, कह्या वच अवगणी।
बडो कहण वालो मोय, खोडीली प्रकृति नों धणी॥
सीवत बोलै सोय, कह्या रीस अति घणी।
कहै थेइज रहिज्यो सचेत, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
इक दिन में चूका बहु वार, करै को जतावणी।
कहै लागो म्हारी लार, खोडीली प्रकृति नो धणी॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई २।२५]

पायो रुपइयो एक, पडित थयो भणी।
पिण प्रकृति निनाणू रह्या शेप, खोडीली प्रकृति नो धणी॥

३ वही [शिक्षा की चौपाई २।३३-३८,४०]

जो तिण ने न दीये अन्न पान, तो खच मन तणी।
आपो न खोजै मूढ, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
स्वारथ न पूगै सोय, गुरु सू पिण अवगुणी।
अवगुण सूझै अनेक, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
आप जिसो अवनीत, तिण सू प्रीत अति घणी।
वात करै दिल खोल, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
करे उतरती वत, ओघड-घाट अति घणी।
मन रा मेला परिणाम, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
मत कहै अवरा पास, वांत आपा तणी।
इम वरजी राखै तास, खोडीली प्रकृति नो धणी॥
तिण कहि ते कहै, सर्व वात गुरु आदिक भणी।
(तो) तिण सू राखै द्वेप, खोडीली प्रकृति नों धणी॥
छेडविया फुगार, करै रीस अति घणी।
खिण-खिण माहे क्रोध, खोडीली प्रकृति नों धणी॥

४. वह उसको कह देता है तो वह उसके प्रति मन में द्वेष की गाठ वाध लेता है।

५. छेड़ने पर फुफकारने लगता है, क्षण-क्षण मे क्रोध करता है।

जयाचार्य की दृष्टि में सुखी जीवन का साधन है प्रकृतिकी महानता। जिसकी प्रकृति के घटक तत्त्व उदात्त होते है, वह पग-पगपर दुःखका संवेदन नही करता। वह हर घटना को सम्यक्रूप से स्वीकारकरता है और सुख के वीज बोता है। प्रकृति की महानता के लक्षण हैं—प्रमाद के लिए सावधान करने पर—

१. हाथ जोड़ कर 'ठीक है' कहना।

२. अनुशासन करने वाले का उपकार मानना।

३. कृतज्ञता ज्ञापित करना

४. परामर्श के लिए धन्यवाद देना।

५. सावधान करने वाले को स्वजन मानना।

६. हर्ष के साथ अंगीकार करना।[1]

---

१. तेरापंथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ३।६-१४]

करे चालता वात, कहै कोई ते भणी।
कर जोड तथा कहै—ठीक, चोखी प्रकृति नो धणी॥
पक्की जयणा रो कहै करता आहार, इण मे चूका अणी।
ठीक कहै ततकाल, चोखी प्रकृति नो धणी॥
आहार करता अजयणा देख, करै को जतावणी।
ओडो न दे कहै ठीक, चोखी प्रकृति नो धणी॥
जोड़ी करता चूका कहै तास, तो ठीक कहै गुणी।
वलि माने तसु उपगार, चोखी प्रकृति नो धणी॥
चूकै पडिलेहण करत, दीयै सीख ते भणी।
हरप सहित करै अंगीकार, चोखी प्रकृति नो धणी॥
चालता अजयणा देख, कह्या तसुं वच सुणी।
कहै—भलो जतायो मोय, चोखी प्रकृति नो धणी॥
सीवत, रगत, वाटत, वोल्या कहै ते भणी।
कहै—ठीक तू परम मंत्रीश, चोखी प्रकृति नो धणी॥
एक दिन मे चूका वहु वार, करै को जतावणी।
कहै—तो सम कुण मुज सण, चोखी प्रकृति नो धणी॥
पडिकमणो पडिलेहण करंत, चूका कहै ते भणी।
करै हरप सहित अंगीकार, चोखी प्रकृति नो धणी॥

७. भूले हुए को रास्ता दिखाया है—विनम्र शब्दों का प्रयोग करना।

८. आपने सावधान कर मेरी लाज रखी है—विनम्र शब्दों का प्रयोग करना।

९. कोई वैरी न बने, वैसे सुचिंतित भाषा बोलना।[1]

जिसकी प्रकृति अच्छी है उसकी नौली में निनानवे रुपये हैं। वह पढ़ कर पंडित नही हुआ है इसलिए एक रुपया बाकी है।[2]

---

१. तेरापंथ सविधान [शिक्षा की चौपाई ३।१५-१७,२४]

बोले वस्त्र पहिरत, काढै खोड ते तणी।
कहै—भूला नें आण्यो माग, चोखी प्रकृति नो धणी॥
पाणी रा तडका पडता देख, कह्या रीस नै हणी।
ठीक कहे तसु अभिप्राय, चोखी प्रकृति नो धणी॥
ऊंचो साडो रो कहै कोय, तो प्रकृति सुधारिणी।
कहै—राखी म्हारी लाज, चोखी प्रकृति नो धणी॥
रखै वैरी हुवै कोय, विचारणा दिल घणी।
बोले गिरवा बोल, चोखी प्रकृति नो धणी॥

२. वही [शिक्षा की चौपाई ३।२७]

पाया रुपइया निनाणू, प्रकृति सुध जेह तणी।
रह्यो भणवा रो रुपियो एक, चोखी प्रकृति नों धणी॥

२४

जयाचार्य और मार्क्स : एक तुलनात्मक दृष्टिकोण

विचार की गति देश और काल की सीमा से परे होती है। इतिहास इस घटना को दोहराता रहा है। एक ही काल में एक व्यक्ति किसी देश में जो सोच रहा है, वही सोच रहा है कोई दूसरा व्यक्ति किसी दूसरे देश में। दोनों एक दूसरे को नही जानते, पर विचार विचार को जान लेता है। जयाचार्य का अस्तित्व-काल ईस्वी १८०३ से १८८१ तक है। मार्क्स का अस्तित्व-काल ईस्वी १८१८ से १८८३ तक है। जयाचार्य का कार्यक्षेत्र हिन्दुस्तान था। मार्क्स का कार्यक्षेत्र था यूरोप। जयाचार्य आचार्य भिक्षु के अहिंसा-दर्शन का भाष्य कर रहे थे और साध-संस्था मे अहिंसा या साम्य को प्रायोगिक रूप दे रहे थे। मार्क्स समाज के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर नए दर्शन का निर्माण कर रहे थे। उन्हे अपने दर्शन को प्रायोगिक रूप देने का अवसर नहीं मिला। जयाचार्य के समाजीकरण के प्रयोग आज भी तेरापंथ तक सीमित है जब कि मार्क्स का दर्शन आधी दुनिया को अपनी प्रयोगभूमि बना चुका है। अहिंसा की भाग्यलिपि ही ऐसी है कि उसे प्रयोग की व्यापक भूमि नही मिल रही है। हिंसा बड़ी तेजी से फैल जाती है। मार्क्स ने कहा था—जिस साध्य की प्राप्ति के लिए बुरे साधन जरूरी होते है, वह साध्य अच्छा नही है। आचार्य भिक्षु ने यही सिद्धात दो सौ वर्ष पूर्व प्रतिस्थापित किया था। जयाचार्य इसी सिद्धात का भाष्य और प्रयोग कर रहे थे। शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन का सिद्धात धार्मिकों के भी गले नही उतर रहा था, तब राजनीतिक प्रणाली मे इसे समर्थन कैसे मिलता। मार्क्स के अभिन्न साथी एंजेल्स ने मार्क्स के शुद्ध साधन के सिद्धात को अपना समर्थन नही दिया। उन्होने कहा—जो साधन

साध्य तक पहुचाए वही मेरे लिए उचित है, फिर वह अत्यंत हिंसापूर्ण हो या अत्यन्त शातिपूर्ण। साम्यवादी दुनियां ने मार्क्स के शुद्ध साधन के सिद्धांत को ठुकरा दिया, एंजेल्स के, साधन को गौण मानने के, सिद्धात को अपना लिया।

मनुष्य दंड की भाषा को जितना समझता है उतना हृदय की भाषा को नही समझता। गृहस्थों की वात जाने दें। साधु भी शत-प्रतिशत हृदय की परिभाषा को नही समझते। आत्मानुशासन उनका परम सूत्र है फिर भी उसका विकास लम्बी साधना के वाद होता है। कुछ साधकों मे आत्मानुशासन को विकसित करने की क्षमता कम होती है। इन परिस्थितियो मे अनुशासन और व्यवस्था अनिवार्य हो जाती है। जयाचार्य ने इस मनोवैज्ञानिक भूमिका के आधार पर साधु-संघ में व्यवस्था और अनुशासन को पल्लवित करने का संकल्प किया। व्यवस्था के सूत्र आचार्य भिक्षु ने दिए थे। उनके पल्लवन का कार्य जयाचार्य ने अपने हाथो में लिया, अहिंसा और समता को केन्द्र में रख इन व्यवस्थाओं को लागू किया—

१. सब साधु-साध्वियां आचार्य के शिष्य होंगे। वर्ग के अग्रणी साधु-साध्वियों का किसी भी साधु-साध्वी पर स्वामित्व नही होगा। कोई किसी की शिष्य-शिष्या नहीं बन सकेगा।

२. सव पुस्तकें आचार्य की निश्रा में होंगी। उनका सबके लिए उपयोग हो सकेगा। सामूहिक उपयोग की पुस्तकों पर किसी का व्यक्तिगत स्वामित्व नही होगा।

३. दैनंदिन उपयोग की पुस्तकें व्यक्तिगत रह सकेंगी।

४. श्रम का संविभाग अनिवार्य होगा। साधु-चर्या के जितने कार्य है वे सव सवको करने होंगे। कोई भी कार्यमुक्त नही रह सकता।

५. वर्ग के अग्रणी साधु को प्रतिदिन पचीस गाथाएं लिख कर देनी होंगी। वर्ग की अग्रणी साध्वी को प्रतिवर्ष एक रजोहरण और एक प्रमार्जनी तैयार करनी होगी।

६. आहार का संविभाग होगा। जो, जैसा व जितना आहार और पानी मिले उसका सव साधु-साध्वियों में समान वितरण होगा।

७. स्थान, वस्त्र तथा सामूहिक उपयोग की सभी वस्तुओं का समान वितरण होगा।

८. सेवा देना अनिवार्य होगा। वृद्ध या बीमार साधु-साध्वियों की सेवा संघीय प्रवृत्ति होगी।

९. गाथाएं व्यक्तिगत हो सकेगी। उनका सेवा, श्रम व अन्य कार्यो के लिए विनिमय किया जा सकेगा। पर उनका कोई उत्तराधिकार किसी को नही मिलेगा।

१०. संघ से पृथक् होने वाले साधु-साध्वियों के उपकरण संघ की निश्रा (संरक्षण) में रहेंगे।

११. यात्रा और प्रवास आचार्य की आज्ञा के अनुसार होगा। वापस आने पर साधु-साध्वियों और पुस्तकों का समर्पण करना होगा।

इन व्यवस्थाओ ने साधु-संघ की समतानिष्ठा को और शक्तिशाली वना दिया। इन व्यवस्थाओं के कारण आज तेरापंथ अनुकरणीय और आदर्श बना हुआ है। अनेक प्रबुद्ध लोगो का अभिमत है—इतना अनुशासित, व्यवस्थित और प्रगतिशील धर्मसंघ हमने नही देखा।

जिस समय जयाचार्य इन व्यवस्थाओ का सूत्रपात कर रहे थे, उन्ही दिनो मार्क्स साम्यवाद की भाग्यलिपि तैयार कर रहे थे। दोनो की दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्न थी, फिर भी उनके व्यवस्थात्मक पक्ष के वहुत सारे विन्दु समान है। मार्क्स और एंजेल्स ने साम्यवादी जीवन प्रणाली के लिए इन तरीकों की व्यवस्था की[1]—

१. भू-स्वामित्व का उन्मूलन और समस्त लगान का सार्वजनिक प्रयोजन के लिए उपयोग।

२. भारी वर्धमान या आरोही आयकर।

३. उत्तराधिकार का उन्मूलन।

४. सभी उत्प्रवासियों और विद्रोहियो की सम्पत्ति की जव्ती।

५. संचार और यातायात के साधनों का राज्य के हाथो में केंद्रीकरण।

६. हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना।

मार्क्स और एंजेल्स के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था की ये विशेषताएं होंगी—

१. वर्ग समाप्ति—समाज मे वर्गभेद नही रहेगा।

१. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, पृ. ६२।

२. शोषण समाप्ति—समाज मे शोपण करने वाले वर्ग नही र
इसलिए शोषण स्वयं समाप्त हो जाएगा।

३. परिवार और सम्पत्ति की समाप्ति—परिवार और व्यक्ति
सम्पत्ति का उदय साथ-साथ हुआ था। साम्यवादी व्यवस्था मे इनका
हो जाएगा।

४. राज्य की समाप्ति। मार्क्स के अनुसार राज्य वर्ग-सघर्ष
उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। साम्यवादी व्यवस्था में वर्गभेद और शो
नही होगा इसलिए राज्य स्वयं अर्थहीन हो जाएगा।

दोनों व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन वहुत ही आकर्षक है
कभी-कभी एक ही प्रकार की विचार-तरंगे पूरे आकाश मंडल मे फैल जात
है। ग्रहणशील व्यक्ति उन्हें पकड़ लेता है और हमारी विकास की शृंखल
में एक नई कड़ी जुड़ जाती है।

मार्क्स का दृष्टिकोण भौतिकवादी था। जयाचार्य की दृष्टि आध्या-
त्मिक थी। जैन दर्शन आध्यात्मिक दर्शन होने पर भी आदर्शवादी नही है
नितांत यथार्थवादी है। जयाचार्य मार्क्स से अधिक यथार्थवादी थे। मार्क्स
ने कहा—राज्य आवश्यक नही रहेगा। जयाचार्य ने कभी नही कहा—
अनुशासन या व्यवस्थातंत्र अनावश्यक हो जाएगा। मार्क्स मानव-स्वभाव
को केवल परिस्थिति की उपज मानते हैं। जयाचार्य मानव स्वभाव के पीछे
आन्तरिक संस्कार और परिस्थिति दोनों का योग मानते है। मानव-स्वभाव
में क्रोध, अहंकार, कपट और लोभ की प्रेरणा को निष्क्रिय किए विना
सत्ता का मोह छोड़ा नही जा सकता। सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है कि जो
एक वार उसे हथिया लेता है वह उसकी पकड़ को और अधिक मजबूत
करता है, उसे वनाए रखना चाहता है, छोड़ना नही चाहता। जैन आगमो
मे कल्पातीत देवों का शासन-मुक्त समाज के रूप मे चित्रण किया गया है।
जो देवो के अस्तित्व मे विश्वास नही करते, वे इसे दूसरे ग्रह के मनुष्य-
समाज का चित्रण मान ले। पर यह सचाई है कि क्रोध आदि आतरिक
संस्कारों के वदलने पर समाज शासन-मुक्त हो सकता है। आध्यात्मिक
विकास के विना यह संभव नहीं है। अतिचेतना का विकास होने पर व्यवस्था
अपने आप वदल जाती है। व्यवस्था के वदल जाने पर भी अतिचेतना नहीं
जागती। सामान्य चेतना के स्तर पर हृदय परिवर्तन और व्यवस्था परि-

व्यक्ति भी बदले और परिस्थिति भी बदले। व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना को जगाने से बदलता है और परिस्थिति सम्यक् व्यवस्था से बदलती है। केवल आध्यात्मिक दर्शन से भी सामाजिक समस्याएं नही सुलझतीं और केवल भौतिकवादी दर्शन में भी उन समस्याओं को सुलझाने की क्षमता नही है। दोनों का समन्वय ही समस्या का समाधान है। आचार्य भिक्षु ने इस सचाई का अनुभव किया और उन्होंने सिद्धांत को व्यवस्था के ढांचे में ढालना शुरू किया। आज के राजनीतिज्ञ भी इस समन्वय की अपेक्षा अनुभव करते है। वे सोचते है, केवल व्यवस्था को बदलने से काम नही चलेगा। व्यवस्था-परिवर्तन के साथ व्यक्ति का हृदय भी बदलना चाहिए। डा० राममनोहर लोहिया ने इस विषय में बहुत स्पष्ट चिंतन प्रस्तुत किया है—

'अब थोड़ा सा अपने पुराने भारत की तरफ देखें। चार हजार, तीन हजार, पांच हजार बरस पहले लोगों ने देखा जरूर था कि सम्पत्ति है जड़ बदमाशी की। शायद सभी लोग मानते हैं कि सम्पत्ति है जड़, चाहे अच्छाइयों की भी हो लेकिन बदमाशियों की तो जरूर है। यह उपनिषद् ने भी माना है, यह कम्युनिज्म भी मानता है या मार्क्सवादी भी मानता है। फर्क खाली इतना है कि मार्क्सवाद सम्पत्ति की असलियत के रोग को दूर करता है और उपनिषद् सम्पत्ति के मोह के रोग को दूर करता है। इस पर अब लम्बी बहस नहीं चलाएंगे। खाली अपने मन की एक चाह बताये देते है कि शायद असली और जो नया समाजवाद दुनियां में आएगा वह ऐसा होगा जो सम्पत्ति की असलियत और सम्पत्ति के मोह दोनों को हटाने की कोशिश करेगा। एक तरफ तो कायदे-कानून ऐसे बनाएगा कि जिसमें सम्पत्ति लोगों की व्यक्तिगत न हों और दूसरी तरफ इस तरह के समाज के ढांचे को बनाएगा, नाटक किस्से या खेल-कूद या दर्शन या किताबें या उपन्यास ऐसे चलाएगा और बचपन से ही ऐसी शिक्षा देगा कि सम्पत्ति का मोह आदमी को न हो। सम्पत्ति के निर्मोह का रास्ता पिछले तीन-चार हजार बरस मे निकम्मा साबित हुआ है और इस अनासक्ति के देश मे जितनी आसक्ति है उतनी दुनियां में कही नहीं है। जितनी आसक्ति यहा है मैले-कुचैले, बीमार, कोढ़ वाले शरीर के लिए, बिना पैसे वाली जिन्दगी के लिए, उतनी और कही नही है। अनासक्ति वाला जो सिद्धांत था वह खतम हुआ। उसी तरह से यह मार्क्सवाद वाला सिद्धांत है कि खाली सम्पत्ति की असलियत को मिटा

दो, उसका समाजीकरण कर दो या उसको समाज की सम्पत्ति बना दो तो काम नहीं चलेगा। शायद इसका भी वही होने वाला है। कोई सिद्धान्त दोनों को साथ लेकर चले कि जो मन को भी साफ करे, मोह को भी दूर करे।"[1]

आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में सिद्धान्त और व्यवस्था के समन्वय का प्रयोग शुरू किया। उन्होंने अनुभव किया—जैसे गृहस्थ अपना परिवार बढ़ाता है वैसे ही साधु अपने शिष्यों का परिवार बढ़ाने में लगे हुए है। शिष्यों पर व्यक्तिगत स्वामित्व विकसित हो रहा है। साधु-संस्था में आचार-शुद्धि के क्रांतिकारी परिवर्तन अपेक्षित है, पर इन छोटे-छोटे गुटों पर किसी का नियंत्रण नही है। सामुदायिक नियंत्रण के विना परिवर्तन संभव नही है। इस चिंतन के आधार पर उन्होंने शिष्यों पर होने वाले व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर संघीय व्यवस्था का सूत्रपात किया। व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति की दिशा में उठा यह पहला चरण था।

जयाचार्य ने देखा—सब साधु आचार्य के अधिकार में है। आचार्य संघ के प्रतीक होते हैं इसलिए कहा जा सकता है कि सव साधु संघ के है। फिर भी ममत्व की पकड़ अभी पूर्णरूपेण छूटी नही है। सव साधु एक साथ नही रहते। वे अलग-अलग वर्गो (सिंघाड़ों) मे विभक्त है। प्रत्येक वर्ग का एक मुखिया होता है। उसके साथ कुछ साधु होते हैं। उसके पास हस्तलिखित पुस्तकें होती है। उन पर भी उसका स्वामित्व है। दूसरो को उनका उपयोग करने देना या न देना उसकी इच्छा पर निर्भर है। जयाचार्य ने इस व्यवस्था को संघीय वनाने का संकल्प किया। साधुओं के वर्ग उन्होंने व्यवस्थित किए। साध्वियों के वर्गो की व्यवस्था कुछ जटिल थी। उसे सुलझाने के लिए एक शक्तिशाली माध्यम की जरूरत थी। धर्म के शासन में दण्डशक्ति का प्रयोग नही होता। व्यवस्था व विधि भी स्वतंत्र चेतना से स्वीकृत होती है। जो प्रेम व वात्सल्य से साध्वियों के दिल को जीत सके, उन्हें आश्वस्त-विश्वस्त कर सके, उनका हृदय वदल सके, वैसे माध्यम की खोज की जयाचार्य ने। साध्वी सरदारांजी उनकी दृष्टि के सामने उपस्थित हुई। सं० १९१० मे उन्हें साध्वीप्रमुखा वना दिया। सरदारांजी को तेरापथ में प्रथम साध्वी-प्रमुखा वनने का गौरव प्राप्त हुआ। उन्होने साध्वियो की व्यवस्था का कार्य

---

1. समाजवाद की अर्थनीति पृ. २३-२४, लेखक—डा० राममनोहर लोहिया।

बड़ी कुशलता से किया। जयाचार्य भी प्रसन्न थे, साध्वियां भी प्रसन्न थीं। साध्वी-समुदाय में उनके कार्यकौशल की छाप अंकित हो गई। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली वन गया।

जयाचार्य ने उपयुक्त समय देख साध्वियों के वर्गों की पुनर्व्यवस्था करने का निर्णय किया। यह घटना सं० १९१५ की है। उन्होंने साध्वियों को प्रेरित किया—सभी वर्ग सरदारांजी की निश्रा (संरक्षण या अधिकार) में आ जाएं। सर्व प्रथम साध्वी नवलांजी का वर्ग उनकी निश्रा में आया। धीरे-धीरे अन्य वर्ग भी उनकी निश्रा में आने लगे। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया की गति धीमी होती है, इसलिए इसमें कुछ समय लगता है; पर यह स्थायी और प्रतिक्रिया-मुक्त होती है। जो वर्ग अस्वस्थता या बुढापे के कारण आने में असमर्थ थे, उन्होंने भी साधु-साध्वियों के माध्यम से अपनी स्वीकृति भेज दी। प्रारंभिक कार्य संपन्न हो गया। साध्वियों के सभी वर्गों की व्यवस्था साध्वीप्रमुखा सरदारांजी के नियंत्रण में आ गई। पुनर्व्यवस्था का पहला चरण संपन्न हो गया।

उस समय तेरापंथ में एक सौ चौहत्तर साध्वियां थी। उनके दस वर्ग थे। किसी वर्ग में दस, किसी में बारह साध्वियां थी तो किसी वर्ग में तीन या चार साध्वियां थी। वर्गों में संविभाजन नही था। जयाचार्य ने साध्वीप्रमुखा से कहा—अब पुनर्व्यवस्था का अंतिम चरण संपन्न करना है। प्रत्येक वर्ग में चार या पांच साध्वियां रहें। जिन वर्गों में साध्वियां अधिक है, उन्हें लेकर नए वर्ग वनाए जाएं। जयाचार्य के निर्देशानुसार रात्रि के समय में सारी व्यवस्था की आयोजना की और दूसरे दिन प्रातःकाल नामों की सूची जयाचार्य के सामने प्रस्तुत कर दी। उन्होंने साध्वीप्रमुखा द्वारा प्रस्तुत आयोजना को अपनी स्वीकृति दे दी और नए वर्गों के नामों की घोषणा कर दी। पहले दस वर्ग थे। नई व्यवस्था के अनुसार तैंतीस वर्ग हो गए—दस पुराने और तेईस नए। पहले दस गांवों में चातुर्मास होते थे, अव तैंतीस गांवों में चातुर्मास होने की स्थिति वन गई। कुछ साध्विया आचार्यवर की सन्निधि में रही। इस व्यवस्था से धर्म-प्रचार का क्षेत्र व्यापक हो गया।

पुस्तकों का संधीकरण

साधु जीवन ज्ञान और आचार की आराधना के लिये है। पुस्तकें

ज्ञान की संवाहक हैं। इसलिए साधु-संस्था में उनका बहुत महत्त्व रहा है। पुराने जमाने में हस्तलिखित पुस्तकें थी, प्रकाशित पुस्तके बहुत कम मिलती थी। साधु-साध्वियों के कुछ वर्गों के पास पुस्तकें अतिरिक्त थीं, कुछ वर्गों के पास नही थी। जयाचार्य ने सोचा—पुस्तकें सबको सुलभ होनी चाहिए। कोई भी वर्ग अपनी पुस्तकें दूसरे वर्गों को देने के लिए तैयार नहीं था। एक दिन उन्होंने साधु-साध्वियों की परिषद् आमंत्रित की। वर्ग के मुखिया साधु-साध्वियों से पूछा—'साधु-साध्वियां किसके हैं? सब ने एक स्वर में कहा—आपके हैं। दूसरा प्रश्न पूछा—पुस्तके किसकी हैं? उत्तर मिला—जिस वर्ग के पास हैं, उसकी है।

जयाचार्य ने कहा—साधु-साध्वियां मेरे हैं और पुस्तके आप लोगों की हैं। अव मेरे साधु-साध्वियां पुस्तकों का भार नही उठाएंगी। जो वर्ग के अग्रणी है, वे ही अपनी पुस्तकों का भार उठाएं।'[1] जयाचार्य के इस निर्णय से अग्रणी साधु-साध्वियों के सामने असमंजस की स्थिति पैदा हो गई। उन्होने विनम्र स्वर में कहा—आचार्यप्रवर! अकेला अग्रणी इतना भार कैसे उठा सकेगा?

जयाचार्य—यदि भार न उठा सके तो पुस्तकें संघ को समर्पित करे। कुछ वर्गों ने तत्काल अपनी पुस्तकें जयाचार्य के चरणों में समर्पित कर दीं। कुछ वर्ग तत्काल अपने स्वामित्व का विसर्जन नहीं कर सके, किन्तु कुछ समय वाद उन्होंने भी अपनी पुस्तकों से अपना स्वामित्व हटा लिया। साध्वियों के वर्गों ने अपनी पुस्तके साध्वीप्रमुखा सरदारांजी को भेंट की। उन्होंने वे जयाचार्य को भेंट कर दी। अव सारी पुस्तकें जयाचार्य की निश्रा में (संघीय) हो गईं।

पुस्तको का वितरण

साधुओं के पास पुस्तकें अधिक थी, साध्वियों के पास कम। जयाचार्य ने साधु-साध्वियों के सभी वर्गों में उनका अपेक्षानुसार वितरण किया। अग्रणी साध्वियों से मर्यादा-पत्र पर हस्ताक्षर करवाए—साध्वियां और

---

१. यात्रा के समय साधुओ का भार उन्ही के कंधो पर होता है, वे अपने भार को न तो कहीं रख कर जाते हैं और न किसी वाहन का उपयोग करते हैं।

पुस्तकें सव आचार्य की निश्रा में है। तुम्हें ये प्रतिहारिक[1] रूप में दी गई है। चातुर्मास पूरा होने पर आचार्य के दर्शन करे, तव इन्हें आचार्य के चरणों में सर्मपित करेंगी, इन पर ममत्व नही करेंगी, अपनापन नही जताएंगी।[2]

तेरापंथ में यह परंपरा आज भी अविच्छिन्न रूप से चल रही है। साधु-साध्वियों के वर्गो के अग्रणी आचार्य के दर्शन कर कहते है—"ये साधु (या साध्वियां) और पुस्तकें सव आपके चरणों में सर्मपित है। मै भी आपके चरणों में सर्मपित हूं। आप मुझे जहां रखें वहां रहने का भाव है।" यह समर्पण किए बिना अग्रणी जल भी नहीं पी सकता।

मुद्रांकन-प्रणाली

जयाचाय अध्यात्म के मर्मज्ञ थे। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के सापेक्ष मूल्यों से परिचित थे। स्वतंत्रता मनुष्य का अंतिम साध्य है, पर सामाजिक जीवन में वह असीम नही हो सकती। नियंत्रण सामाजिक जीवन का पूरक है, पर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को प्रतिष्ठित नही किया जा सकता। अराजकतावादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सर्वोच्च अच्छाई (सुप्रीम गुड) मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का पूर्ण विकास स्वतंत्रता में निहित है। प्रधों के शब्दों में 'राजनीति स्वतंत्रता का विज्ञान है।' लिओ टालस्टाय (१८२८-१९१०) सत्ता के विरोधी थे। महात्मा गाधी (१८६९-१९४८) सत्ता का विकेंद्रीकरण चाहते थे। मार्क्स ओर एंजेल्स ने भी राज्य-विहीन समाज-व्यवस्था की परिकल्पना की थी, किन्तु उन्होने कहा—संक्राति-काल में सर्वहारा अधिनायकत्व रहेगा। उस (सर्वहारा अधिनायकत्व) मे राज्य का अस्तित्व बना रहेगा। लेनिन राज्य-विहीन समाज को आदर्श ही मानते थे, व्यवहार्य नही। उनके मत मे शक्ति और हिसा के केन्द्रीय सगठन शोषक वर्ग के अवशेषों को समाप्त करने व समाजवादी व्यवस्था का मार्ग-दर्शन करने के लिए जरूरी रहेगे। अधिनायकवादी व्यवस्था मे नियंत्रण पर वल है, और जनतांत्रिक व्यवस्था मे स्वतंत्रता पर वल हे। किन्तु इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि अधिनायकवादी व्यवस्था में स्वतंत्रता का कोई मूल्य नही है और जनतात्रिक व्यवस्था मे नियंत्रण के लिए कोई स्थान नही है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक

1. जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व न हो, जो आवश्यकतापूर्ति के लिए ली या दी गई हो।
2. ते. आ. म्र. २, पृ. १२० [जयसुजश, ३६।११,१२]।

जीवन में स्वतंत्रता और नियंत्रण दोनों सापेक्ष ही चल सकते हैं। निरपेक्ष स्वतंत्रता इस स्थूल शरीर से परे सूक्ष्म शरीर के जगत् में जीने वाले अध्यात्म-साधक मे हो सकती है। इसी प्रकार निरपेक्ष नियंत्रण भी मानवता की सीमा से परे पहुंचाने वाला कोई क्रूर शासक ही कर सकता है।

धर्म का सूत्र है—कोई किसी पर शासन न करे। भगवान् महावीर ने कहा—कोई मनुष्य किसी मनुष्य द्वारा शासित होने योग्य नही है। महान् दार्शनिक लाओत्से ने भी कहा था—एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर शासन करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। सिद्धान्ततः व्यक्तिगत स्वतत्रता का पल्ला भारी है। व्यवहार के धरातल पर नियंत्रण का पक्ष सशक्त है। जयाचार्य हृदय-परिवर्तन के पक्षधर थे, साथ-साथ नियंत्रण को उसका पूरक मानते थे। उन्होने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और नियंत्रण मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। जो पुस्तकें समुच्चय[1] की हो गई, उन पर उन्होंने मुद्राकन का निर्देश दिया। वह मुद्रांकन की प्रणाली आज भी चालू है। मुद्राकन की भाषा थी—'यह ग्रंथ भिक्षु, भारीमाल, ऋषिराय, जीतमल आदि गणपति ने वर्तमान आचार्य री निश्रा में है।'

कुछ पुस्तकें निरंतर पढ़ने के काम आती थी, उन्हें व्यक्तिगत रखने की स्वीकृति दे दी। जो पुस्तकें साधु लिखते और अपने उपयोग के लिए रखना चाहते, उन्हे भी व्यक्तिगत रखने की स्वीकृति दे दी। उन पर मुद्राकन नही किया गया। मुनि किसी भी वस्तु के लिए 'मेरी' या 'अपनी' का प्रयोग नही कर सकता। इसीलिए वह 'निश्रा' का प्रयोग करता है। इसका आशय यह है—'मै उस वस्तु का उपयोग कर रहा हू, अभी वह मेरे संरक्षण में है।' यह निर्ममत्व का सिद्धांत प्रयोग मे नही आ रहा था। जयाचार्य ने व्यवस्था के द्वारा उसे प्रायोगिक वना दिया। समुच्चय की पुस्तको को किसी वर्ग से लेना, किसी वर्ग को देना, यह सव आचार्य के अधिकार मे आ गया।

---

१ जो सबीय हो, सबके लिए हो, वह 'समुच्चय' का उपकरण कहलाता है। हमारी व्यवस्था में व्यक्तिगत और समुच्चय —ये दोनों प्रणालियां मान्य है।

व्यक्तिगत पुस्तकों का उपयोग करने मे हर व्यक्ति स्वतंत्र था।[1]

देहावसान के वाद व्यक्तिगत पुस्तकें भी समुच्चय की हो जाती थी। आचार्य से स्वीकृति प्राप्त किए विना कोई साधु अपनी पुस्तके किसी दूसरे साधु को नही दे सकता।

गाथा प्रणाली

जैसे-जैसे साधु-साध्वियों की संख्या वढ़ी वैसे-वेसे पुस्तकों की अपेक्षा भी बढ़ी। कुछ पुस्तकें यतियों के ग्रंथ-भंडारों से मिल जातीं और शेष पुस्तकों की पूर्ति मुनि लिख कर करते। उन दिनों हस्तलिखित पुस्तकों का ही प्रचलन था। जयाचार्य ने लिपि-सुधार का प्रयत्न किया। अनेक मुनि हस्त-लिपि में कुशल हो गए।

पुस्तके समुच्चय की हो गईं। अब लिखने का आकर्षण क्या होगा? यह प्रश्न जयाचार्य के मस्तिष्क में घूम रहा था। इसका समाधान उन्होंने गाथा-प्रणाली की व्यवस्था में खोजा। इस प्रणाली को अपरिग्रही साधुओं की अर्थ-व्यवस्था कहा जा सकता है।

जयाचार्य ने बत्तीस अक्षर के पद्य को एक गाथा मानकर व्यवस्था की—जो व्यक्ति जितनी गाथा लिखेगा, उसके उतनी गाथा जमा हो जाएंगी।

---

१. कुछ साधु अपने वर्ग की पुस्तके समुच्चय की निश्रा मे देना नही चाहते थे। जो अधिकार प्राप्त होता है उसे छोड़ना सहज-सरल नही होता। जयाचार्य नियत्रण के द्वारा उनकी पुस्तको को लेना नही चाहते थे। उन्होने एक नया रास्ता खोज निकाला। उन्होने कुछ साधुओ को चालू व्यवस्था मे छूट दी, बदले मे उनसे पुस्तके ली। मुनि बच्छराजजी ने सकल्पपत्र लिखा—चार सौ एक पन्ने मैं अपनी निश्रा मे रखूगा, शेप जितना लिखूगा, वह सब जयाचार्य को सौंप दूगा।

- मुनि भवानजी ने परिषद् के बीच इकतीस सौ पन्ने भेट किए।
- ऋषि हिंदूजी को समुच्चय का भार उठाने की व्यवस्था से मुक्त किया, उसके बदले मे उन्होने १८९५ पन्ने दिए। १२०५ पन्ने और दिए। कुल मिलाकर उन्होने ३१०० पन्ने भेंट किए।
- मुनि हीरालालजी ने ३१०० पन्ने समर्पित किए।

इस प्रकार अन्य साधुओ ने व्यवस्था से कुछ छूट ली और अपने पन्ने भेंट किए। यह कार्य बहुत ही उल्लासमय वातावरण में हुआ। जयाचार्य ने सकल्प-पत्रो पर हस्ताक्षर किए और सबद्ध मुनि ने भी उस पर हस्ताक्षर किए। आचार्य और साधु—दोनों की सहर्ष स्वीकृति से कार्य सपन्न हुआ।

हस्तलिपि और लेख्य ग्रंथ दोनों आचार्य द्वारा स्वीकृत होने पर ही गाथाएं जमा की जा सकेंगी। गाथा जमा कराने का आकर्षण पैदा करना जरूरी था, इसलिए उन्होंने अग्रणी साधु-साध्वियों पर कर लगाया। उसके अनुसार प्रत्येक अग्रणी साधु को प्रतिदिन पच्चीस गाथाएं भरना और प्रत्येक अग्रणी साध्वी को प्रति वर्ष एक रजोहरण और एक प्रमार्जनी भेंट करना अनिवार्य हो गया। इस व्यवस्था से साधुओं में लिपि-कला का और साध्वियो मे निर्माण-कला का विकास हुआ। लिपि की प्रेरणा पुष्ट हो गई। गाथा जमा कराने की मनोवृत्ति भी बन गई।

आय और व्यय के स्रोत

गाथा प्रणाली को उपयोगी वनाने के लिए उसे सेवा और कार्य के साथ जोड़ दिया गया। रुग्ण साधु की एक दिन की सेवा कर कोई भी साधु पच्चीस गाथा जमा करा सकता था। दूसरे साधु के समुच्चय का कार्य कर उससे गाथाएं प्राप्त की जा सकती थी। प्रति-लेखन गाथाओं की आय का मुख्य स्रोत था। सेवा लेने, दूसरे साधु से समुच्चय का कार्य कराने, समुच्चय का भार न उठाने के वदले में गाथाएं कटती थी। साध्वियो के पास कपड़ों की सिलाई और पात्रों का रंग-रोगन करने के वदले में गाथाएं भरानी होती थी। इन सवका निश्चित अनुपात था। जयाचार्य ने एक ऐसी अपरिग्रही अर्थ-व्यवस्था को जन्म दिया, जिसका आधार पच्चीस प्रतिशत स्वाध्याय ग्रंथ और पचहत्तर प्रतिशत सेवा और श्रम था।

प्रतिवर्ष गाथाओ के आय-व्यय का लेखा करने की पद्धति चालू की गई। मर्यादा महोत्सव के अवसर पर जव साधु इकट्ठे होते तव जयाचार्य द्वारा नियुक्त लेखपाल गाथाओं का लेखा करते। जयाचार्य को लेख-पत्र दिखा कर लेखा किया जाता और लेखा कराने पर फिर उन्हें दिखाना होता। गाथाओ के जमा या नामे का लेखा-पत्र संवद्ध व्यक्ति को दिया जाता और उसकी प्रतिलिपि लेखपाल के पास रहती।

आहार का संविभाग

असंविभागी को मोक्ष नहीं मिलता—भगवान् महावीर के इस शिक्षा-पद को पढने वाला असंविभागी कैसे होगा ? फिर भी यह शिक्षापद है, दूरद-

परिवर्तन का सूत्र है। यह व्यवस्था-सूत्र नहीं है। व्यवस्था का सबंध परिस्थिति के साथ होता है।

आचार्य भिक्षु के समय में साधु अधिक थे, साध्वियां कम थीं। उन्हें एक गाँव में साथ-साथ चातुर्मास करने का अवसर भी कम मिलता था। कभी-कभी ऐसा अवसर मिलता तव गोचरी में जो आहार आता, उसमे प्राथमिकता साधुओं की रहती, अवशिष्ट आहार साध्वियों को मिलता। ऋषिराय तक यह प्रणाली चालू रही। जयाचार्य ने किशनगढ़ में एक व्यवस्था की। उन्होंने कहा—आगम में पुरुष के लिए वत्तीस और स्त्री के लिए अट्ठाईस कवल आहार का प्रमाण वतलाया गया है। गोचरी में आने वाले आहार को इस आधार पर साधु-साध्वियों में संविभाग किया जाए। इस अनुपात से आहार का संविभाग होने लगा। आचार्य के प्रवास-स्थल पर सारा आहार इकट्ठा होता। फिर साधु उक्त अनुपात से उसका संविभाग कर साध्वियों के हिस्से का उन्हें दे देते। साध्वियां उस आहार को वड़ी साध्वी के प्रवास-स्थल पर विभक्त कर लेतीं।[1] यह व्यवस्था कुछ महीनों तक चलती रही। अगले वर्ष नाथद्वारा में दीपावली के दिन इस व्यवस्था को बदल दिया। बत्तीस और अट्ठाईस कवल के अनुपात वाली व्यवस्था को समाप्त कर पूर्ण संविभाग की व्यवस्था चालू कर दी।[2]

संविभाग मात्र व्यवस्था न हो, वह हृदय-परिवर्तन के द्वारा स्वीकृत हो, जयाचार्य यह चाहते थे। वे हृदय-परिवर्तन के कुशल प्रयोगकार थे। उन्होंने संविभाग के गुण और असंविभाग के अवगुण बताने वाला एक लघु निबंध लिखा और एक गीतिका रची। उसका नाम रखा 'टहुका'। इस का अर्थ है—कोयल की कुहक। आहार के समय यह साधुओं को सुनाया जाता। धीमे-धीमे संस्कार वदल गए। संविभाग का प्रयोग हृदयंगम हो गया।

आहार के संविभाग को व्यावहारिक रूप देने के लिए कुछ पूरक व्यवस्थाएं अपेक्षित थी। पहले मंडल की व्यवस्था की गई। सुविधा की दृष्टि से साधु-साध्वियों के मंडल (छोटे-छोटे यूनिट) वनाए। मारवाड़ी में उन्हें स्हाज (संस्कृत—साहाय्य) कहा जाता है। एक मंडल का मुखिया होता और तीन या चार उसके सहायक होते। सर्दी की मौसम में साधु-साध्वियों

---

१ ते. आ. प. २, पृ० १२२ [जयसुजश ३७।८-११]।
२ ते. आ प २, पृ०. १२५ [जयसुजश, ३९।४-५]।

की संख्या वढ़ती तव मंडल की संख्या भी वढ़ जाती और मंडलों में साधु-साध्वियों की संख्या भी बढ़ जाती। मंडल के मुखिया पर अपने सहयोगियों की देख-भाल का दायित्व भी रहता। कोई भी साधु अकेला आहार नही कर सकता था। प्रत्येक साधु के लिए मंडल में रहना अनिवार्य था। दूसरी व्यवस्था संविभाग-पत्र की की गई। इसे 'धडा' कहा जाता था। इसके द्वारा आहार की मात्रा का (न कम, न अधिक) नियमन होता था। संविभाग-पत्र में भोजन-द्रव्यों की तालिका होती, मंडल के मुखिया के नाम अंकित होते। भोजन-द्रव्यों के विभाग की मात्रा अंकों में निश्चित कर दी गई। मंडल के मुखिया अपने-अपने मंडल की अपेक्षा के अनुसार विभाग के अंक अपने-अपने कोष्ठकों में लिख देते। जितने विभागांक होते, उतने भोजन की व्यवस्था आचार्य करते। भोजन आने पर उसका विभागांकों के अनुसार संविभाग हो जाता।

श्रम का संविभाग

कार्य को दो भागों में विभक्त किया गया—व्यक्तिगत और समुच्चय। व्यक्तिगत कार्य सव अपना-अपना करते थे। आचार्य के कार्य तथा संघीय कार्य समुच्चय के कार्य होते है। इस कार्य के लिए पहले कोई निश्चित व्यवस्था नही थी। जयाचार्य ने प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए समुच्चय-कार्य को अनिवार्य-सेवा वना दिया। प्रत्येक साधु-साध्वी दीक्षा-पर्याय के क्रम से वारी-वारी कार्य करने लगे। सव काम व्यवस्थित रूप से संपन्न होने लग गए।

व्यक्तिगत कार्य में स्वार्थ की प्रवल प्रेरणा होती है, व्यक्तिगत लाभ का आकर्पण होता है। समुच्चय कार्य के साथ कोई प्रेरणा जुड़ी हुई नहीं होती, सीधा लाभ नही मिलता। इसलिए समुच्चय-कार्य वहुत कम सफल होते है। जयाचार्य ने सामुदायिक कार्यक्रमों के साथ 'निर्जरा' की प्रेरणा जोड़ी। साधु-संस्था में निर्जरा के प्रति वहुत आकर्पण होता है। निर्जरा का अर्थ है—चित्त की निर्मलता। इस प्रेरणा ने सामूहिक व्यवस्था की सुसपन्नता में महत्वपूर्ण योग दिया। अच्छा कार्य करने वालों को समय-समय पर पुरस्कृत किया, उन्हें प्रोत्साहन दिया। फलतः समुच्चय की व्यवस्था स्वाभाविक वन गई। समुच्चय के मुख्य-मुख्य कार्य ये थे—

१. **स्थान का प्रमार्जन**—जिस स्थान में आचार्य या साधु-साध्वियों का प्रवास होता है, उस की सफाई।

२. **पुस्तकों का प्रतिलेखन**—हस्तलिखित पुस्तकों की सार-संभाल।

३. **आहार संविभाग**—संविभाग-पत्र लिखाना, आचार्य को निवेदन करना, आहार आ जाने पर उसका विभाग कर प्रत्येक मंडल को निमंत्रित करना और मंडलपति के दीक्षा-पर्याय की जेष्ठता के क्रम से आहार का विभाग देना।

४. **जल का संविभाग**—आहार की भांति जल का विभाग करना।

५. **स्थान प्रतिलेखन**—कोई भी वस्तु नीचे विखरी हुई न रहे, स्थान के बाहर, छत पर या खुले आकाश में न रहे, इसकी देखभाल करना। जिनके वस्त्र-खंड आदि गिर गए हों, उन्हें यथास्थान पहुंचाना।

६. **उत्सर्ग-व्यवस्था**—प्रस्रवण के स्थान आदि की व्यवस्था करना।

७. आचार्य के बैठने के स्थान, पट्ट आदि की व्यवस्था करना।

मंडल के समुच्चय-कार्य भी बारी-बारी से संपादित किए जाते।

जयाचार्य के लिए प्रयोगभूमि थे मुनि मघवा। नया कार्य और नई व्यवस्था का पहला प्रयोग उन्हीं पर होता। उन पर किया गया प्रयोग सहज ही सर्वमान्य हो जाता। प्रचलित व्यवस्था के अनुसार दीक्षा-पर्याय में छोटा मुनि समुच्चय के कार्य करता। किसी दूसरे मुनि के दीक्षित होने पर वह समुच्चय के कार्य करने से मुक्त हो जाता। जयाचार्य ने इस व्यवस्था को बदल कर बारी-बारी से एक-एक दिन समुच्चय के कार्य करने की व्यवस्था को प्रचलित करना चाहा, पर जो मुनि पुरानी व्यवस्था के अनुसार कार्य कर चुके थे, वे नई व्यवस्था से सहमत नहीं हो रहे थे। जयाचार्य ने कहा—मघजी! मैं समुच्चय के कार्य की नई व्यवस्था करना चाहता हूं, क्या तुम उसके लिए तैयार हो?

मघवा—आचार्यवर जो व्यवस्था करना चाहें, उसके लिए मैं तैयार हूं।

आचार्यवर ने कहा—पांच वर्ष तक समुच्चय के कार्य वारी-वारी से करने का संकल्प करो।

मघवा ने संकल्प स्वीकार कर लिया। मघवा की स्वीकृति का अर्थ हुआ सवकी स्वीकृति।

समानता का अर्थ

जयाचार्य ने जीवन की अनिवार्य अपेक्षाओं की पूर्ति के क्षेत्र में

समानता के प्रयोग किए। कोई विद्वान् व जनता में सम्मान-प्राप्त मुनि हो या कोई साधारण क्षमता वाला मुनि हो, आहार और श्रम के संविभाग में दोनों में कोई भेद नही किया जा सकता। वर्ग और मंडल का मुखिया योग्यता-संपन्न को ही बनाया जा सकता है, साधारण को नही। योग्यता से संबंधित कार्यो में समानता का सिद्धांत नही होता। जीवन-यात्रा की अपेक्षा और योग्यता—ये दो भिन्न आधार है। दोनो को एक ही तराजू से नही तोला जा सकता। *अनिवार्य श्रम और संघीय-क्षमता में वृद्धि करने* वाले श्रम के मूल्याकन का दृष्टिकोण भी भिन्न था। समता का अर्थ यान्त्रिकता नहीं है। वह विवेक द्वारा संचालित प्राणवान् प्रणाली है। मार्क्स-वाद में भी श्रम और योग्यतापूर्ण श्रम के प्रति मूल्यांकन का दृष्टिकोण एक नही है। यशपाल ने लिखा है—

"समाजवादी आर्थिक-व्यवस्था में समता को ठीक रूप में समझ लेने के लिये समाजबाद के इस सिद्धांत पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का पूरा फल पाने के समान अवसर"—इसका स्पष्ट अर्थ है कि यदि एक व्यक्ति विशेप श्रम द्वारा या विशेप परि-श्रम से प्राप्त की गई योग्यता द्वारा समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण काम करता है तो वह अपने श्रम के पूरे फल अर्थात् साधारण योग्यता और श्रम से समाज के लिये काम करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक फल का अधि-कारी है। रूसी समाजवादी समाज में इसका क्रियात्मक उदाहरण मौजूद है। रूस में हथौड़ा चलाने वाले या कोयला झोंकने वाले मजदूर की अपेक्षा मशीनो का आविष्कार करने वाले व्यक्ति अधिक फल या वेतन पाते है।

"प्रश्न यह हो सकता है कि फिर आर्थिक समता कैसे हुई ? यदि एक व्यक्ति अपने श्रम के फल से मोटर खरीद कर सवारी कर सकता है और दूसरे को पैदल चलना पड़ता है तो समता क्या हुई ? समाजवादी समता यह है कि दोनों व्यक्ति अपने-अपने श्रम का पूरा फल पा रहे है। मोटर पर चढने वाला व्यक्ति अपने अधिक उपयोगी श्रम का फल पा रहा है, किसी दूसरे के श्रम का भाग हथिया कर मुनाफा नही कमा रहा है। हथौड़ा चलाने वाले या कोयला झोंकने वाले व्यक्ति के साथ समता और न्याय का व्यव-हार यह है कि उसे अपने श्रम का पूरा फल मिलेगा और उसे शिक्षा द्वारा अपने योग्यता बढ़ाने का भी अवसर होगा।"

"समाज यदि अधिक योग्यता से समाज के लिए काम करने वाले व्यक्तियों और अधूरी योग्यता से काम करने वाले व्यक्तियों को एक ही जैसा फल देता है तो यह भावुकता पूर्ण समता कहलायेगी। यह समता व्यावहारिक नही होगी।"[1]

सेवा की अनिवार्यता

वृद्ध व बीमार साधु की सेवा प्रत्येक साधु के लिए तथा वृद्ध व बीमार साध्वी की सेवा प्रत्येक साध्वी के लिए अनिवार्य कर दी गई। साध्वियों के लिए लाडनू में एक सेवा-केन्द्र की स्थापना की गई। साध्वियों के प्रत्येक वर्ग के लिए एक वर्ष की सेवा देना अनिवार्य है। सेवा को बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त है। वह अपने चित्त की निर्मलता के लिए की जाती है। इसलिए तेरापंथ की सेवा-वत्ति एक अनुकरणीय आदर्श मानी जाती है।

१, मार्क्सवाद, पृ. ७३,७४।

२५

शक्ति का रहस्य

शक्ति-पूजा सबसे बड़ी पूजा है। जलती आग का अस्तित्व सब मानते है। बुझी हुई आग राख बन जाती है। उस पर निःसंकोच भाव से लोग घूमते-फिरते हैं। शक्ति है ज्योति; शक्ति है प्रज्वलन। उसके प्रगट होने के दो उपाय है—एकाग्रता और ध्येय के प्रति समर्पण। जयाचार्य शक्ति-संपन्न पुरुष थे। उनकी शक्ति को खोजा जा सकता है उनकी जीवन-घटनाओं में। सं० १८७५ के आसपास की घटना है। उस समय वे पंद्रह वर्ष की अवस्था में थे। मुनि हेमराजजी के पास अध्ययन कर रहे थे। एक बार मुनि हेमराजजी पाली पधारे, बाजार की दुकानो में ठहरे। उन दिनों वहा एक नट मंडली आई हुई थी। नटों ने बाजार मे नाटक शुरू किया। हजारो लोग अपलकदृष्टि से उसे देख रहे थे। उस समय जयाचार्य किसी ग्रंथ की प्रतिलिपि करने में लीन थे। एक वृद्ध पुरुष की आंखे नाटक से हट कर उन पर जा टिकी। वह इस टोह में था कि सामने बैठा बालक मुनि कब नाटक देखता है। डेढ-दो घटा के बाद नाटक पूरा हो गया। तब उस वृद्ध ने अपने साथियो से कहा—'हम लोग तेरापंथ की नीव को कमजोर करना चाहते है, पर वह कमजोर नही होगी। वह सौ वर्ष तक तो हिलेगी ही नही।' साथियो ने आश्चर्य के साथ पूछा—'तुम यह कैसे कहते हो ?' उसने कहा—'प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर कहता हूं। तुम लोग अभी नटो का नाटक देख रहे थे। मैं इस बाल मुनि का नाटक देख रहा था। मेरा ध्यान इस ओर चला गया- बाल मुनि कब नाटक देखता है। न उसने नाटक देखा और न मैंने देखा। वह अपने काम में लगा रहा और मैं उसके छिद्रान्वेषण में लगा

रहा। आखिर नाटक संपन्न हो गया। जिस संघ में ऐसा 'स्थितप्रज्ञ' एकाग्र-चित्त वाला और अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित मुनि है, वह संघ अवश्य चिर-जीवी है। उसकी नींव को हिलाने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकेगा।'

जीवन और मृत्यु की संधि-बेला चल रही थी। बाबू दुर्गाप्रसादजी नाड़ी देखने आए। साधुओं ने जयाचार्य से प्रार्थना की—बाबूजी आए है। जयाचार्य ने इसका कोई उत्तर नही दिया। साधुओं ने सोचा, मौन होगा अथवा हलकी सी झपकी आई होगी। थोड़ी देर बाद जयाचार्य स्वयं बोले—उस समय मै ध्यान में था, इसलिए मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।'[1] बचपन मे जिस एकाग्रता का दर्शन होता है वह जीवन की संध्या में कितनी विकसित हो जाती है, उसकी कल्पना नही की जा सकती। मनुष्य चलता-फिरता हो या मृत्यु-शय्या पर स्थित, स्वस्थ हो या अस्वस्थ, यदि वह ध्यान का अभ्यासी है तो उसके ध्यान सहज ही घटित हो जाता है।

जयाचार्य ध्यान के सैद्धान्तिक और अभ्यास—दोनों पक्षों का स्पर्श कर रहे थे। उन्होंने योग की युक्तियों को हृदयंगम किया था।[2] वे लंबे समय तक ध्यान और कायोत्सर्ग की मुद्रा में रहते थे। ध्यान के विषय में उनकी तीन लघु रचनाएं मिलती हैं। 'छोटो ध्यान' और 'बड़ो ध्यान'–ये दोनों गद्य में लिखित हैं। 'आत्म ध्यान' उनकी पद्यात्मक कृति है।[3] इनमे श्वासप्रेक्षा, भेद-विज्ञान और लेश्याध्यान (रंगों का ध्यान) की महत्त्वपूर्ण पद्धतियां प्रदर्शित हैं। 'अ सि आ उ सा' उनका इष्ट मंत्र था। इस मंत्र की आराधना से उन्हें दिव्य-आत्मा का साक्षात्कार हुआ, ऐसा उनकी रचनाओं से ध्वनित होता है।[4]

आचार्य भिक्षु उनके प्रेरणा-स्रोत थे। उनके साथ जयाचार्य का तादात्म्य अपूर्व था। वह उन्हें शक्ति-धारा से अभिषिक्त करता रहता था।

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. १६० [जयसुजश, ६४।१-३]।

२. ते. आ. ख. २, पृ. २०३ [जयसुजश, ६६।३१]।

३. आराधना [ध्यान प्रकरण] पृ. ६५-६७।

४. (क) आराधना [अध्यात्म पदावली—जिनशासनमहिमा १।२४] पृ. १४२।

असिआउसा भक्त ते, इन्द्रादिक हरसत।
वचन-शूर शासण सुरी, परतख ही परखत ॥

(ख) वही [अध्यात्म पदावली—जिनशासनमहिमा २।४] पृ० १४३।

शासण स्हाज करै निरवद सुरी, असिआउसा प्रणमै परखी।

२६

स्वतंत्र चिंतन के प्रयोग

जयाचार्य धर्म के शास्ता थे। धम का अर्थ है स्वतंत्र चेतना का विकास। प्रतिबद्ध चेतना का विकास सामाजिक स्तर पर भी होता है। अप्रतिवद्ध चेतना के विकास की सर्वाधिक संभावना धर्म के क्षेत्र में ही हो सकती है। आचार्यवर ने संभावना के दरवाजे कभी बंद नहीं किए। वे अपने चिंतन के साथ दूसरों के चिंतन को भी बहुत मूल्य देते थे। उनके द्वारा किए गए कुछ प्रयोग इसके स्वयंभू साक्ष्य हैं।

अकेला साधु अकेली स्त्री के पास खड़ा न रहे। इसी प्रकार अकेली स्त्री से बातचीत न करे। इसी प्रकार अकेली साध्वी अकेले पुरुष के पास खड़ी न रहे तथा अकेले पुरुष से बातचीत न करे। यह शास्त्रीय व्यवस्था है, चिरंतन विधि है। तीसरा व्यक्ति कितनी दूरी पर होना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख प्राचीन परंपरा में उपलब्ध नहीं है। जयाचार्य ने इस विषय पर चिंतन किया। एक निश्चित विधि का विधान करने के लिए उन्होंने पांच साधुओं को बुलाकर कहा—तुम अपना स्वतंत्र चिंतन कर वताओ, तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर होना चाहिए। न परस्पर परामर्श करो और न अपना चिंतन दूसरे को वतलाओ। आचार्यवर के निर्देशानुसार पांचों साधु अपने-अपने चिंतन के साथ आचार्यवर के समक्ष उपस्थित हुए। दो साधुओ ने अधिकतम दूरी नौ-नौ हाथ की, अन्य दो साधुओं ने अधिकतम दूरी सात-सात हाथ की और एक साधु ने अधिकतम दूरी पांच-पांच की सोची थी।

आचार्यवर ने पांचों साधुओं के द्वारा चिंतित हाथों का सकलन कर

२७

संघर्ष के स्फुलिंग

जयाचार्य आगमों के दोहनकार और भाष्यकार थे। वे शाश्वत और परिवर्तन-दोनों का मूल्य जानते थे। चर्या और व्यवस्था के सिद्धात परिवर्तनशील होते हैं। इस आधार पर पुरानी परंपरा का स्थगन और नई परंपरा का सूत्रपात होता है। आचार्य भिक्षु के समय मे जो परंपराएं चलती थी, जो व्यवहार चलते थे, उन्हें जयाचार्य ने स्थगित किया और नई परंपराओं और नए व्यवहारों का प्रवर्तन किया। छोटी-वड़ी मर्यादाए और 'परंपरा की जोड़' इस विषय में उनकी उल्लेखनीय रचनाएं है। जो आचार्य परिवर्तन का प्रयोग करते है, उनका पंथ कंटकाकीर्ण होता है। वे समीक्षाओं, आलोचनाओं, विरोधों और संघर्षो से बच नही सकते। जयाचार्य ने परिवर्तन किए सौरभ विखेरने के लिए, पर बीज अंकुरित हुए बिना सुरभि नही होती। कुछ लोग बीज के ही उत्खनन में लग जाते है। मर्यादा महोत्सव की स्थापना के साथ ही उसका विरोध शुरू हो गया था। आचार्यवर ने सामाचारी को व्यावहारिक बनाने की अनेक विधियां प्रस्तुत की। उनके पास आगम की ऊंचाई, उसके अर्थ की गहराई, दोनों थी। तीन महान् माने जाते है—हिमालय, समुद्र और अपने अस्तित्व की गहराइयों को खोजने वाला। वे इन तीनो दृष्टि से महान् थे। महानता को पहचानने के लिए भी महान् होना होता है। जो प्रकृति से महान् नही होते, वे हर कार्य मे क्षुद्रता को ही देखते है। जयाचार्य मे बावन दोष बतलाए गए। बतलाने वाले थे उन्ही के शिष्य। आचार्यवर ने उन सभी दोषों को लिख लिया। वे आज भी उपलब्ध है। इतिहास का साक्ष्य है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना का पहला स्वागत विरोधी विचार द्वारा होता है।

आचार्य का दायित्व केवल व्यवस्था का संचालन ही नही होता। पुरानी व्यवस्था को बदलना और नई व्यवस्था का निर्माण भी उनके दायित्व का एक महत्वपूर्ण भाग है। जयाचार्य अपने दायित्व के प्रति पूर्ण सजग थे। उन्होंने अनुभव किया कि मुनि-जीवन में जल की बहुत वड़ी समस्या है। अचित्त (निर्जीव) जल मिलना वहुत कठिन है। सर्दी के दिनों में गर्म जल मिल जाता है, पर गर्मी के मौसम में वह नही मिलता। उन्होंने चिंतन के वाद इस समस्या को समाधान दिया—राख मिला हुआ जल अचित्त होता है। वह लिया जा सकता है। बात युक्ति-संगत थी। आटा मिला जल अचित्त हो सकता है, तो राख मिला जल अचित्त क्यों नही होगा ? राख का स्पर्श आटे के स्पर्श से बहुत तीक्ष्ण होता है। एक साधु ने आचार्य से कहा—राख से जल अचित्त होता है, इसमे संदेह है।

आचार्यवर—किसे संदेह है ?

साधु—मुझे भी है और जिनकी थाप-उत्थाप आपको मान्य है, उन्हें भी है।

युवाचार्य मघवा पास में ही बैठे थे। आचार्यवर ने उन्हें संवोधित कर पूछा—'क्यों मघजी ! राख से जल के अचित्त होने में तुम्हें संदेह है ?

मघवा ने वद्धांजलि हो उत्तर दिया—गुरुदेव ! मुझे कोई संदेह नही है।

वह साधु वोला—मुनि छोगजी के मन में संदेह है।

आचार्यवर—छोगजी की थाप-उत्थाप मुझे मान्य नही है। मुझे मघजी की थाप-उत्थाप मान्य है। यदि इनके मन में सदेह हो तो मै इस विपय पर पुनर्विचार कर सकता हूं।

इस प्रसंग ने मुनि छोगजी के मन को उद्वेलित किया। उनका नाम भावी आचार्य की सूची में था। वे अपने आप को वहुत योग्य मानते थे। उनका अहंकार भी प्रखर था। आचार्यवर मघवा के चारित्र और व्यवहार से जितने संतुष्ट थे, उतने छोगजी के चारित्र और व्यवहार से नही थे। इसलिए वे प्राथमिकता मघवा को देते। छोगजी के लिए यह स्थिति असह्य हो जाती।

छोगजी की अपेक्षा उनके वड़े भाई चतुर्भुजजी का अहंकार और अधिक प्रवल था। जयाचार्य उन्हे सवसे अधिक अनुशासनहीन वतलाते थे।

उनमें स्वार्थ प्रवल था। प्रवल थी उनकी महत्वाकांक्षा। वे मान कर बैठ थे कि मेरे भाई छोगजी जयाचार्य के उत्तराधिकारी बनेंगे। उनके आचार्य बनने पर मेरा सम्मान बढ़ेगा। वे अपनी भावना को यदा-कदा साधुओं के सामने भी प्रगट कर देते।[1]

मघवा युवाचार्य बन गए। चतुर्भुजजी का स्वप्न टूट गया। तब द्वेष की अग्नि उनके भीतर प्रज्वलित हो गई। वे छिपे-छिपे आचार्यवर की निंदा करने लगे। यह निंदा का क्रम कुछ साधुओं के सामने भी चलता और गृहस्थों के सामने भी।[2]

ये सारी बातें जयाचार्य के कानों तक पहुंची। आचार्यवर ने परिषद् के बीच में उन्हें उलाहना दिया। चतुर्भुजजी इस घटना से बहुत उत्तेजित हो गए। उन्होने कहा—आचार्यवर ने सब साधुओं के सामने मुझ से ऐसा व्यवहार किया है तो अब मैं भी मौन नही रहूंगा। मैं स्वतत्र होकर इनके दोषों का विवरण जनता के सामने प्रस्तुत करूंगा, तब इन्हे मेरे अस्तित्व का पता चलेगा।

आचार्यवर मुझे अग्रणी बना स्वतंत्र विहार का अवसर नही दे रहे हैं। मुझे लक्ष्य कर कड़ी-कड़ी मर्यादाएं बना रहे है। मै अकेला इन सबका विरोध कैसे करूं? यह सोच उन्होंने दूसरे साधुओं को अपने पक्ष मे करने का प्रयत्न शुरू कर दिया।[3]

चतुर्भुजजी धीमे-धीमे अपने प्रयत्न में कुछ सफल हुए। संघ मे सब प्रकार के साधु होते है। कुछ अहंकारग्रस्त होते है, कुछ रसलोलुप, कुछ काम-वासना पर पूरा नियंत्रण नही कर पाते। आचार्य के सामने उनकी दुर्बलता के प्रसंग आते है तब आचार्य उन पर अनुशासन करते है। वे सोचते है—आचार्य हमारे पीछे पड़े हुए है। वे अनुशासन को सम्यक् रूप में ग्रहण नही करते। वे आचार्य के विरोध में खड़े हो जाते है। मुनि चतुर्भुजजी को कुछ ऐसे साधुओं का सहारा मिल गया। उनका पक्ष कुछ प्रवल हो गया।

जयाचार्य ने 'लघुरास' में छह अनुशासनहीन साधुओं का वर्णन किया

---

१ लघुरास, १।१-५।

२. वही, १।६-१३।

३. वही, १।१८-२०।

है। उनमें कुछ व्यक्ति अनेक बार संघ से अलग और संघ में सम्मिलित हुए। उसकी तालिका यह है—

प्रथम	दो बार
द्वितीय	चार बार
तृतीय	तीन बार
चतुर्थ	तीन बार
पंचम	चार बार
षष्ठ	दो बार

जयाचार्य इस घटना-चक्र के प्रति पूर्ण सजग थे। वे इस पर वरावर ध्यान रखते थे। संघ की अखंडता और एकसूत्रता के लिए यह आवश्यक था। आचार्यवर के द्वारा 'लघुरास' मे एक संस्कृत श्लोक उद्धृत है। वह उनकी सजगता का स्वयभू साक्ष्य है :

कुशिष्याः कुग्रहाश्चैव, मिलिता यत् परस्परम्।
अनर्थायैव जायन्ते, यदि गुरुर्न पश्यति॥

यह श्लेष-काव्य है। इसके दो अर्थ होते हैं। संघ की दृष्टि से इसका अर्थ है—कुशिष्य परस्पर मिलते हैं, वह अनर्थ के लिए होता है, यदि गुरु नही देखता। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार इसका अर्थ है—कुग्रह परस्पर मिलते है, वे अनर्थकारक होते है, यदि उन पर गुरु की दृष्टि नही होती।

ऋषिराय के साथ एक साधु ने प्रवंचनापूर्ण व्यवहार किया। उन्हें जलाशय के तट-बंध पर अकेला छोड़ वह चला गया। इस स्थिति मे ऋषिराय ने मुनि जीतमलजी को अपना उत्तराधिकारी वनाने का निर्णय लिया। कुछ साधु नही चाहते थे कि मुनि जीतमल ऋषिराय के उत्तराधिकारी वने। तेरापंथ धर्मसंघ में उत्तराधिकारी के मनोनयन का अधिकार एकमात्र आचार्य को है, फिर भी कुछ लोग साधक या वाधक वनने का प्रयत्न किए विना नही रहते।

ऋषिराय के सामने वाधक तत्त्वों की प्रतिमा स्पष्ट हो गई थी, इसलिए उन्होने वाधक तत्त्वों की उपेक्षा कर मुनि जीतमल को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया। वे युवाचार्य वन गए। विरोध का बीज पनपा नही, पर मृत भी नही हुआ। सं० १९१० मे वह अंकुरित हो बढने लगा। पहले संघ के भीतर-भीतर विरोध चलता रहा, फिर कुछ व्यक्ति

संघ से अलग होकर विरोध में जुट गए। चतुर्भुजजी, कपूरजी, जीवोजी, संतोजी, छोटा छोगजी, किस्तूरजी आदि अनेक साधु इस विरोध अभियान में सम्मिलित थे। चतुर्भुजजी 'जयाचार्य चौरासी दोषों का सेवन कर रहे हैं', इस प्रचार में लगे हुए थे। उनके भाई वड़े छोगजी संघ में ही थे। वे चतुर्भुजजी जितने अनुशासनहीन नही थे। उनके मन में जयाचार्य के प्रति निकटता का भाव था, पर भाई के निरंतर आने वाले दवाव ने उन्हें विचलित कर दिया। सं० १९२७ चैत्र कृष्णा बारस को वड़े छोगजी और हंसराजजी दोनों संघ से अलग हो गए। लगभग इकीस घटा संघ से वाहर रहे। त्रयोदशी को फिर आचार्यवर की शरण में आ गए। उन्होंने वहुत विनम्रता की, प्रायश्चित्त स्वीकार किया, अपने अपराध के लिए क्षमायाचना की, तब आचार्यवर ने उन्हे पुनः संघ मे सम्मिलित कर लिया। आचार्यवर ने उनसे एक लिखत लिखवाया। छोगजी ने लिखा —

"अब भविष्य में किसी प्रश्न को लेकर आचार्यो से खीचातान करने का यावज्जीवन त्याग है। मघराजजी महाराज जो कहेगे, उसे हृदयंगम कर लेंगे। साधुत्व की भांति इसका पालन करेंगे।"

सं० १९२७ चैत्र कृष्णा १३ लिखितं ऋषि छोग।

यह 'लिखत' लिख छोगजी ने आचार्यवर से कहा—बेटा कु-बेटा हो जाता है, पर पिता कु-पिता नहीं होता। यह लौकिक कहावत है। इस कहावत को आपने सत्य कर दिखाया। मेरे अविनय को क्षमा कर आपने मुझे कृतार्थ कर दिया।[1]

सं० १९३६ वैशाख शुक्ला तृतीया को वड़े छोगजी चार साधुओं और तीन साध्वियों के साथ संघ से अलग हो गए। इस प्रकार विरोध करने वाले पक्ष में लगभग वीस साधु-साध्वियों का जमाव हो गया। छोगजी को आचार्य वना दिया गया। जयाचार्य के बड़े भाई थे सरूपचंदजी स्वामी, वैसे ही छोगजी के वड़े भाई थे चतुर्भुजजी। हरखूजी को साध्वीप्रमुखा वना दिया। उन्होंने चूरू जिला के क्षेत्रों में अपना काफी प्रभाव जमा लिया। सरदारशहर को उन्होने अपना मुख्य केंद्र वनाया।

छोगजी वड़ी आशाएं लेकर संघ से अलग हुए थे, किन्तु उनकी

---

१. वे. आ. ख. २, पृ. १६१,१६२ [जयसुजश, ५३।२७-३२]।

आशाएं पूरी नही हुई। उन्होंने सोचा था, अनेक साधु मेरा साथ देंगे। साथ उन्ही ने दिया जिनका भविष्य के वारे मे चिन्तन नही था। छोगजी के साथ केवल तीन साधु गए। उनका अनुमान बहुत साधुओ के लिए था। गण से अलग होने वाले बहुत बढ़े-चढ़े अनुमान लगाते है, पर संघ और संघपति को छोड़ संघ से अलग होने वाले का साथ कोई नासमझ व्यक्ति ही देता है। उस समय की घटना है। मुनि भोपजी का छोगजी के साथ काफी सपर्क था। वे छोगजी के पास आगम सूत्रो का अध्ययन किया करते थे, उनके प्रति वहुत अनुराग था।

छोगजी संघ से अलग हुए तब लोगो ने पूछा—आपने छोगजी का साथ कैसे छोड़ दिया ?

मुनि भोपजी ने उत्तर में कहा—छोगजी संघ में थे, तव तक मेरा उनसे संबंध था। वे संघ से अलग हो गए, तव उनसे मेरा संवंध टूट गया। हमारा पहला संबंध संघ से है, फिर किसी व्यक्ति से है।

मुनि भोपजी का यह उत्तर जयाचार्य तक पहुंचा। आचार्यवर इस उत्तर से वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने तत्काल मुनि भोपजी को अग्रणी वना दिया।

वड़े संघ में सैकड़ों-सैकड़ो साधु-साध्वियां होती है। उसमें समय-समय पर छोटी-वड़ी घटनाए भी घटित होती रहती हैं। उन घटनाओं को देख अधृति वाले अधीर हो जाते है। धृति-सपन्न लोग उन्हे मानवीय दुर्वलता मान उनका समाधान खोजते है। संघ से अलग होने का एक कारण है मतभेद, दूसरा है महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थ की आपूर्ति और तीसरा है अक्षमता।

मुनि विहारीजी ने दीक्षा ली, उसी दिन वे सघ से अलग हो गए।[1] यह अक्षमता का एक निदर्शन है। विहारीजी गृहस्थ जीवन में चले गए थे। प्राय: ऐसा हुआ है कि पुन: गृहस्थ जीवन मे लौट जाने वाला धर्मसंघ के अनुकूल रहता है।

मुनि गोविंदजी ने मांग की—मेरी सेवा में एक साधु अतिरिक्त रखा जाए। यह मांग पूरी नहीं हुई, वे संघ से अलग हो गए।

जयाचार्य ने साधु-साध्वियों के उष्ण आहार संबंधी एक मर्यादा का

---

१. कीर्तिगाथा [आर्यादर्शन ४।दो० ५]।

निर्माण किया। उस मर्यादा से असन्तुष्ट हो मुनि रूपचंदजी संघ से अलग हो गए।

मुनि हजारीमलजी अपनी तेज प्रकृति के कारण संघ से अलग हो गए।

चतुर्भुजजी और छोगजी के संघ से अलग होने का कारण था महत्त्वाकांक्षा। इन दोनों ने सैद्धांतिक मतभेद की वात की, पर उसका कोई ठोस प्रमाण वे प्रस्तुत नही कर सके। अनेक कारणों से संघ से अलग होने वाले व्यक्ति परिस्थितिवश एक साथ मिल भी जाते है, पर अधिक समय तक वे एक साथ रह नही पाते। यदि वे अपने मन पर अनुशासन करते तो उन्हें संघ से अलग होने की आवश्यकता ही नही होती। जिन्हें आचार्य के अनुशासन मे रहना भी कठिन लगता है, वे अपने समकक्ष साधुओ के अनुशासन में कैसे रह सकते है। एक वार आवेशवश साथ में रहना शुरू करते है, पर जैसे ही स्वार्थो का टकराव शुरू होता है वैसे ही उनमें विखराव शुरू हो जाता है। आज तक के अनुभव का यही निष्कर्ष है। छोगजी के पक्ष में भी इस प्रक्रिया का दौर शुरू हो गया।

जयाचार्य दो दशक से अधिक समय तक आतरिक संघर्ष को झेलते रहे। आचार्य भिक्षु को बाहरी और आतरिक दोनों संघर्षो का सामना करना पड़ा। जयाचार्य के समय में वाहरी संघर्ष कुछ कम हो गए थे। तेरापंथ की जड़े मजबूत हो गई थी। उन्हे आतरिक सघर्षो का निरंतर सामना करना पड़ा। उनके सामने अनेक सृजनात्मक प्रवृत्तिया थी। तेरापंथ संघ को विशिष्ट रूप देना उनका सुखद स्वप्न था। वे उसकी पूर्ति में मनसा-वाचा-कर्मणा संलग्न थे। दूसरी ओर ध्वंसात्मक प्रवृत्तियां चल रही थीं। कुछ साधु धर्मसंघ की जड़ो के उन्मूलन का स्वप्न ले रहे थे। कभी दो साधु सघ से अलग हो जाते, कभी चार और कभी तीन। कभी वापस आ जाते, कभी फिर वाहर हो जाते। इस अस्थिरता की स्थिति में चंचल चित्त वाला व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता।

जयाचार्य ध्यान के अभ्यासी थे। उनकी एकाग्रता सधी हुई थी। प्रवल थी उनकी संकल्प-शक्ति। प्रखर था उनका मनोवल। तेजस्वी था उनका आभामडल। उनके सामने एक कर्त्तव्य था संघ की सुरक्षा का। दूसरा स्वप्न था संघ के विकास का, नई-नई दिशाओं के उद्‌घाटन का।

उनकी सृजनशील चेतना ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में कभी नहीं उलझी। वे विरोधी खेमे से आने वाले विरोध को शांतभाव और बुद्धिमत्ता के साथ झेलते रहे और विकास के कार्यक्रम को भी आगे बढ़ाते रहे।

विरोध का सामना करने में आचार्यवर का सहयोग कर रहे थे अनेक साधु और अनेक साध्वियां, अनेक श्रावक और अनेक श्राविकाएं। उन सब में अग्रणी थे मुनि कालूजी। उन्हें इसका दायित्व सौंप कर आचार्यवर निश्चितता का अनुभव कर रहे थे। मुनि कालूजी ने अपने बुद्धि-कौशल और व्यवहार-कौशल से तेरापंथ धर्मसंघ की अपूर्व सेवा की। धर्मसंघ उनकी सेवा को कभी विस्मृत नहीं कर सकता। ऐसे कुशल व्यक्ति की सेवाएं उपलब्ध नही होतीं तो आचार्यवर को इस कार्य में अधिक समय और शक्ति लगानी पड़ती। सृजनात्मक कार्य मे एक अवरोध उत्पन्न हो जाता। मेघराजजी आंचलिया ने एक पत्र लिख कुछ प्रश्न पूछे। जयाचार्य ने उन प्रश्नों के उत्तर दिए। जैसे ही वे उत्तर सरदारशहर की जनता के पास पहुंचे, वैसे ही उनमे बिखराव शुरू हो गया। प्रभातकालीन मेघाडंबर की भाति जो घटाटोप हुआ था, वह बरसे विना ही बिखर गया। अधिकांश श्रावक वापस जयाचार्य की छत्रछाया में आ गए। जहा प्रतिकूलता ही प्रतिकूलता दीख रही थी, वहा अनुकूलता का वातावरण बन गया। इस स्थिति का निर्माण जयाचार्य की जीवन-सध्या में हुआ।

सं० १९३७ का वर्ष पूरा हो रहा था। आचार्यवर जयपुर में विराज रहे थे। उनके पास सरदारशहर के श्रावकों का संवाद पहुंचा—चतुर्भुजजी, छोगजी का पक्ष कमजोर हो गया। परस्पर फूट हो गई है। वे बिखर गए है। उनके पक्ष के श्रावक भी पुन: संघ की शरण में लौट आए है। जो बचे है, वे भी आ जाएंगे। इस समय आचार्यवर का यहा पदार्पण हो जाए तो बहुत लाभ की सभावना है।

पत्र मे आगे लिखा था—मुनिवर कालूजी का भी यही चिन्तन है। वे आचार्यवर के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे है।

मुनिवर कालूजी उस समस्या को सुलझाने में आचार्यवर का सफल प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उनकी प्रार्थना का विशेष महत्त्व था।

नगराजजी वैगानी (बीदासर) ने आचार्यवर के सामने [illegible] हुई परिस्थिति की जानकारी दी। [illegible]

निर्माण किया। उस मर्यादा से असन्तुष्ट हो मुनि रूपचंदजी संघ से अलग हो गए।

मुनि हजारीमलजी अपनी तेज प्रकृति के कारण संघ से अलग हो गए।

चतुर्भुजजी और छोगजी के संघ से अलग होने का कारण था महत्त्वाकांक्षा। इन दोनो ने सैद्धांतिक मतभेद की वात की, पर उसका कोई ठोस प्रमाण वे प्रस्तुत नही कर सके। अनेक कारणो से संघ से अलग होने वाले व्यक्ति परिस्थितिवश एक साथ मिल भी जाते है, पर अधिक समय तक वे एक साथ रह नही पाते। यदि वे अपने मन पर अनुशासन करते तो उन्हें संघ से अलग होने की आवश्यकता ही नही होती। जिन्हें आचार्य के अनुशासन मे रहना भी कठिन लगता है, वे अपने समकक्ष साधुओ के अनुशासन मे कैसे रह सकते है। एक वार आवेशवश साथ में रहना शुरू करते है, पर जैसे ही स्वार्थो का टकराव शुरू होता है वैसे ही उनमे विखराव शुरू हो जाता है। आज तक के अनुभव का यही निष्कर्ष है। छोगजी के पक्ष में भी इस प्रक्रिया का दौर शुरू हो गया।

जयाचार्य दो दशक से अधिक समय तक आतरिक संघर्ष को झेलते रहे। आचार्य भिक्षु को बाहरी और आतरिक दोनों संघर्षो का सामना करना पड़ा। जयाचार्य के समय मे बाहरी संघर्ष कुछ कम हो गए थे। तेरापथ की जड़े मजबूत हो गई थी। उन्हें आतरिक संघर्षो का निरंतर सामना करना पड़ा। उनके सामने अनेक सृजनात्मक प्रवृत्तिया थी। तेरापंथ सघ को विशिष्ट रूप देना उनका सुखद स्वप्न था। वे उसकी पूर्ति में मनसा-वाचा-कर्मणा संलग्न थे। दूसरी ओर ध्वसात्मक प्रवृत्तियां चल रही थी। कुछ साधु धर्मसंघ की जड़ों के उन्मूलन का स्वप्न ले रहे थे। कभी दो साधु सघ से अलग हो जाते, कभी चार और कभी तीन। कभी वापस आ जाते, कभी फिर वाहर हो जाते। इस अस्थिरता की स्थिति में चंचल चित्त वाला व्यक्ति कुछ भी नही कर सकता।

जयाचार्य ध्यान के अभ्यासी थे। उनकी एकाग्रता सधी हुई थी। प्रवल थी उनकी संकल्प-शक्ति। प्रखर था उनका मनोवल। तेजस्वी उनका आभामंडल। उनके सामने एक कर्त्तव्य था संघ की सुरक्षा का। दूसरा स्वप्न था संघ के विकास का, नई-नई दिशाओं के उद्घाटन का

२८

संबोधि और प्रेरणा

मुनि सतीदासजी सर्दी के दिनो में दो उत्तरीय ओढ़ते थे। जयाचार्य ने एक दिन कहा—सतीदास ! मैं एक उत्तरीय ओढ़ता हूं। मुनि हेमराजजी काफी वृद्ध हो चुके है, वे दो उत्तरीय ओढते है। तुम अभी युवा हो, फिर भी दो उत्तरीय ओढ़ते हो, यह कैसे ? मुनि सतीदासजी ने उस दिन से एक उत्तरीय ओढ़ना शुरू कर दिया। मुनि हेमराजजी के दिवंगत होने तक वे एक ही उत्तरीय ओढ़ते रहे। फिर ऋषिराय के निर्देश पर उन्होंने दो उत्तरीय ओढने शुरू किए।[1]

मुनि उदयरामजी तपस्वी थे। वे समाधि-मरण की तैयारी कर रहे थे। मृत्यु को आसन्न जान उन्होने आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया। आचार्यवर वीदासर में विराज रहे थे। तपस्वी आचार्यवर का दर्शन करना चाहते थे। आचार्यवर ने उनकी भावना को पूर्ण करने के

---

१. अमरगाथा [शातिविलास, १२।२७-३२]

दिख्या लीधी ते रात्रि मझार, ओढी दोय पछेवडी धार।
ऋष जीत कह्यो तिण वार ॥

एक चदर ओढू हू सोय, हेम वय नेडा आया जोय।
ते पिण ओढे पछेवडी दोय ॥

हिवडा बाल अवस्था माय, दोय चदर ओढे तूं ताय।
जीत वोल्यो इण विध वाय ॥

शाति जीत तणी सुण वाण, एक ओढण लागो जाण।
तन सुखे समाधे पिछाण ॥

हेम जीव्या जठा ताई देख, मुनि ओढी पछेवडी एक।
कारण री वात न्यारी पेख ॥

हेम चल्या पछै ऋपिराय, मुनि शाति भणी कहे वाय।
दोयां सू ओढी आज्ञा नाय ॥

आचार्यवर को सूचना देते रहते थे। आचार्यवर उनकी सूचना पर विशेष ध्यान देते थे।

आचार्यवर ने प्राप्त सूचनाओं के आधार पर वीकानेर राज्य में जाने का विचार कर लिया। आप अक्षय तृतीया के दिन उस दिशा में प्रस्थान करना चाहते थे। लाला भेरूंलालजी तथा जयपुर के अन्य श्रावकों को इसका पता चला। उन्होंने प्रार्थना की—आपकी अवस्था वृद्ध है, सामने गर्मी का मौसम है। इसलिए इस वर्ष का चातुर्मास-प्रवास आप यही करें। जयपुर महाराजा को पता चला तब उन्होंने भी प्रभुदानजी व्यास के माध्यम से जयपुर विराजने का अनुरोध किया।

शारीरिक अवस्था, मौसम और अनुरोध तीनों ने विचार को बदलने में अपनी भूमिका निभाई। आचार्यवर ने सं० १९३८ का चातुर्मास प्रवास जयपुर में करने का निर्णय कर लिया।[1]

आचार्यवर के शासनकाल में एक भयंकर ववंडर उठा, लंबी अवधि तक चला और उनके जीवन के अंतिम वर्ष में वह शात हो गया। मघवा के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

जयाचार्य की भविष्यवाणी सही हो गई। आचार्यवर कहा करते थे—सरदारशहर के भाई जोगी की जटा की भाति है। उन्हें तत्त्वचर्चा की कंघी से नहीं सुलझाया जा सकता। उन्हें सुलझाने के लिए उस्तरा चाहिए। ऐसा ही हुआ। वे तत्त्वचर्चा से नही सुलझे। परिस्थिति बदली, सब एक ही साथ सुलझ गए। मघवा के समय में सरदारशहर तेरापंथ का मुख्य केंद्र बन गया।

---

१. ते. ा. प. २, पृ. १७८,१७९ [जयसुजश, ६०।८-१३]।

२८

संबोधि और प्रेरणा

मुनि सतीदासजी सर्दी के दिनों में दो उत्तरीय ओढ़ते थे। जयाचार्य ने एक दिन कहा—सतीदास ! मै एक उत्तरीय ओढ़ता हूं। मुनि हेमराजजी काफी वृद्ध हो चुके है, वे दो उत्तरीय ओढते है। तुम अभी युवा हो, फिर भी दो उत्तरीय ओढ़ते हो, यह कैसे ? मुनि सतीदासजी ने उस दिन से एक उत्तरीय ओढना शुरू कर दिया। मुनि हेमराजजी के दिवंगत होने तक वे एक ही उत्तरीय ओढ़ते रहे। फिर ऋषिराय के निर्देश पर उन्होंने दो उत्तरीय ओढने शुरू किए।[1]

मुनि उदयरामजी तपस्वी थे। वे समाधि-मरण की तैयारी कर रहे थे। मृत्यु को आसन्न जान उन्होंने आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया। आचार्यवर वीदासर में विराज रहे थे। तपस्वी आचार्यवर का दर्शन करना चाहते थे। आचार्यवर ने उनकी भावना को पूर्ण करने के

---

१. अमरगाथा [शातिविलास, १२।२७-३२]

दिख्या लीधी ते रात्रि मझार, ओढी दोय पछेवडी धार।
ऋप जीत कह्यो तिण वार ॥
एक चदर ओढूं हू सोय, हेम वय नेडा आया जोय।
ते पिण ओढे पछेवडी दोय ॥
हिवडा वाल अवस्था माय, दोय चदर ओढे तूं ताय।
जीत वोल्यो इण विध वाय ॥
शाति जीत तणी सुण वाण, एक ओढण लागो जाण।
तन सुखे समाधे पिछाण ॥
हेम जीव्या जठा ताई देख, मुनि ओढी पछेवडी एक।
कारण री वात न्यारी पेख ॥
हेम चल्या पछे ऋपिराय, मुनि शाति भणी कहे वाय।
दोया तू ओढी आज्ञा नाय ॥

लिए लाडनूं जाने का निश्चय कर लिया। वहां पहुंचने की तिथि की घोषणा कर दी। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार लाडनूं के लिए प्रस्थान कर दिया।

बीदासर से लाडनूं दो मार्गों से जाया जा सकता है—सुजानगढ़ द्वारा और गोपालपुरा द्वारा। लाडनूं वालों को निश्चित मार्ग का पता नही था। आचार्यवर की अगवानी के लिए कुछ लोग सुजानगढ़ की ओर चले गए और कुछ लोग गोपालपुरा की ओर। जयाचार्य गोपालपुरा के मार्ग से पधारे। सुजानगढ़ के रास्ते जाने वाले लोग लम्बी प्रतीक्षा के वाद भी आचार्यवर के दर्शन नहीं कर सके। वे थके-मादे वापस शहर में आए, तव उन्हे आचार्य-बर के पधारने का पता चला। उन्होंने आचार्यवर के दर्शन कर खिन्नता के स्वर में कहा—'हम अगवानी के लिए बहुत दूर गए और आप गोपालपुरा के रास्ते से पधार गए।' जयाचार्य ने कहा—तुम लोगों में आठ आना की भी समझ नही थी, इसका कौन क्या करे। वीदासर से समाचार मंगाने में आठ आने से ज्यादा नहीं लगते। तुम लोगों ने वैसा नही किया। अव किसे दोष देते हो। सब लोग अपनी भूल का अनुभव करने लगे।

सं० १६०० की घटना है। जयाचार्य लाडनूं में चातुर्मास-प्रवास कर रहे थे। वहां एक युवक था तेजपाल। जाति थी गोलछा। उसके मन में वैराग्य का अंकुर फूटा। वह मुनि बनना चाहता था। उसके अभिभावक उसे मुनि वनने की स्वीकृति नहीं दे रहे थे। तेरापंथ धर्मसंघ की यह परंपरा रही है कि अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के विना किसी व्यक्ति को संघ में दीक्षित नही किया जाता। तेजपाल ने जयाचार्य से प्रार्थना की—आचार्य-वर ! आप मेरे अभिभावकों को समझाएं। वे मेरी दीक्षा में वाधक न वनें। जयाचार्य ने उन्हें दीक्षा का महत्त्व समझाया, पर वे उसे समझ नहीं सके। आचार्यवर ने व्यावहारिक बुद्धि का प्रयोग किया। आपने कहा—तुम्हारी जाति गोलछा है। मेरा जन्म भी गोलछा जाति में हुआ है। तुम समझ लो कि अपने पुत्र को गोलछा के गोद दे रहे हो—दत्तक पुत्र के रूप में दे रहे हो। अभिभावक तैयार हो गए। उन्होंने दीक्षा के लिए स्वीकृति-पत्र लिख दिया। तेजपाल की दीक्षा संपन्न हो गई।[1]

पुर (जिला भीलवाड़ा) में पांच साधु प्रवास कर रहे थे। उनमें एक साधु थे मुनि गुलावजी। वे तपस्वी थे और विरागी। उनकी तपस्या और

१. ते. आ. घ. २ पृ. १०६ [जयसुजश २८।१२,१३]

वैराग्य के प्रति जनता में आकर्षण था। भीलवाड़ा के भोपजी सिंघी उनके दर्शन करने पुर में गए। वे मुनि गुलाबजी की उपासना कर रहे थे। किसी पूर्व प्रसंग के बिना मुनि गुलाबजी बोले—किसी साहूकार के घर में घाटा है। वह उसे छिपा अपना काम चला रहा है, पर उसका काम कब तक चलेगा ? आखिर लोगों को उसका पता लग ही जाता है।

भोपजी को मुनि गुलाबजी की बात ने आश्चर्य में डाल दिया। वे अपने आवेग को रोक तत्काल बोल उठे—तपस्वी ! जो व्यक्ति सेठ के घर में घाटा जानकर भी उसके साथ रहे, उसके साथ काम करे, उसे क्या कहा जाए ? भोपजी के इस तर्कबाण ने मुनि गुलाबजी को बींध दिया। वे उत्तेजित हो उठे। उत्तेजना आए और कोई अपना आपा न भूले, यह कैसे हो सकता है ? उन्होंने जीभर कर बकवास की। ऋषि ईसरजी उनके संसारपक्षीय भाई थे। वे भीगी आंखों से बोले—तपस्वीजी ! ऐसा मत करो। मौन रहो। उनके प्रबल अनुरोध पर मुनि गुलाबजी ने बोलना बंद कर दिया। दूसरे दिन फिर उन्होंने उग्र रूप धारण कर लिया। अपने मन की शंकाओ की लम्बी तालिका प्रस्तुत की। मुनि रामजी वहीं थे। उन्होंने सोचा—स्थिति जटिल बन गई है। अब आचार्यवर के ध्यान में लाए बिना यह स्थिति सुलझेगी नहीं। मुनि गुलाबजी तपस्वी हैं। लोक-मानस पर तपस्या का प्रभाव पड़ता है। बहुत लोग इनसे आकृष्ट हैं। इनका संघ के प्रति खुला विद्रोह भयंकर स्थिति पैदा कर सकता है। इस चिंतन के साथ मुनि रामजी पुर से चले। उन्होंने अतिशीघ्र नाथद्वारा पहुंच आचार्य ऋषिराय के दर्शन किए, मुनि गुलाबजी की सारी स्थिति आचार्यवर के सामने रखी। जयाचार्य उस समय वहीं थे। वे कुछ समय पूर्व ही युवाचार्य पद पर अभिषिक्त हुए थे। आचार्य ऋषिराय ने युवाचार्य से परामर्श कर आठ साधुओं को साथ ले पुर की ओर प्रस्थान कर दिया। मुनि गुलाबजी को इस बात का पता चला। उन्होंने अपनी शंकाओं की तालिका छोटी कर दी। भोपजी सिंघी ने 'कारोही' गाव में आचार्यवर के दर्शन कर कहा—मुनि गुलाबजी कहते हैं, मेरे मन में चार बातों की शंका है। मुनि हेमराजजी से उनका समाधान मंगा लिया जाए। वे जो उत्तर देंगे, वह मुझे मान्य होगा। सिंघीजी की बात सुन आचार्यवर मौन रहे। उनका इंगित पा युवाचार्य ने कहा—मुनि गुलाबजी जिन व्यवहारों के विषय में शंका प्रस्तुत

कर रहे हैं, वे व्यवहार प्रारंभ से ही चल रहे है, कोई नए नहीं हैं। इस स्थिति में मुनि हेमराजजी से उनका समाधान मंगाने की क्या आवश्यकता है ? युवाचार्य ने मुनि गुलावजी के प्रस्ताव का औचित्य स्वीकार नही किया। भोपजी सिंघी ने आचार्यवर और युवाचार्यवर का अभिप्राय मुनि गुलावजी को वता दिया। उन्हें अपनी वात में सार्थकता नहीं लगी। दूसरे दिन आचार्यवर पुर पहुंच रहे थे। भोपजी सिंघी ने रास्ते में यह संवाद दिया— मुनि गुलावजी कहते हैं कि आचार्यवर एक साधु को भेज यह कहलवा दें— 'हम आचार्य भिक्षु की सभी मर्यादाओं का सम्यक् पालन करते है तो मैं आचार्यवर की अगवानी कर उनके पैर पकड़ लूंगा।

युवाचार्य ने कहा—यह कोई नई बात नही है। आचार्य भिक्षु की मर्यादाओं का पालन सदा से हो रहा है। नए सिरे से उन्हें विश्वास दिलाने के लिए किसी साधु को भेजना हमें आवश्यक नहीं लगता। पुर के श्रावको ने भी किसी साधु को मुनि गुलाबजी के पास भेजने की प्रार्थना की, पर आचार्यवर और युवाचार्य वर ने किसी साधु को भेजना आवश्यक नही समझा, इसलिए वह प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई।

युवाचार्य जय ने ऋषिराय से प्रार्थना की— बात वहुत आगे वढ़ गई है। अब अपने को एक निर्णय लेना चाहिए, जो अगवानी करने आएंगे, वे संघ में होंगे। जो ऐसा नही करेंगे, उनका अपने आप संघ से सम्वन्ध-विच्छेद हो जाएगा। ऋषिराय ने इसकी घोषणा कर दी। यह वात पुर में रहे हुए चार साधुओं तक पहुंची। मुनि जीवराजजी अगवानी के लिए दो मील तक पहुंच गए। शेष तीन साधु नही आए। उनका संघ से सम्वन्ध-विच्छेद हो गया।

ऋषिराय पुर में पधार वाजार की दुकानों में ठहरे। मुनि गुलावजी पास की दुकान में ही ठहरे हुए थे। युवाचार्य जय ने गुलावजी की स्थिति को जनता के सामने रखा। आपने कहा—'यह कोई नई घटना नही है। दो वर्ष पहले भी इन्होंने इस प्रकार का वातावरण वनाया था। उस समय इकतालीस शंकाएं वतला रहे थे। इन्होंने वे सभी शंकाएं एक पत्र में लिख कर प्रस्तुत की। उस समय ऋषिराय के निर्देशानुसार मैंने इनकी सव शंकाओं का निराकरण कर इन्हें निःशंक वनाया था। शंकाकाल में इन्होने जो अतिक्रमण किया, साधुओ की निंदा की, उसका इन्होने प्रायश्चित्त

किया और एक लिखित संकल्प किया—मैं अब यावज्जीवन संघ के किसी भी साधु-साध्वी की निंदा नही करूंगा।[1] युवाचार्य ने वह लिखित पत्र जनता को पढकर सुनाया और कहा— गुलाबजी अपने लिखित संकल्प को भूल गए हैं। युवाचार्य के स्पष्टीकरण ने जनता के भ्रम का निरसन कर दिया।

गुलावजी पास की दुकान में बैठे-बैठे सब सुन रहे थे। वे बाहर आकर युवाचार्य से कहने लगे—मै आचार्य भिक्षु को तीर्थंकर तुल्य मानता हूं।

युवाचार्य ने कहा—अच्छी बात है। आपने आचार्य भिक्षुकृत रास की कुछ गाथाओं का पाठ किया और कहा—इन गाथाओ में आचार्य भिक्षु ने वतलाया है कि किसी में दोष जान पड़े, तो तत्काल बताया जाए। वहुत लंवा समय वीत जाने पर कोई किसी में दोष न वतलाए। इससे विवाद वढता है, इसलिए यह अच्छा नहीं है। जो साधु लंवी अवधि के वाद दोप वताता है, उसे असत्यभाषी माना जाए और जनता के सम्मुख उसके मुह पर धूलिपात किया जाए—उसकी अवमानना की जाए।

युवाचार्य की इस वात को सुन कर गुलावजी तमतमा उठे, वे वोले—आप मेरे मुंह पर धूलि डालने की बात कह रहे है ?

युवाचार्य ने कहा—मैं नही कह रहा हूं। तुम जिन्हे तीर्थंकर तुल्य मान रहे हो, वे आचार्य भिक्षु ही यह कह रहे है। मैंने उन्ही की वाणी का पाठ किया है।

गुलावजी—पहले हमारा संघ कठोर साधना के वल पर चल रहा था। अव वह शिथिल हो गया है। शिथिल आचार वालो की मर्यादा कैसे मानी जाए ?

युवाचार्य—दो वर्ष पहले तुमने एक संकल्प-पत्र लिख कर साधु-साध्वियो के अवर्णवाद वोलने का प्रत्याख्यान किया था। उस समय हम कौन से सकरे मार्ग पर चल रहे थे और आज कौन से खुले मार्ग पर चल रहे है ?

गुलावजी- मैने त्याग का भंग किया. उसका प्रायश्चित्त करूंगा। सिर तो कटेगा ही नही।

ऋषिराय—दो वर्ष तक संघ में रह कर तुमने यह कमाई क्यों की ?

ऋषिराय की यह वात सुन वे क्रुद्ध हो गए। ऊंचे-ऊंचे शब्दों में

१ मे. आ प २, पृ. ६१ [जयसुजस, २२।दो० १-४]

कर रहे हैं, वे व्यवहार प्रारंभ से ही चल रहे है, कोई नए नहीं है। इस स्थिति में मुनि हेमराजजी से उनका समाधान मंगाने की क्या आवश्यकता है? युवाचार्य ने मुनि गुलावजी के प्रस्ताव का औचित्य स्वीकार नही किया। भोपजी सिंघी ने आचार्यवर और युवाचार्यवर का अभिप्राय मुनि गुलावजी को बता दिया। उन्हें अपनी वात में सार्थकता नही लगी। दूसरे दिन आचार्यवर पुर पहुंच रहे थे। भोपजी सिंघी ने रास्ते में यह संवाद दिया—मुनि गुलावजी कहते है कि आचार्यवर एक साधु को भेज यह कहलवा दे—'हम आचार्य भिक्षु की सभी मर्यादाओं का सम्यक् पालन करते है तो मै आचार्यवर की अगवानी कर उनके पैर पकड़ लूंगा।

युवाचार्य ने कहा—यह कोई नई बात नहीं है। आचार्य भिक्षु की मर्यादाओं का पालन सदा से हो रहा है। नए सिरे से उन्हें विश्वास दिलाने के लिए किसी साधु को भेजना हमें आवश्यक नही लगता। पुर के श्रावको ने भी किसी साधु को मुनि गुलाबजी के पास भेजने की प्रार्थना की, पर आचार्यवर और युवाचार्य वर ने किसी साधु को भेजना आवश्यक नही समझा, इसलिए वह प्रार्थना स्वीकृत नही हुई।

युवाचार्य जय ने ऋषिराय से प्रार्थना की– बात बहुत आगे वढ गई है। अब अपने को एक निर्णय लेना चाहिए, जो अगवानी करने आएंगे, वे संघ में होंगे। जो ऐसा नही करेंगे, उनका अपने आप संघ से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा। ऋषिराय ने इसकी घोषणा कर दी। यह बात पुर मे रहे हुए चार साधुओं तक पहुंची। मुनि जीवराजजी अगवानी के लिए दो मील तक पहुंच गए। शेष तीन साधु नही आए। उनका संघ से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।

ऋषिराय पुर में पधार वाजार की दुकानों में ठहरे। मुनि गुलावजी पास की दुकान में ही ठहरे हुए थे। युवाचार्य जय ने गुलाबजी की स्थिति को जनता के सामने रखा। आपने कहा—'यह कोई नई घटना नही है। दो वर्ष पहले भी इन्होंने इस प्रकार का वातावरण वनाया था। उस समय इकतालीस शंकाएं वतला रहे थे। इन्होंने वे सभी शंकाएं एक पत्र में लिख कर प्रस्तुत की। उस समय ऋपिराय के निर्देशानुसार मैने इनकी सव [illegible] का निराकरण कर इन्हे नि:शंक वनाया था। शंकाकाल मे इन्होने [illegible] किया, सावुओं की निंदा की, उसका इन्होने प्रायश्चित्त

किया और एक लिखित संकल्प किया—मैं अव यावज्जीवन संघ के किसी भी साधु-साध्वी की निंदा नही करूंगा।[1] युवाचार्य ने वह लिखित पत्र जनता को पढ़कर सुनाया और कहा—गुलाबजी अपने लिखित संकल्प को भूल गए है। युवाचार्य के स्पष्टीकरण ने जनता के भ्रम का निरसन कर दिया।

गुलावजी पास की दुकान मे बैठे-बैठे सव सुन रहे थे। वे वाहर आकर युवाचार्य से कहने लगे—मैं आचार्य भिक्षु को तीर्थकर तुल्य मानता हूं।

युवाचार्य ने कहा—अच्छी वात है। आपने आचार्य भिक्षुकृत रास की कुछ गाथाओं का पाठ किया और कहा—इन गाथाओ मे आचार्य भिक्षु ने वतलाया है कि किसी में दोष जान पड़े, तो तत्काल वताया जाए। वहुत लंवा समय वीत जाने पर कोई किसी में दोष न वतलाए। इससे विवाद वढता है, इसलिए यह अच्छा नही है। जो साधु लंवी अवधि के वाद दोप वताता है, उसे असत्यभाषी माना जाए और जनता के सम्मुख उसके मुंह पर धूलिपात किया जाए—उसकी अवमानना की जाए।

युवाचार्य की इस वात को सुन कर गुलावजी तमतमा उठे, वे वोले—आप मेरे मुंह पर धूलि डालने की वात कह रहे है?

युवाचार्य ने कहा—मै नही कह रहा हूं। तुम जिन्हे तीर्थकर तुल्य मान रहे हो, वे आचार्य भिक्षु ही यह कह रहे है। मैने उन्ही की वाणी का पाठ किया है।

गुलावजी—पहले हमारा संघ कठोर साधना के वल पर चल रहा था। अव वह शिथिल हो गया है। शिथिल आचार वालो की मर्यादा कैसे मानी जाए?

युवाचार्य—दो वर्ष पहले तुमने एक संकल्प-पत्र लिख कर साधु-साध्वियों के अवर्णवाद वोलने का प्रत्याख्यान किया था। उस समय हम कौन से सकरे मार्ग पर चल रहे थे और आज कौन से खुले मार्ग पर चल रहे है?

गुलावजी- मैने त्याग का भंग किया, उसका प्रायश्चित्त करूंगा। निर तो कटेगा ही नहीं।

ऋषिराय—दो वर्ष तक संघ मे रह कर तुमने यह ठगाई क्यो की?

ऋषिराय की यह वात सुन वे क्रुद्ध हो गए। ऊंचे-ऊंचे शब्दों मे

---

1 ते. आ. व. २, पृ. ६१ [जयसुजश, २२।दो० १-४]

बोलने लगे। कुछ समय तक अंटसंट बोलते रहे। फिर वहां से उठ कर चले गए। दूसरे दिन फिर उन्होंने संघ की आलोचना की। उस पर किसी ने ध्यान नही दिया। वे थक गए। उपेक्षा की चोट बहुत भयंकर होती है। एक व्यक्ति आलोचना करता है और दूसरा उसे सुन उत्तेजित नही होता, उसकी उपेक्षा कर देता है,यह बात आलोचक के लिए असह्य हो जाती है। आलोचना में अपना रस नहीं है। उसमें प्रत्यालोचना रस भरती है। प्रत्यालोचना के बिना गुलाबजी द्वारा की गई आलोचना रसहीन होकर रह गई। उस नीरसत्व से ऊबे हुए वे सांझ के समय युवाचार्यश्री के पास आकर बोले—मैं कंठ तक भरा हुआ हूं। क्या करूं, मेरी बात कोई सुनने वाला नही है।

युवाचार्यश्री ने सोचा—जनता ने गुलाबजी को परख लिया है। अब इनमें कोई प्राण नही रहा है। अब इस स्थिति को समेट लेना संघ के हित में होगा। यह चिंतन कर उन्होंने गुलाबजी से कहा—मै तुम्हारी सारी बात सुनूंगा। तुम निश्चित रहो और मौन रहो। संध्याकालीन प्रतिक्रमण के बाद युवाचार्यश्री ऋषिराय से आज्ञा प्राप्त कर गुलाबजी जिस दुकान में ठहरे हुए थे, वहा गए। गुलाबजी ने अपना पोथा पढ़ना शुरू किया। अनेक साधुओं की नामपूर्वक कटु आलोचना की। उन्होंने कहा—आपका दुर्बल पक्ष मेरे हाथ नहीं लगा है। आप में या तो वैराग्य की बहुलता है या आप छलना करने में चतुर है। दोनों में से एक बात अवश्य है। लगभग दो घंटा तक वे बोले। मन में जो भरा हुआ था, वह सारा निकल गया। मन खाली हो गया। भरे हुए मस्तिष्क में दूसरी बात नही भरी जा सकती। खाली मस्तिष्क में नई बात भरना सहज-सरल होता है।

युवाचार्य ने अवसर देखकर लंबे समय के बाद अपना मौन खोला। बड़े मीठे शब्दों से उनके कटुता से भरे मन को आश्वस्त कर उनकी प्रत्येक आलोचना का उन्हे समाधान दिया। उनकी चार शंकाओ का भी समाधान किया। मुनि गुलाबजी बहुत प्रसन्न हो गए। वे बोले—युवाचार्यवर! आपने मेरी पूरी बात सुनी। मुझे बहुत समय दिया। मेरी शकाओं का समाधान किय।। मै उत्तेजना के स्वर में बोला, मैने अनेक साधुओ की कटु आलोचना या निंदा की, फिर भी आप एक क्षण के लिए भी उत्तेजित नहीं हुए। आपकी शांति निरंतर बनी रही। मै इससे बहुत प्रभावित हुआ हूं। मैं आपके चरणों में प्रणत हूं।

युवाचार्य जय ने मुनि गुलाबजी को साधुत्व
आपने कहा छोटे दोषों के सेवन मात्र से साधुत्व न
स्थापना करने से साधुत्व चला जाता है। इस प्रकार ल
युवाचार्यवर ऋषिराय के पास आए। उन्होने संपूर्ण व
अवगत करा दिया।

युवाचार्य जय धर्मज्ञ और नीतिज्ञ—दोनो थे।
गुलावजी के साथी तपस्वी मुनि उदैचंदजी से एकांत में
सारी स्थिति समझाई। वे युवाचार्य के विचार से स
वे गुलावजी के प्रश्नों का उत्तर देने लगे। गुलाबजी क
गया। युवाचार्य ने उन्हें फिर समझाया। उन्होंने तात्त्वि
दोनों दृष्टियों से अपने आप को शक्तिहीन अनुभव किय
मैं आपके विचार से सहमत हूं। मैं अनुभव करता हूं कि
कर गलत काम किया है। अब मैं उसका प्रायश्चित्त क

युवाचार्यवर ने कहा—तुम्हें जिस पर विश्वास ह
ऋषिराय से उसकी स्वीकृति दिलाने का प्रयत्न करूंगा।

गुलावजी—हमें आप पर विश्वास है। हम आप
करना चाहते हैं। आप हमें प्रायश्चित्त दे शुद्ध करे। आप
देंगे, वह हम स्वीकार करेंगे।

युवाचार्यश्री ने कहा—ऋषिराय के पास जाकर वंद
के लिए प्रार्थना करो। गुलावजी ने युवाचार्यवर का पर
लिया। तीनों मुनि—गुलावजी, उदैचंदजी और ईसरजी
ऋषिराय के पास पहुंचे। उन्होंने परिषद् के बीच वदना
माग की। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ समय पूर्व
करने वाले साधु प्रायश्चित्त स्वीकार कर पुनः संघ में प्रवे
कल्पना नही हो रही थी। युवाचार्यवर के व्यक्तित्व
असंभव लगने वाली वात संभव हो गई। तीनों साधुओ
ऋषिराय और युवाचार्यवर ने वहां से प्रस्थान कर दिय
लिखा है—जैसे चक्रवर्ती के पास सेनापति होता है, वैसे ही

सं० १९०७ की घटना है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था मे विहार कर रहे थे। अजमेर से आचार्यवर ऋषिराय मेवाड़ पधार गए। युवाचार्यश्री उनकी आज्ञा से जयपुर पधारे। वहां एक श्रावक था। उसका नाम था रामचद कोठारी। उसने साधु-साध्वियों को वंदना करना छोड़ दिया। युवाचार्यश्री ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—जो साधु दोषपूर्ण आचरण को निर्दोष मानने का आग्रह करते है, उन्हे वंदना कैसे की जाए? युवाचार्यवर ने कहा—आवेश स्वयं एक दोष है। कोई साधु दोष को निर्दोष बताता है, और वह आवेशवश वताता है, तो उससे वह दोषी वनता है, पर असाधु नही होता। उसका प्रायश्चित्त कर वह निर्दोष हो जाता है। कोठारी ने कहा—युवाचार्यवर! मै आपकी वात को समझ गया। आग्रहवश सदोष को निर्दोष बताने वाला साधु प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है, पर मेरे मन की उलझन यह है कि उसे सुनने वाला गृहस्थ उलझ जाता है और उसकी साधु-संस्था से आस्था उतर जाती है, पर आपके उत्तर ने मुझे समाधान दिया है। अब मैं इस उलझन से परे हूं।'[1] उसने फिर से वंदना-व्यवहार शुरू कर दिया।

जयपुर की घटना है। सरदारमलजी लूणिया के पिता का नाम था पनराजजी लूणिया। वे जुआ खेलते-खेलते प्रसिद्ध जुआरी वन गए। घर वाले बहुत परेशान थे। उन्होंने जयाचार्य से कहा—आप इनकी आदत को बदलें। आचार्यवर ने पनराजजी को जुआ न खेलने की प्रेरणा दी। उनकी इच्छा नही थी उसे छोड़ने की, पर अपने आचार्य की इच्छा का अतिक्रमण वे कैसे करते? उन्होंने जुआ न खेलने का संकल्प कर लिया।

पनराजजी के साथी उन्हे जुआ खेलने के लिए बहुत प्रेरित करते तव वे श्मशान में जा सामायिक-साधना में बैठ जाते। एक दिन पनराजजी का एक साथी श्मशान में आया। वे सामायिक-साधना में लीन थे। उनकी उंगली से हीरे की अंगूठी निकाल वह चलने लगा। वह वोला—रुपयों की जरूरत है, इसलिए यह ले जा रहा हूं। किसी से कहना मत। धर्म की सौगध है। वह चला गया।

पनराजजी घर पहुंचे। घर वालों ने देखा, उनकी उंगली मे हीरे की अंगूठी नही है। उसका मूल्य था वीस हजार रुपए। उन्होने समझा, ये अंगूठी

---

१. ते आ. ख. २, पृ. ११३,११४ [जयसुजश, ३३।३-१३]।

जुए में हार कर आए है। पूछने पर न बताया तब वह संदेह और अधिक गहरा हो गया।

बात जयाचार्य के कानों तक पहुंची। आचार्यवर ने उलाहना की भाषा में कहा—तूने संकल्प को कैसे तोड़ा ?

पनराजजी—गुरुदेव ! मैंने संकल्प नही तोड़ा है।

जयाचार्य—तो फिर अंगूठी कहां गई ?

पनराजजी यह बताने की स्थिति में नही हू।

जयाचार्य—क्या इस मौन का अर्थ यह नही होगा कि अंगूठी तुम जुए में हार गए हो ?

जयाचार्य का उलाहना सह लिया, फिर भी अपने साथी को अनावृत नही किया।

कुछ दिनो बाद उस साथी ने रुपए कमा लिए। वह पनराजजी के पास आया। उसने अंगूठी लौटाई और बोला—तुम्हें साधुवाद देता हूं कि तुमने बहुत धैर्य रखा, अंगूठी की घटना को कही भी प्रगट नही किया। सचमुच तुम्हें कोई अच्छा गुरु मिला है।

अगूठी की घटना जयाचार्य तक पहुंची। उन्हें अपने गृहस्थ-शिष्य के संकल्प-बल और धृति पर संतोष का अनुभव हुआ।

सं० १९०७ की घटना है। जयाचार्य युवाचार्य अवस्था में विहार कर रहे थे। अजमेर से आचार्यवर ऋषिराय मेवाड़ पधार गए। युवाचार्यश्री उनकी आज्ञा से जयपुर पधारे। वहां एक श्रावक था। उसका नाम था रामचंद कोठारी। उसने साधु-साध्वियों को वंदना करना छोड़ दिया। युवाचार्यश्री ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—जो साधु दोषपूर्ण आचरण को निर्दोष मानने का आग्रह करते है, उन्हें वंदना कैसे की जाए? युवाचार्यवर ने कहा—आवेश स्वयं एक दोष है। कोई साधु दोष को निर्दोष बताता है, और वह आवेशवश वताता है, तो उससे वह दोषी वनता है, पर असाधु नही होता। उसका प्रायश्चित्त कर वह निर्दोष हो जाता है। कोठारी ने कहा—युवाचार्यवर! मैं आपकी बात को समझ गया। आग्रहवश सदोष को निर्दोष बताने वाला साधु प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है, पर मेरे मन की उलझन यह है कि उसे सुनने वाला गृहस्थ उलझ जाता है और उसकी साधु-संस्था से आस्था उतर जाती है, पर आपके उत्तर ने मुझे समाधान दिया है। अव मैं इस उलझन से परे हूं।[1] उसने फिर से वंदना-व्यवहार शुरू कर दिया।

जयपुर की घटना है। सरदारमलजी लूणिया के पिता का नाम था पनराजजी लूणिया। वे जुआ खेलते-खेलते प्रसिद्ध जुआरी बन गए। घर वाले बहुत परेशान थे। उन्होने जयाचार्य से कहा—आप इनकी आदत को बदलें। आचार्यवर ने पनराजजी को जुआ न खेलने की प्रेरणा दी। उनकी इच्छा नही थी उसे छोड़ने की, पर अपने आचार्य की इच्छा का अतिक्रमण वे कैसे करते? उन्होंने जुआ न खेलने का संकल्प कर लिया।

पनराजजी के साथी उन्हे जुआ खेलने के लिए वहुत प्रेरित करते तव वे श्मशान में जा सामायिक-साधना मे बैठ जाते। एक दिन पनराजजी का एक साथी श्मशान में आया। वे सामायिक-साधना मे लीन थे। उनकी उंगली से हीरे की अंगूठी निकाल वह चलने लगा। वह वोला—रुपयों की जरूरत है, इसलिए यह ले जा रहा हूं। किसी से कहना मत। धर्म की सौगंध है। वह चला गया।

पनराजजी घर पहुंचे। घर वालों ने देखा, उनकी उंगली में हीरे की अंगूठी नही है। उसका मूल्य था वीस हजार रुपए। उन्होने समझा, ये अगूठी

---

१. ते आ ख. २, पृ ११३,११४ [जयसुजश, ३३।३-१३]।

जुए में हार कर आए हैं। पूछने पर न वताया तब वह संदेह और अधिक गहरा हो गया।

वात जयाचार्य के कानों तक पहुंची। आचार्यवर ने उलाहना की भाषा में कहा—तूने संकल्प को कैसे तोड़ा ?

पनराजजी—गुरुदेव ! मैंने संकल्प नही तोड़ा है।

जयाचार्य—तो फिर अंगूठी कहां गई ?

पनराजजी—यह वताने की स्थिति में नही हूं।

जयाचार्य—क्या इस मौन का अर्थ यह नही होगा कि अंगूठी तुम जुए में हार गए हो ?

जयाचार्य का उलाहना सह लिया, फिर भी अपने साथी को अनावृत नही किया।

कुछ दिनों वाद उस साथी ने रुपए कमा लिए। वह पनराजजी के पास आया। उसने अंगूठी लौटाई और वोला—तुम्हे साधुवाद देता हूं कि तुमने वहुत धैर्य रखा, अंगूठी की घटना को कही भी प्रगट नही किया। सचमुच तुम्हें कोई अच्छा गुरु मिला है।

अंगूठी की घटना जयाचार्य तक पहुंची। उन्हे अपने गृहस्थ-शिष्य के संकल्प-वल और धृति पर संतोष का अनुभव हुआ।

२६

विनोद

प्रसन्नता प्रकृति का एक अनुपम अनुदान है। यह सबके लिए है, पर आश्चर्य है कि सब इसके लिए नहीं होते। इसका वरण कोई विरल व्यक्ति ही कर पाता है। वही कर पाता है जो सामंजस्य को जानता है। प्रसन्नता एक प्रेरणा है। प्रसन्न व्यक्ति के पास आने वाला सहज ही प्रेरित हो जाता है। विनोद प्रसन्नता की एक रश्मि है। उसका शाब्दिक अर्थ है प्रेरणा। विनोद हो और प्रेरणा न हो, सोयी हुई भावना न जागे, यह संभव नही है।

जयाचार्य का जीवन रसहीन नही था। उनके जीवन मे विनोद के दर्शन होते हैं और उसके पीछे दिखलाई दे रहे हैं ये सब—प्रसन्नता, सामंजस्य और प्रेरणा। ऋषिराय जयाचार्य के गुरु थे। उनका शरीर स्वस्थ था। उन्हें तैल-मर्दन से बड़ी अरुचि थी। कोई साधु कारणवश तैल-मर्दन करता वह उन्हें अच्छा नही लगता। सं० १९०३ में वे चातुर्मास प्रवास जयपुर में कर रहे थे। एक दिन घोड़े ने टक्कर लगा दी। हाथ की हड्डी उतर गई। चातुर्मास संपन्न होने पर भी विहार नही हो सका। चैत्र मास तक वही रुकना पड़ा। पुराने जमाने में अस्थि-पीड़ा मे तैल-मर्दन एक मुख्य उपचार था। उसका प्रयोग चल रहा था। चातुर्मास संपन्न होने पर साधु-साध्वियों ने आचार्यवर के दर्शन किए। जयाचार्य उस समय युवाचार्य अवस्था में थे। उन्होने भी आचार्यवर के दर्शन किए। ऋषिराय तैल-मर्दन करा रहे थे। जयाचार्य ने वह देखा। उनके मन में अतीत की स्मृतियां उभर आईं। उन्होंने कहा—गुरुदेव ! आप शीघ्र स्वस्थ हों, यह हम सबकी मंगल-भावना है। तैल-मर्दन आपको अच्छा नहीं लगता, फिर भी परिस्थितिवश

यह करना पड़ रहा है। कैसी बात वनी है ! बात करते-करते वे विनोद की भापा में वोले—

'कोई तेल लगाई आवतो, करता तिण स्यूं तर्क।
इक दिन इसड़ो आवियो, गुरु रहै तेल में गर्क॥'

जयाचार्य की इस विनोद भरी वाणी द्वारा सवके होठों पर मुस्कान दौड़ गई। ऋषिराय ने भी अपने उत्तराधिकारी को पुलकित नेत्रों से देखा।

३०

वात्सल्यमूर्ति

हमारा जगत् आकर्षण और विकर्षण का जगत् है। सौदर्य-वोध और प्रेम से उत्पन्न होता है आकर्षण। भद्दे पन और घृणा से उत्पन्न होता है विकर्षण। प्रेम की अनेक रश्मियों में से एक रश्मि है वात्सल्य। एक व्याध हिरनी को लक्ष्य बना वाण चलाने की तैयारी कर रहा था। हिरनी उसके समीप आकर बोली—व्याध, तुम मुझे मारना चाहते हो ? लो, मैं स्वयं तुम्हारे सामने उपस्थित हूं। स्तनों को छोड़ तुम मेरे शरीर का पूरा मांस ले लो और मुझे जाने दो। तुम मुझ पर कृपा करो। अभी तक मेरे शिशु घास खाना नही जानते। वे मेरी वाट जोह रहे है। यह है मातृ-वात्सल्य। इसमे न स्वार्थ है, न कामना, न वासना।

धर्म के शासन में भी वात्सल्य का बहुत महत्त्व है। यह जोड़ता है नाना देशों से आए नाना भाषा-भाषियों को, नाना रुचि, स्वभाव और विचार वालों को। इसीलिए वात्सल्य सम्यग् दर्शन का सातवां आचार है।

जयाचार्य ने सं० १९११ का चातुर्मास-प्रवास रतलाम (उस समय का मालवा, आज का मध्यप्रदेश) मे किया। चातुर्मास संपन्न होने पर वे इंदोर पधारे। वहां मुनि मघवा को ज्वर हो गया। धीरे-धीरे वह भाव या मोतीझरा (टाइफाइड) में वदल गया। जयाचार्य एक महीने तक वहां रहे, फिर भी मघवा स्वस्थ नही हुए। उनकी सेवा में कुछ साधुओं को नियुक्त कर जयाचार्य ने उज्जैन की ओर प्रस्थान कर दिया। उन्होंने इंदोर से दो कोस (चार मील) की दूरी पर पहला पड़ाव किया। मघवा सदा जयाचार्य के साथ रहे थे। उन्हें अलग रहना अच्छा नही लगा। उन्होंने साधुओं को भेजकर जयाचार्य से प्रार्थना करवाई—मैं आचार्यवर के साथ ही विहार

करना चाहता हूं, यहां अलग रहना नही चाहता। मुझे दर्शन दें और अपने साथ ले चले। जयाचार्य ने मुनि मघवा को अपने साथ लेने की वात सोची और साधुओं से कहा—तुम इंदोर जाओ, उसे उठाकर यहां ले आओ। उस समय लालचंदजी बोरड़, वैद्यराज खूवचंदजी आदि श्रावक सशक्त स्वर में वोले—गुरुदेव ! मुनि मघवा के अवधि-ज्वर (मियादी बुखार) है। अभी ज्वर को सत्ताईस दिन नही हुए हैं। वे मार्ग में आपके साथ कैसे रह पाएंगे ? कहां सुविधापूर्ण स्थान मिलेगा ? कैसे समुचित उपचार होगा ? आप उन्हे अपने साथ लेने की बात न सोचें। आप कृपा करें। फिर इंदोर पधार उन्हें दर्शन दें, उनका योगक्षेम करें। उनकी युक्तिसंगत प्रार्थना पर ध्यान दे आचार्यवर वापस इंदोर पधार गए। कुछ दिन वहा रहे, ज्वर उतार पर आया तव मघवा को साथ ले उज्जैन की ओर प्रस्थान कर दिया। मुनि मघवा दुर्वल हो गए थे। वे अपने पैरो से चलने में अशक्त थे, इसलिए साधु उन्हें उठा कर उज्जैन ले आए।[1]

माणकगणी का जन्म जयपुर में हुआ था। उनके मन में वैराग्य का अंकुर फूटा, पर वे अपनी संकोचशील प्रकृति के कारण उसे पल्लवित नहीं कर सके। तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षा पारिवारिक जनो की स्वीकृति के वाद ही होती है। माणकगणी के वावा का नाम था लिछमणदासजी। वे वड़े धर्मनिष्ठ श्रावक थे। उन्ही की देख-रेख में सारा परिवार चल रहा था। माणकगणी उन्हें अपनी भावना जताने का साहस नही कर सके।

जयाचार्य कुचामन पधारे। लाला लिछमणदासजी अपने परिवार के साथ उपासना कर रहे थे। जयाचार्य ने अवसर देख कहा—माणकलाल दीक्षा लेना चाहे तो तुम क्या सोचोगे ?

लालाजी—गुरुदेव ! ऐसा सौभाग्य वैराग्य होने पर ही हो सकता है।

जयाचार्य—यदि माणकलाल के मन मे वैराग्य हो तो तुम्हे उसे दीक्षा की स्वीकृति देने में कोई आपत्ति तो नही होगी ?

लालाजी—शहर में रहने वालों के मन में इतना जल्दी वैराग्य कहां होता है ?

जयाचार्य—यदि हो तो तुम क्या करोगे ?

लालाजी—गुरुदेव ! माणक वहुत कोमल है, शहरी वातावरण मे

---

१. ते. आ च २, पृ. १३२, १३३ [जयसुजश ८२ । १३-१७, ८३ दो. १,२]

पला-पुसा है। इसे संयम-साधना में आने वाले कष्टों का पता नही है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि कष्टो को सहने की इसमें क्षमता नही है। यह साधु-दीक्षा कैसे लेगा ?

जयाचार्य—वैराग्य नही होता तब ये सारे कष्ट असह्य लगते हैं। वह होता है तब ये सारे कष्ट सरलता से सह लिए जाते हैं। तुम इन कष्टो की चिंता मत करो।

लालाजी—गुरुदेव ! यह पैदल कैसे चल पाएगा ? कंधों पर भार उठा कर चलना कैसे संभव होगा ? यह श्रावक रह कर संघ की अच्छी सेवा कर सकेगा।

जयाचार्य—तुम पदयात्रा की चिंता क्यो करते हो ? अभ्यास से सब कुछ ठीक हो जाएगा। भार उठाने की चिंता भी मत करो। अपने रजोहरण का भार तो उठा ही लेगा ?

जयाचार्य की वात्सल्य भरी वाणी सुन लालाजी गद्गद् हो गए। माणक का मनोरथ पूरा हुआ। लालाजी ने उसे जयाचार्य के चरणों में समर्पित कर दिया।

३१

अन्तर्दृष्टि

हम परोक्ष से बहुत परिचित हो गए है, इसलिए उसी मे विश्वास करते है। प्रत्यक्ष की यत्किंचित् मात्रा हर व्यक्ति में मिलती है, पर अविश्वास उसका उपयोग नही करने देता। इंद्रियो से अति परिचय का परिणाम है अतीद्रिय ज्ञान का विलयन। कुछ लोगो को अतीद्रिय ज्ञान की रश्मिया जन्म से ही उपलब्ध होती है। कुछ लोग साधना द्वारा उसे उपलब्ध कर लेते है। जो भीतर में झांकता है, उसकी भीतरी दृष्टि जाग जाती है। जयाचार्य अन्तर्दर्शन की साधना करते थे, इसलिए उनकी अन्तर्दृष्टि जाग गई थी। वे व्यक्ति, घटना और परिस्थिति के बाह्य को ही नही, उसके अन्तर् भाग को देख लेते थे।

सं० १९११ की घटना है।[1] जयाचार्य अपना चातुर्मासिक प्रवास रतलाम (मध्य प्रदेश) में कर रहे थे। वह युग वाद-विवाद और जय-पराजय का युग था। धर्म की जिज्ञासा कम थी, साम्प्रदायिक आग्रह अधिक। वभूतसिंहजी पटवा आदि अनेक लोग जयाचार्य के पास आए। उनके साथ एक ब्राह्मण विद्वान् था। वह उनका पक्षधर था। प्रश्नोत्तर चल रहे थे। उनके बीच में ही ब्राह्मण ने साधुओ की ओर संकेत कर पूछा—इन्हे आप क्या समझते है? जयाचार्य की अन्तर्दृष्टि गहरे तक पहुच गई। आचार्यवर ने सोचा, यदि मैं कहू कि साधु समझता हूं तो यह कहेगा—इनमे कुछ अभव्य भी सकते है, फिर आप इन्हें साधु कैसे समझते है? प्रश्नकर्ता का मन सरल नही है। यह कपट भरा हुआ लगता है। आचार्यवर ने तर्क के प्रति

1. ज. सु. ढा. ४० २ पृ. १२९-१३० [जयसुजस ४१। ५-२४]

तर्क का प्रयोग करते हुए कहा—'किसी ने पूछा, तुम्हारे पिता का नाम क्या है ?' वह किसका नाम वताएगा ? इस प्रतितर्क पर ब्राह्मण विद्वान् मौन रहा। यह पटवाजी को अच्छा नही लगा। वे बोले—माता वतलाएगी, वही उसका पिता होगा।

जयाचार्य ने कहा—पुत्र अपनी माता के अनुसार अपने पिता का नाम वताएगा। वास्तव में उसका पिता वही है या कोई दूसरा ?

दूसरों को इसका क्या पता कि वास्तव में उसका पिता कौन है। व्यवहार में वह जिसका पुत्र कहलाता है, वही उसका पिता है। इसी प्रकार वास्तव में ये क्या है, यह केवली जानते हैं। व्यवहार दृष्टि से ये साधु है।

जयाचार्य के उत्तर की गहराई में डुबकियां लेते-लेते सब मौन हो गए।

३२

मंत्रदाता

आचार्य मंत्रदान करते हैं, इसलिए वे मंत्रदाता कहलाते है। मंत्र का संवंध मननीय, रहस्यात्मक एवं परिवर्तन करने वाली शक्ति से होता है। आचार्य का एक वाक्य कभी-कभी आलंबन बन जाता है। सं० १८८५ मे जयाचार्य ने मुनि अवस्था में जयपुर में चातुर्मास-प्रव स किया था। उस समय वावन व्यक्तियो ने उनसे गुरुदीक्षा ली थी। उनमें एक थे मालीरामजी लूणिया। वे जयपुर के प्रतिष्ठित नागरिक थे। जयपुर के नरेश सवाई रामसिह द्वितीय के वे कृपापात्र थे। किसी कारणवश उनका नरेश से मनमुटाव हो गया, इसलिए वे जयपुर को छोड़ आगरा मे रहने लगे। जयाचार्य जयपुर में प्रवास कर रहे थे। उदयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक मोखजी तीमिसरा ने वहा दर्शन किये। राजमाता तीर्थयात्रा करने जा रही थी। उनकी तीर्थयात्रा मोखजी की देख-रेख में हो रही थी। मोखजी ने वातचीत के मध्य आगरा जाने की वात कही। आचार्यवर ने कहा—वहां मालीरामजी लूणिया रहते है, वे अच्छे श्रावक हैं।

राजमाता तीर्थयात्रा के मध्य रुग्ण हो गई और उनका देहावसान भी हो गया। मोखजी राजमाता के शस्त्र-सज्जित अंगरक्षको और कर्मचारियो के दल के साथ उदयपुर लौट रहे थे। उन दिनों आगरा के आस-पास डूगजी, जुहारजी आदि डाकुओ का वड़ा आतंक फैला हुआ था। पुलिस बड़ी तत्परता से उनकी खोज मे लगी हुई थी। मोखजी का दल उधर से गुजरा। डाकू समझकर उन्हें पकड़ लिया गया। पुलिस अधिकारी के सामने उदयपुर राजमाता की तीर्थयात्रा का प्रसंग प्रस्तुत किया, पर उन्होंने उस

पर विश्वास नही किया। आगरा में तुम्हें कोई जानता हो तो तुम्हें छोड़ सकते हैं, बात यहां आकर ठहरी। मोखजी ने जयाचार्य द्वारा प्रदत्त मंत्र का उपयोग किया। उन्होंने कहा—मालीरामजी लूणिया मेरे सहधर्मी हैं। मालीरामजी ने आगरा में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। पुलिस अधिकारी मोखजी को उनके पास ले गया। पारस्परिक अभिवादन के बाद परिचय पूछा गया। मोखजी ने कहा—आपके विषय में मुझे जयाचार्य से जानकारी मिली। जयाचार्य का नाम सुनते ही मालीरामजी की आंखे अश्रुपूरित हो गईं। श्रद्धा के साथ हाथ जुड़ गए। आचार्य द्वारा की गई स्मृति आनंद की अश्रुधारा का प्रवाह बन गई। उन्होंने अपने हर्षावेश को रोककर विश्वास प्राप्त करना चाहा। जयाचार्य के बारे में मोखजी से अनेक प्रश्न पूछे—कौन जयाचार्य ? वे किस संघ के आचार्य हैं ? वे कब दीक्षित हुए थे ? वे अकेले ही दीक्षित हुए हैं या उनके परिवार के अन्य सदस्य भी दीक्षित हैं ? मोखजी ने इन सब प्रश्नों के उत्तर दिए। प्रामाणिक उत्तर प्राप्त कर मालीरामजी विश्वस्त हो गए। उन्होंने पुलिस अधिकारी को आश्वस्त कर दिया। उन्होने अपने साधर्मिक का मुक्तभाव से आतिथ्य किया। आचार्य द्वारा अनायास उपलब्ध मंत्र ने मोखजी को संकटमुक्त कर दिया।

३३

सम्मति का सम्मान

जयाचार्य स्वयं प्रबुद्ध थे, पर उनमें प्रबुद्धता का अहंकार नही था। वे वहुत विनम्र और सत्य के प्रति सर्मपित थे। वे दूसरों के मत का सम्मान करना भी जानते थे। जैन ज्योतिष पर उनका अधिकार था। उनके मन मे एक विचार आया—जैन पर्वो की एकता स्थापित करने के लिए एक सौवर्पीय पंचाग का निर्माण किया जाए। आचार्यवर ने उसका कार्य प्रारंभ कर दिया।

एक स्थानकवासी मुनि उनसे मिले। वे आचार्यवर की वहुमुखी प्रतिभा और विद्वत्ता का वहुत सम्मान करते थे। आचार्यवर ने पचांग-निर्माण की वात उनके सामने रखी। उन्होंने कहा—आचार्यवर ! आपकी प्रतिभा में मुझे संदेह नही है। आपके द्वारा निर्मित पंचाग निस्सदेह उपयोगी होगा, पर सव जैन संप्रदायों द्वारा मान्य होगा, इसमे मुझे सदेह है। मुनि द्वारा व्यक्त किया गया संदेह एक परामर्श वन गया। आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर पंचांग-निर्माण का कार्य स्थगित कर दिया।

एक वार आचार्यवर ने चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र का स्तवक (लघु व्याख्या) लिखना शुरू किया। एक वयोवृद्ध और अनुभवी स्थानकवासी मुनि ने पूछा—आजकल क्या स्वाध्याय चल रहा है ? आचार्यवर ने बताया—अभी मैं चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र का स्तवक लिख रहा हूं। आचार्यवर का गणित और ज्योतिप—दोनो विपयो के प्रति आकर्षण था। इन दोनो सूत्रो का संवंध खगोल से है। माना जाता है कि इनमें कुछ मंत्र हैं और वे वहुत शक्तिशाली है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि

मुनिजी ने किस दृष्टि से कहा—आप इनका स्तबक लिख कर क्या करेंगे ? उन्होंने कोई रहस्य की बात कही। आचार्यवर ने उनके परामर्श पर ध्यान दिया। उन्होंने स्तबक लिखना स्थगित कर दिया। स्तवक के कुछ अंश आज भी संघीय ग्रंथागार में सुरक्षित पड़े हैं।

जयाचार्य मुनि मघवा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सबसे बड़े संघीय दायित्व से मुक्त हो चुके थे। वे संघ-संचालन और साहित्य-सृजन दोनों कार्य कर रहे थे। एक स्थानकवासी मुनि ने युवाचार्यश्री की मृदुता, प्रतिभा और कार्य-क्षमता का परिचय प्राप्त कर जयाचार्य से कहा—जीतमलजी ! आपको मघवा जैसे योग्य शिष्य मिले हैं, अब आपको संघीय चिंता से मुक्त हो, अधिक समय स्वाध्याय-ध्यान में ही लगाना चाहिए। यह परामर्श उनकी जीवन-व्यवस्था को पुष्टि दे रहा था। वे स्वयं इसी दिशा में प्रस्थान कर चुके थे। उनके जीवन की संध्या के वर्ष स्वाध्याय और ध्यान के निदर्शन बन गए।

३४

साहित्यिक ऊर्मियां

जयाचार्य साहित्यिक रुचि वाले पुरुष थे। समय-समय पर व्यग और
विनोद का प्रयोग करते रहते थे। गुरु की रुचि शिष्य-वर्ग मे सक्रात होती
है। आचार्यवर की रुचि का संक्रमण श्रावक समाज मे भी हुआ। स० १६१०
की घटना है। जयाचार्य मेवाड में विहार कर रहे थे। वे ग्रामानुग्राम विहार
करते-करते काकरोली पहुचे। राजनगर बीच में आता था, उसे छोड दिया।

राजनगर के श्रावकों को यह बहुत अप्रिय लगा। राजनगर तेरापथ
की ऐतिहासिक भूमि है। आचार्य भिक्षु की बोधिभूमि, आचार्य भारीमालजी
की महाप्रयाण स्थली और आचार्य ऋषिराय की पदारोहण भूमि है। जया-
चार्य ने उसकी उपेक्षा की, यह उन्हे बहुत अखरा। वे जयाचार्य के चरणो
मे पहुचे। उन्होने कहा—'हम प्रार्थना लेकर नही आए है कि आचार्यवर
राजनगर पधारे। हम आपको उलाहने से बचाने के लिए आए है। हमारे
सघ के तीनो आचार्यों ने राजनगर को बहुत महत्त्व दिया। आपने उसकी
उपेक्षा की है। स्वर्ग में वे आप से मिलेगे तब इस बात के लिए आपको
उलाहना देंगे। राजनगर के साथ किए गए व्यवहार के लिए वे अपना

१. इस विषय मे राजनगर के श्रावक हसराजजी सेवग ने जो गीतिका बनाई, उसके गद्य-पद्य
ने रचे गए पद्य भी बडे मार्मिक है—

राजनगर किम टालियोजी, काकरोली के कान।
आप टाली ने नीकल्याजी, पिण म्हारो बेची छै रान ॥ १ ॥
भीखणजी गुण भाखियाजी, भारीमाल ज्याने नेट।
स्वग माहि मिलता थका, था नै ओलमो देसी थेट ॥ २ ॥
जब ही आप पधारिये जी काइ, म्हाँ हिरदा मे धार।
भोलेइ भूलो मतीजो काइ, पाछो आजेला पुकार।
'हस' अरे हजूर ने जी, म्हारे पिट नहि छै पार।
ए ओलमो दीधो आपने जी काइ, तिणरोर सुनो छै सार ॥

असंतोष प्रगट करेंगे। हम नहीं चाहते कि आप उन्हें यह अवसर दे। फिर जैसी आपकी इच्छा।' इस मार्मिक व्यंग ने जयाचार्य की गति वदल दी। वे कांकरोली से प्रस्थान कर राजनगर पधार गए।

सं० १९१० का चातुर्मास संपन्न कर आचार्यवर ने कानोड़ की ओर प्रस्थान किया। उस समय मालवा के कुछ प्रमुख श्रावक आचार्यवर के दर्शन करने आए। वे अपने साथ तुलसी की माला लाए। रतलाम निवासी गोमनजी और वृद्धिचन्दजी अग्रवाल ने व्यंग की भाषा में कहा—आचार्यवर! हमारे पूर्वज वैष्णव थे। वे तुलसी की माला से जप करते थे और गोमुखी रखते थे। मुनि वेणीरामजी ने उन्हें जैन-धर्म में दीक्षित किया। हम भी जैन-धर्म की आराधना कर रहे हैं, पर आप हमारी ओर ध्यान नही दे रहे है। आप हमारे क्षेत्रों का स्पर्श नहीं कर रहे हैं। उन्होंने तुलसी की माला जयाचार्य की गोद में डाल दी और कहा—या तो आप हमारे जनपद की यात्रा करें या फिर हमें यह तुलसी की माला पकड़ा दें।

आचार्यवर प्रसन्न हुए उनकी व्यंग्योक्ति पर और उन्होंने सं० १९११ का चातुर्मासिक-प्रवास रतलाम में करने की घोषणा कर दी।[1]

राजा भोज ने चाहा था कि कालीदास जीवनकाल में ही मुझे शोक-गीत सुनाए। राजा ने महाकवि कालीदास से कहा। उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। राजा ने रुष्ट हो महाकवि को अपने देश से निर्वासित कर दिया। राजा अपनी भावना के वेग को रोक नही पा रहा था। वह वेष वदल कर महाकवि की खोज में निकला। अकस्मात् भेंट हो गई। महाकवि राजा को नही पहचान पाए। उन्होने पूछा—धारा नगरी से आए हो। कहो, राजा कैसे हैं? आगंतुक ने कहा—राजा भोज मर गया। 'क्या सच कह रहे हो?' 'हां, सर्वथा सत्य कह रहा हूं।' तत्काल महाकवि के मुंह से निकल पड़ा—

अद्य धारा निराधारा, निरालंवा सरस्वती।
पंडिता: खंडिता: सर्वे, भोजराजे दिवंगते॥

---

१ जयसुजश मे उक्त दानो घटनाओ का उल्लेख नही है।
उसके अनुसार आचार्यवर राजनगर से काकरोली पधारे।
(ते. आ. ख. २ पृ. १२४ [जयसुजश ३८।९)]
आचार्यवर ने मालवा यात्रा की सकल्पना कर कानोड की ओर प्रस्थान किया था।
(वही, पृ. १२६ [जयसुजश, ढा०४०, दोहा १)

राजा अपने प्रयत्न की सफलता पर हर्षोत्फुल्ल हो गया। उसकी मुस्कान अपने आप को छिपा नही सकी। महाकवि प्रवंचना का परिष्कार करते हुए वोल उठा—

अद्य धारा सदा धारा, सदालंबा सरस्वती।
पंडिता मंडिताः सर्वे, भोजराजे भुवंगते॥

महासती सरदारांजी ने किसी प्रवंचना और निर्वासन के विना ही अपनी जीवन-गाथा अपने गुरु के मुंह से सुन ली। जयाचार्य ने उनके जीवन काल में ही 'सरदार सुयश' रचा और उन्हें सुना दिया। उनकी जीवन-गाथा की पंद्रह गीतिकाएं है। चौदह गीतिकाए उन्हे सुना दी। एक गीतिका उनके स्वर्गवास के वाद रची गई।

जयाचार्य मुनि अवस्था में थे। यात्रा चल रही थी। गर्मी का मौसम। राजस्थान की गर्मी। सूर्य का परम अनुग्रह। रेतीले टीले। सौर-ऊर्जा का उपयुक्त क्षेत्र। धरती ही नही, आदमी भी तप उठता है। चारो ओर धूप ही धूप। आवश्यकता हुई विश्राम की। छाह की खोज शुरू हुई। जहा दृष्टि जाए वहां धूलि ही धूलि। धूलि का एकछत्र साम्राज्य। वृक्ष का दर्शन सत्य की भांति दुर्लभ है। वहुत खोजने पर भी दिखाई नही देता। पर वह असफल नही होता जो निरंतर खोज मे संलग्न होता है। आखिर एक वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ। वह थी खेजड़ी। राजस्थान का कल्पतरु। वह साग के लिए 'सागरी' देता है, वच्चो को खाने के लिए मीठे-मीठे 'खोखा' देता है और उसकी छोटी-छोटी पत्तिया धूप से तपे हुए राही को छाह देती है। खेजडी के नीचे बैठने वाला छाह का मूल्य जानता है। कल्पतरु के नीचे वैठने वाला छाह का मूल्य नही जान सकता। जहा धूप नही, वहा छाह का मूल्य कैसे आंका जा सकता है ?

मुनिवर ने खेजड़ी के नीचे विश्राम किया। उन्होने छाह की अनुभूति का एक दोहे मे चित्रण किया—

'छोटी-सी खेजड़ी, गहरी ठंडी छाय।
जीत आदि मुनि संचरचा, विश्रामों तिहां पाय॥'

३५

सार्वभौमधर्म के प्रवक्ता

धर्म के क्षेत्र में वहुत सारी मान्यताएं है। उनमें एक मान्यता है—मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी; अन्यथा नही होगी। यह धर्म का सम्प्रदायीकरण है। इससे धर्म आवरण के नीचे चला गया। सम्प्रदाय अधिक मिलता है, धर्म कम। अपेक्षा है धर्म अधिक मिले, सम्प्रदाय कम। आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में एक क्रांति की, धर्म को समझने का नया दृष्टिकोण दिया। उसका मूल सूत्र है—वास्तविक सत्य मुख्य रहे, व्यावहारिक सत्य गौण। धार्मिक लोग धर्म के क्षेत्र में भी व्यावहारिक सत्य को मुख्य मानकर उसके आधार पर निर्णय लेते है और वे निर्णय साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देते है।

धर्म किसी सम्प्रदाय से आवद्ध नही है। वह सार्वभौम सत्य है, देश और काल की सीमा से परे है। जयाचार्य ने उसके सार्वभौम रूप का जैन आगमों के अनेक स्रोतों से समर्थन किया है। एक महत्वपूर्ण स्रोत है–'असोच्चा केवली' (अश्रुत्वा केवली)। वहां वतलाया गया है कि जो सहज भाव से राग-द्वेषमुक्त जीवन जीता है, वह चेतना को अनावृत करते-करते केवली वन जाता है। जिसने धर्म का नाम तक नही सुना, उसकी व्याख्या भी नही पढ़ी, वह केवली वन जाता है, इसलिए उसे 'अश्रुत्वा केवली' कहा गया। यह धर्म के संप्रदायातीत स्वरूप का एक महत्वपूर्ण निदर्शन है।

धर्म के दो रूप है–१. परम्परागत धर्म, २. आन्तरिक चेतना मे घटित होने वाला धर्म। परम्परागत धर्म के कुछ नियम होते है। आन्तरिक चेतना में जो घटित होता है, वह नियमातीत होता है। व्यवहार के जगत् मे जो

धर्मज्ञ नही है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। आगम-सूत्रों में दो घोषणाएं मिलती है—१. मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया अच्छी है, मोक्ष-मार्ग की आराधक है। २. मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया का उतना मूल्य नही है, जितना सम्यग्दृष्टि की धर्म-क्रिया का है। इन दो घोषणाओं के आधार पर दो विचारधाराएं बन गईं। अनेकांत की जब-जब विस्मृति होती है तब-तब विचारों या विवादों का विस्तार होता है। सापेक्षदृष्टि से देखे तो दोनो घोषणाओ में कोई विसंगति नही है। दोनों घोषणाएं सापेक्ष है। जहां सापेक्षदृष्टि को निरपेक्ष मान लिया जाता है वहा एकागी दृष्टि बनती है और विवाद बढता है। आगम का प्रत्येक वचन निश्चय और व्यवहार—इन दोनो दृष्टियो से परीक्षणीय होता है। सम्यग् ज्ञान के लिए इन दोनो दृष्टियो का उपयोग अनिवार्य है। सूक्ष्म सत्य स्थूलदृष्टि द्वारा नही जाना जाता, संम्प्रदाय की सीमा मे नही आता, वह निश्चय नय के द्वारा ही जाना जा सकता है। स्थूल सत्य स्थूलदृष्टि के द्वारा गम्य होता है। वह सप्रदाय की सीमा में आबद्ध होता है। उसकी व्याख्या व्यवहार नय के आधार पर की जा सकती है।

आचार्य भिक्षु ने मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया को मूल्यवान् बतलाया। इस विषय मे उनकी एक महत्वपूर्ण कृति है—'मिथ्याती री करणी री चौपाई।' जयाचार्य ने उसे आधार बनाकर 'भ्रमविध्वंसन' नामक ग्रंथ का पहला अधिकार लिखा—मिथ्यात्वी क्रियाधिकार। उसमे उन्होंने संप्रदायातीत धर्म का सशक्त समर्थन किया। उनका तर्क है—धर्म को संप्रदायातीत माने बिना आन्तरिक जगत् में होने वाले परिवर्तनो की व्याख्या नही की जा सकती। एक प्राणी वनस्पति जगत् मे होता है। वह उस सूक्ष्म जगत् से उत्क्रमण कर स्थूल जगत् में, अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था में, प्रवेश करता है। यह विकास की प्रक्रिया चेतना के आतरिक परिवर्तन से होती है। वह परिवर्तन धर्म से होता है।

धर्म की दो विधिया है—सहज धर्म और प्रयत्नकृत धर्म। सहज धर्म मे धर्म हो रहा है, इसका पता नही चलता। प्रयत्नकृत धर्म मे उसका पता लग जाता है। सहज धर्म आंतरिक प्रक्रिया है। वह प्रत्येक प्राणी मे होता है। इसी आधार पर 'असोच्चा केवली' की व्याख्या की गई है। [illegible] ने धर्म को नही सुना, वह आतरिक परिवर्तन और [illegible] उपलब्ध होते-होते केवली की भूमिका तक पहुंच जाता है। [illegible]

संयमी बनता है, न वीतराग बनता है। आन्तरिक प्रक्रिया से वह सम्यग्दृष्टि, सयमी, वीतराग और केवली—सब कुछ वन जाता है। कहा जाता है—सम्यग् दृष्टि के बिना ज्ञान नही और ज्ञान के विना चारित्र नहीं। मिथ्या दृष्टि वाला व्यक्ति ज्ञानी नही होता, फिर चारित्र-सम्पन्न कैसे हो सकता है ? मुक्ति की आराधना का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के लिए यह क्रम है, किन्तु प्रयत्न-शून्य आराधना में यह क्रम अन्तस् में फलित होता है, वाहर मे उसका पता नहीं चलता। शुद्धि के प्रारम्भिक बिदुओं को अस्वीकार करे तो उसके मध्यबिन्दु तक पहुंचने का कोई मार्ग ही नही मिलता। मिथ्या दृष्टि वाला जीव सम्यग्दृष्टि को उपलब्ध कैसे होगा ? यह तर्क सार्वभौमधर्म के समर्थन का शक्तिशाली तर्क है। जयाचार्य ने अपने तर्क-बल और अनुभव-बल से संप्रदायातीत धर्म का सशक्त प्रतिपादन किया।

३६

जीवन-वृत्त के कुशल शिल्पी

जीवन जीना कला है। जीवनी-लेखन उससे भी वडी कला है। विशाल जोवनी को शब्दों की सीमा मे समेटना और निर्जीव शब्दो मे प्राण भरना अद्‌भुत कला है। जीवनी वह होती है जिसमें जीवन-वृत्त आकार ले सके और पाठक अतीत-जीवन का साक्षात् कर सके। जयाचार्य कलाकार थे। उन्होंने जीवनी-लेखन में अपनी कला को सदा मूर्धाभिपिक्त रखा। उनके द्वारा लिखित जीवनियों की तालिका इस प्रकार है—

१. भिक्खुजशरसायण
२. लघु भिक्खुजशरसायण
३. ऋषिराय चरित्त। ऋषिराय पंचढालियो
४. सतजुगीचरित्त। सतजुगी पंचढालियो
५. हेमनवरसो। हेमचौढालियो
६. शातिविलास
७. सरूपनवरसो। सरूपविलास
८ भीमविलास
९. मोतीजी स्वामी रो पंचढालियो
१० मुनि उदयराजजी
११. सरदार-सुजश
१२ शिवजीस्वामी रो चौढालियों
१३. हरखचदजी चौढालियों
१४ कर्मचद गुणरास
१५. उदयचंद चौढालियो।

नपे-तुले शब्दों में अतुलनीय को प्रस्तुत करना उनकी अपनी विशेषता है। वे श्रद्धा, विनय और कृतज्ञता की प्रतिमूर्ति थे। आचार्य और इतने विनम्र, यह कोई दुर्लभ योग है। उनकी कला के कुछ प्रतिबिंब प्रस्तुत है। आचार्य भिक्षु की मुद्रा का वर्णन है—

'सावली सूरत, दीर्घ देह विशाल, लाल नयण, गजहस्ती नी चाल।'[1]

जीवनी के अंत मे आचार्य भिक्षु के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त हुई है। वे पद पाठक के मन को भाव-विभोर कर देते है।[2] जीवनी में श्रद्धा-ललित पदावली और अनुभव का मणिकाचन योग दृष्टिगोचर होता है।[3] जयाचार्य घटना का सटीक वर्णन करने में दक्ष है। कही-कही शब्दचित्र और भावचित्र चित्र की भाति आखों के सामने उभर आते है। आचार्य भिक्षु के गुरु कहते है— भिक्खन ! निरतिचार चारित्र का पालन दुष्कर है। यदि कोई दो घड़ी भी तन-मन से वैसा चारित्र साध ले तो वह केवली हो सकता है। इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा—गुरुदेव। यदि ऐसा हो तो मैं दो घड़ी तक वचन,

---

१ ते. आ. ख. १ पृ. ५८ [भिक्खुजशरसायण ६।२७]

२. ते. आ. खं. १ पृष्ठ १९२,१९३ [भिक्खुजशरसायण, ६३।३४-३७, ४०, ४२]

राम नाम ज्यू रटै स्वाम नै, मुझ मन अधिक निहोर।
हसा मानसरोवर हरपै, चित्त जिम चन्द चकोर॥
चातक मोर पपईया घन चिन, गरजी ध्यान गगन।
राग विलासी राग अलापै, मुझ भिक्खु नै मन॥
पतिवरता समरै जिम पिउ नै, गोप्या रै मन कान्ह।
तबोली रा पान तणी पर, धरू स्वाम नो ध्यान॥
आशा पूरण आप तणा गुण, कह्या कठा लग जाय।
सागर जल गागर किम मावै, किम आकाश मिणाय॥
नाम आपरो घट भितर मुझ, जपू आपरो जाप।
तुझ नामै दुख दोहग दूरा, कटै पाप सताप॥
मन्त्राक्षर जिम स्मरण मोटो, परख्यो म्हे तन-मन।
इहभव परभव मै हितकारी, भिक्खु तणो भजन॥

३. ते. आ. ख. १ पृ. १९३ [भिक्खुजशरसायण—अतिम कलश]

मतिवत सत महत महा मुनि, तत भिक्खु रूप तणा।
गुण सघन गाया परम पाया, हद पुणासण किअं घणा॥
तज जन्त्र मन्त्र सुतन्त्र लौकिक, भज ए मन्त्र मनोहरू।
सुख सद्म पद्म सुकरण जय जश नमो भिक्खु मुनि वरू॥

काय और श्वास को रोक, चित्त को स्थिर स्थापित कर रह सकता हूं। जीवनी का पद है—[1]

> इम वचन सुन झट सुघट सुध वर, प्रगट भिक्षु उच्चरै।
> घटिका जु वे सुध चरण निर्मल, अमल करि केवल वरै।
> वे घडी तलक वक्क काय नासा, रूघ समभावे रहू।
> थिर चित्त अधिक पवित्त अति हित, चित्त थी केवल लहूं।

ऋषिराय तेरापंथ के तीसरे आचार्य और जयाचार्य के दीक्षागुरु थे। उन्हे दीक्षा आचार्य भिक्षु से प्राप्त हुई थी। जयाचार्य ने उनकी दीक्षा का वहुत सरस वर्णन किया है।[2] भारमलजी स्वामी तेरापथ के दूसरे आचार्य थे। वे रुग्ण हो गए। वे अपने उत्तराधिकारी का निर्णय करने की वात सोच रहे थे। सतजुगी खेतसीजी स्वामी और हेमराजजी स्वामी को किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसका संकेत मिल गया। वे दोनो भारमलजी के पास आकर वोले—'आप प्रसन्नता के साथ ऋपिराय को अपना उत्तराधिकारी चुने, हमारी ओर से कोई चिता न करे। मुनि हेमराजजी ने कहा—'वाई और दाई आख मे क्या फर्क है? मुझे और ऋपिराय को आप वैसे

---

१ ते. आ. ख. १ पृ. २०५ [लघु भिक्खुजशरसायण, ३ कलश-२३, २४]

२ ते. आ. ख. २ पृ. ३० [ऋपिरायचरित्त, ३।१-५]

> पूज भिखणजी पधारिया, आनन्दा रे।
> वडी रावलिया वखाण क, आज आनन्दा रे॥
> दिक्षा देवा मा पुत्र ने आनन्दा रे, भला पधार्‍या जाण क।
> नर-नारी हरख्या घणा आ०, पूज्य भिखनजी ने पेप क॥
> मा सुत दिक्षा ले चूप सू आ०, ज्या रे मन माहे हरप विशेष क।
> वैरागी वनडो वण्यो आ०, रायचद विध रात क॥
> मात पुसाला सोभता आ०, परम चरण नू प्रीत क।
> चतुरो साह अति चूप नू आ०, करे दिक्षा मोछव अधिकाय क।
> हपणी होदे हरप सू आ०, तिण उपर वैसाय क॥
> गाम-गाम ना आविया आ०, नर-नारया ना वृंद क।
> जय पूज वला विधु भणी आ०, सयम दियो सुखकन्द क॥

ही जानें। कोई विचार न करें।"[1] आचार्य भारमलजी उनकी वात से वहुत प्रसन्न हुए और ऋषिराय को अपना उत्तराधिकारी चुन लिया।[2] ऋषिराय के साथ अपने संबंधों का वर्णन करते हुए जयाचार्य ने लिखा—'ऋषिराय मेवाड़ में विहार कर रहे है और ऋषि जीत उनकी आज्ञा से थली प्रदेश (तत्कालीन बीकानेर राज्य) मे विहार कर रहा है। क्षेत्र की दूरी है, फिर भी आचार्यवर के प्रति मेरे तन और मन में प्रीति का भाव भरा हुआ है।"[3] उनका कृतज्ञता का स्वर वहुत अद्‌भुत है। वे कहते हैं—'गुरुदेव ! मै विदु था, आपने मुझे सिधु बना दिया। आपने मुझ दीक्षा दी, ज्ञान दिया और अपना उत्तराधिकार दिया। आपने मुझ पर जो उपकार किया, उसे मै कैसे भूल सकता हूं।"[4]

मुनि हेमराजजी जयाचार्य के विद्या-गुरु थे। उनके प्रति जयाचार्य के मन में अगाध श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव है। मुनि हेमराजजी सिरियारी (जिला पाली) में जन्मे, वही दीक्षित हुए, वही उनकी आखों की शल्य-चिकित्सा हुई और वही उनका स्वर्गवास हुआ।[5] मुनि हेमराजजी की माता सोमा ने स्वप्न में देखा—देव-विमान सामने खड़ा है। उन्होंने कहा—मेरी संतान जीवित नहीं रहती। तव उत्तर मिला, अब दो जातक जीवित रहेंगी—एक पुत्र और एक पुत्री। उस समय मुनि हेमराजजी गर्भ में थे। माता को

---

१. अमरगाथा [हेमनवरसो, ५।५६-५६]

तिणइज वर्स पूज तन जाणी, काइ वेदना अधिक जणाणी।
भारीमाल री मुरजी पिछाणी, मुनि बोल्या अमृतवाणी।।
रायचद छै गुणखाणी।।
हेम सुदर वाण वदीजै, रायचदजी नै पट दीजै।
म्हारी तरफ सू सका न राखीजै।।
आंख डावी जीमणी विचारो, तिण मे फरक नही छै लिगारो।
तिम हू रायचद सारो।।
हेम वाणी सुणी पूज हरख्या, यानै तन-मन सू विनीत परख्या।
निकलक हेम इम निरख्या।।

२. ते. आ० ख. २, पृ. ३६ [ऋषिरायचरित्त, ७।४-७]

३. ते. आ. ख. २, पृ. ४० [ऋषिरायचरित्त, १०।दो. २,३]

४ ते. आ. ख २ पृ. ४८ [ऋषिरायचरित्त, १३।४०]

५. अमरगाथा [हेमनवरसो, ढा० १।दो. ८]

सरियारी मे जनमिया, सरियारी व्रत धार।
सरिया।री नेत्र खुल्या, सरियारी सथार।।

वहुत प्रसन्नता हुई।[1]

मुनि हेमराजजी की दीक्षा से पूर्व आचार्य भिक्षु के संघ में वारह साधु थे। वे तेरहवें मुनि वने। उसके पश्चात् संघ का चतुर्मुखी विकास हुआ।[2] उनका हृदय निर्मल और प्रकृति सरल थी। वे बुद्धि के धनी और सुगुरु के लिए सुखदायी थे।[3] वे ध्यान में लीन रहते थे। उनका चरित्र कमल की भांति पंक से परे था।[4]

कृतज्ञता और आभार प्रगट करते हुए जयाचार्य ने लिखा—'मुनिवर! आपने तेरह वर्ष तक वहुत परिश्रम कर मुझे सूत्र और अर्थ का ज्ञान दिया, और भी अनेक कलाएं सिखलाईं। आप महान उपकारी हैं।[5] मुझ पर जो उपकार किया उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। मैं विंदु था, आप ने मुझे सिंधु वना दिया। पारस लोहे को सोना वनाता है। आप सच्चे पारस हैं, जो लोहे को पारस वना देते हैं। आपने मुनि जीत की जय की है। स्वप्न में भी आपकी मुद्रा देखते ही हृदय आनंद से भर जाता है।[6]

---

१ अमरगाथा [हेमनवरसो, १।११,१२]

अमरोजी तात विख्याता जी, काइ माता सोमा दीपती काइ देख्यो देव विमाण।
कर जोडी कहै वाणीजी मुझ पुत्र सुता जीवै नहीं, कह्यो दोय जीवसी जाण॥
एहवो सुपनो निरखीजी काइ हरखी माता अति घणी, स्वामी हेम गर्भ अनुसार।
जनम्या उत्तम प्राणी जी सुखदाणी पुण्य सरोवरु हूओ आणद हरष अपार॥

२. वही, [हेमनवरसो, ३।३५]

वारे संत आगे हुंता, स्वाम भीखू रे सोय।
हेम थया संत तेरमा, या पाछे न घटियो कोय॥

३. वही, [हेमनवरसो, ३।३६]

हेम हीया रा निरमला, हेम सुगुरु सुखदाय।
हेम निपुण बुध आगलो, हेम सरल मुनिराय॥

४. वही, [हेमनवरसो, ४।दो. ४]

अमल चरण वर करण धर, निमल सील निकलंक।
विमल ध्यान लहलीन चित्त, कमल जेम 'निरपंक'॥

५. वही, [हेमनवरसो, ६।३४]

तेरा चोमास वहु खप कर नै, सूत्रादि अर्थ उदारी।
विविध कला सिखाई जीत नै, हेम इसा उपगारी॥

६ वही, [हेमनवरसो,७।२९-३३]

मु० मोसूं उपगार कियो घणो, कह्यो कठा लग जाय।
निश दिन तुझ गुण समरूं, वस रह्या मो मन मांय॥
मु० सुपने सूरत आप री, पेखत पामै पेम।
याद आया हियो हुल्लसै, वहणी आवै केम॥
मु० हूं तो विंदु समान थो, तुम कियो सिंधु समान।
तुम गुण कवहू न वीसरूं, निश दिन धरूं तुम ध्यान॥
मु० साचा पारस थे सही, कर दे आप समान।
विरह तुम्हारो दोहिलो, जाण रह्या जगदीस॥
मु० जीत तणी जय थे करी, विद्यादिक विस्तार।
निपुण कियो सतीदास नै, वले अवर सहु अधिकार॥

गुणग्राहिता और कृतज्ञता के क्षेत्र में जयाचार्य अग्रणी है। वे इस प्रतियोगिता में किसी से पीछे रहना नही चाहते। मुनि हेमराजजी की प्रज्ञा उनकी दृष्टि में ऋतंभरा थी।[1] वे बहुत मृदुभाषी थे। जयाचार्य ने उत्प्रेक्षा की है—मानो कठोर वचन वोलने का नियम ले रखा था।[2] जीवन की संध्या में जयाचार्य ने कहा—'मुनिवर ! मृत्यु महोत्सव है। यह अशुचि शरीर छूटता है तो उसके लिए चिंता करने की क्या वात है ? हम पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। साधक यहा से मर कर दिव्य जीवन में प्रवेश करता है। दीर्घकाल तक वह आनंदपूर्ण अवस्था में रहता है। भविष्य मे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त पाता है, इसलिए मृत्यु महोत्सव है। मुनि हेमराजजी ने आश्चर्य के स्वर ने पूछा—क्या मृत्यु महोत्सव है ? जयाचार्य ने कहा—साधक समाधि-मरण को प्राप्त होता है, इसलिए मृत्यु महोत्सव है।[3]

मुनि सरूपचन्दजी जयाचार्य के वड़े भाई थे और दीक्षा-पर्याय मे भी ज्येष्ठ। वे एक यशस्वी संत थे। उन्होंने आचार्य भारमलजी, ऋषिराय और मुनि हेमराजजी की बहुत सेवा की तथा उनकी प्रसन्नता प्राप्त की।[4] उनमे साधुओं को निभाने की कला बेजोड़ थी। कोई साधु कभी साधना के प्रति-कूल व्यवहार करता तब वे उसे धीरज से समझा कर ठीक मार्ग पर ले

१. अमरगाथा [हेमनवरसो, ६।८६]

सत्य प्रग्या भली आप री, बड़ा औजागर आप।
परभव री खरच्या पलै बाधी भली, मेटचा घणा रा सताप॥

२. वही, [हेमनवरसो, ७।२२]

मु० कठण वचन कहिवा तणो, जाणक कीधो नेम।
बहुलागै नही वागर्यो, वचनामृत सू पेम॥

३. वही, [हेमनवरसो, ६।७२-७४]

ए मरण छै सो तो महोच्छव अच्छै, छूटै असूच तन एह।
सोच करै किण वात रो, आछी वस्त तो नही जेह॥
आगै असख्याता काल मे, इसा कष्ट तणो नही काम।
नीव लागै सिवपुर तणी, तिण स्यू मृत्यु महोच्छव अभिराम॥
जव हेम हरप धर पूछियो, मृत्यु महोच्छव है ताम।
जीत कहै मृत्यु महोच्छव सही, पिंडत मरण सकाम॥

४. वही, [सरूपनवरसो, ८।१६]

भारीमाल ऋषिराय नो, हेम व्यावच विध रीत।
विध-विध सू रीझाविया, पूर्ण त्यासू प्रीत॥

आते ।[1] दूरदर्शी—तीन काल की आलोचना करने वाले, गुणग्राही और प्रतिपालक थे—जिसका हाथ पकड लिया उसे अपनी ओर से कभी नही छोड़ते । मनुष्य के पारखी थे । कोई कपट-प्रपंच करता उसे पहचान लेते ।[2] वे साधना की ज्योति को प्रज्वलित रखते थे । राजस्थान की भयंकर सर्दी मे केवल एक चादर ओढ़ते थे । सं० १६०८ के वाद एक चादर ओढ़ना भी छोड़ दिया । रात्रि के समय खुले वदन बैठे या खडे स्वाध्याय किया करते थे ।[3] उन्होने अनेक जैन आगमों का पारायण किया । वे आगमो के मर्मज्ञ थे ।[4]

एक वार आचार्य भारमलजो ने मुनि सरूपचदजी को अग्रणी वना दिया । मुनि सरूपचंदजी ने प्रार्थना की—प्रभो ! आपने वडी कृपा की, पर मैं मुनि हेमराजजी के साथ ही रहना चाहता हू, इसलिए मुझे उन्ही के पास रखें । आचार्य भारमलजो ने कहा—तुझे मुनि हेमराजजी से वोलने का प्रत्याख्यान है—तू उनसे वोल नही सकता । मुनि हेमराजजी को वुलाकर कहा—तुम्हे मुनि सरूप से वोलने का प्रत्याख्यान है । उस समय जयाचार्य ने मुनि सरूपचंदजी से कहा—आप आचार्यवर की आज्ञा को शिरोधार्य करें ।

---

१ अमरगाथा [सरूपनवरसो, ८।२४]

सत निभावण नी कला, ते पिण कहिय न जाय ।
'ऊचचलाइ पणो' तजी, देवै धीरप सू समजाय ॥

२ वही, [सरूपनवरसो, ८।२५-२७]

आलोचना ऊडी घणो, ए पिण गुण इधिकाय ।
तीन काल री विचारणा, जवर हिया रै माय ॥
गुणग्राही पिण अति घणा, अधिक निभावत प्रीत ।
जेहनै आप अगीकर्यो, राखै तेहनी रीत ॥
अधिक मिनख नी पारखा, स्वाम सरूप रै सार ।
कोइ कपट प्रपच करै तसु, ओलखी सग निवार ॥

३ वही, [सरूपनवरसो, ८।१६,१७]

शीतकाल माहे मुनि, एक पछेवडी उपरत ।
वहुलपणे ओढी नही, वर्ष घणे नतिवत ॥
आठा ना वर्ष पछै मुनि, इक पछेवडी परिहार ।
प्रवर सभाव निशा विषै, करता अधिक उदार ॥

४ वही, [सरूपनवरसो, ८।७]

वार अनेक ही वाचिया, सूत्र वत्तीस उदार हो ।
आप भीणी रहिसा वणा, पारू न्याय विचार हो ॥

इसमें हित होगा। उन्होंने जयाचार्य का परामर्श स्वीकार कर लिया।[1]

मुनि खेतसीजी सतजुगी के नाम से प्रसिद्ध हैं।[2] वे आचार्य भिक्षु के परम विनीत और सहायक मुनियों में अग्रणी थे। आचार्य भिक्षु ने अंतिम समय में कहा था—सतजुगी, टोकरजी और भारमलजी—इन तीनों के सहयोग से मैंने संयम की निर्मल साधना की।[3] शिष्य के लिए इससे बड़ा कोई उपहार नही हो सकता। गुरु के सहयोग से शिष्य संयम की साधना करते है, यह सर्वसम्मत तथ्य है, किन्तु गुरु ने शिष्य के सहयोग से संयम-पालन किया यह एक विशिष्ट घटना है। मुनि सतजुगी इस उपहार के पात्र थे। जयाचार्य ने लिखा—सतजुगी पूरे संघ के लिए सुखदायी हैं। ऐसे पुरुष इस जगत् मे विरले ही होते है।[4] मुनि खेतसीजी के पिता का देहावसान हो

---

१ अमरगाथा [सरूपनवरसो, ६।दो ४-८]

भारीमाल स्वामी तदा, वारू करी विचार।
अति प्रसन्न चित्त सू कियो, सरूप नो 'सिंघाड' ।।
सरूप भाखै स्वामजी, निसुणो मुझ अरदास।
हेम सेवा करवा तणो, मो मन अधिक उल्हास ।।
भारीमाल कहै हेम थी, बोलण रा पचखाण।
हेम भणी पिण त्याग ए, स्वाम कराया जाण ।।
भाखै जीत सरूप नै, पूज्य तणी ए आण।
अंगीकार कीजै सखर, लीजै सत सुजाण ।।
ताम सरूप अंगी करी, स्वाम आण सुखकार।
इम चित प्रसन्न थी कियो, सरूप नो सिंघाड ।।

२ ते आ. खं १, पृ. १७४ [भिक्खुजशरसायण, ५३।१४]

सखर सेवा मे हो खेतसीजी सुवनीत, सतजुगी नाम अपर शोभावियो।
पूर्ण त्यारै हो पूजजी री प्रतीत, चार तीर्थ माहि जश तसु छावियो ।।

३ ते आ. ख. १, पृ. १७५ [भिक्खुजशरसायण, ५३।५-८]

स्वाम कहै सतजुगी भणी, ये सखर शिष्य सुविनीतो ए। धर प्रीतो ए।
साझ दियो संजम तणो क ।।
टोकरजी तीखा हुन्ता, विनयवंत सुविचारी ए। हितकारी ए।
भक्ति करी भारी घणी क ।।
भारमलजी सू मेलप भली, रहीज रुड़ी रीतो ए। अति प्रीतो ए।
जाण के पाछल भव तणी क ।।
सखर तीना रा साझ सू, वर संजम उजवाल्यो ए। म्हैं पाल्यो ए।
प्रत्यक्ष ही शूरापणै क ।।

४. अमरगाथा [सतजुगी रो पचढालियो, ढा०१।दोहा ४]

सकल संघ ने सतजुगी, साताकारी सोय।
इसा पुरुष इण जगत मे, केइक विरला होय ।।

गया। उन्हें इसका पता चला। आचार्य भिक्षु जानते थे, यह गृहवासी जीवन में अपने माता-पिता के प्रति बहुत स्नेहसिक्त था। अव इसके मन पर क्या असर हुआ है, यह जान लेना चाहिए। उन्होंने खेतसीजी को बुला कर कहा—'तेरे पिता का देहावसान हो गया है। तू कुछ भी मन मे मत लाना।' मुनि खेतसीजी वोले—'मेरे पिता आप हैं। मुझे कोई चिता नही। मुझे पिता का विरह नहीं हुआ है। यदि मैं गृहस्थ जीवन में होता तो मुझे जरूर कष्ट होता। मैं रोता-विलपता, पर मै उस जीवन से मुक्त हू, इसलिए मुझे न कोई कष्ट है और न रोने का प्रसंग है।'[1]

मुनि खेतसीजी विनय की प्रतिमूर्ति थे। जयाचार्य ने वड़े श्रद्धापूरित शब्दों में उनके वहुगुणी व्यक्तित्व का अंकन किया है।[2] आचार्य भिक्षु उन्हे आमन्त्रित करते तव पहले देख लेते कि उनके हाथ मे पात्री तो नही है। उन्हे आचार्य भिक्षु का आमंत्रण मिलते ही उनके हाथ जुड़ जाते। हाथ मे कोई वस्तु होती, वह नीचे गिर जाती। आचार्य भिक्षु जैसे गुरु और खेतसीजी जैसे शिष्य—यह कोई अद्भुत योग है।[3] सतजुगी की दीक्षा के पश्चात् सघ की वृद्धि हुई और आचार्य भिक्षु को खेतसी के द्वारा चित्त-समाधि उपलब्ध

---

१. अमरगाथा [सतजुगीचरित्त, ३।१४-१७]

गाम 'कोठारीये' पधारिया, तिणहिज दिवस सुजोग।
खेतसीजी सुणी वारता, जनक पोहता परलोग॥
पूछै भीक्खू स्वामजी, तू मन मे म आणीजै काय।
खेतसीजी कर जोड़ नै, वाण वदै सुखदाय॥
मोनै तो आप आवी मिल्या, जो चल्या ससारी वाप।
म्हारै तो विरह पडियो नही, हू क्यानै करू सताप॥
हू ससार माहे रह्यो हुंतो, तो रोवणो पडतो मोय।
सो हू तो छूटो दुख थकी, इम वोल्या अवलोय॥

२. वही, [सतजुगीचरित्त, ५।दो. २-४]

दमता इद्री पच दिल, रमता गुरु वच रग।
खमता गुण कर खेतसी, समता सखर सुचग॥
नमता गुन सू निरमला, वमता च्यार कषाय।
जमता जिन मत सतजुगी, गमता सहु गण माय॥
प्रकृति विनय गुन कर प्रवर, सतजुग सरिसा सत।
सतजुगी नाम सुहामणो, मोटा मुनी महत॥

३. वही, [सतजुगीचरित्त, ५।८]

[illegible] जिस [illegible] आदर सहित [illegible]।
विनय रहित [illegible] मुनि [illegible], [illegible]॥

हुई ।[१] वे एक-एक पहर तक खड़े रहते थे। सर्दी में कपड़े नही ओढ़ते। साधु-साध्वियों की सेवा उनका जीवनव्रत था।[२] वे साधु-साध्वियों के पिता तुल्य थे।[३] इस युग में वैसा विनयशील मुनि कोई जन्मेगा, यह मुझे कठिन लगता है।[४]

मुनि भीमराज जी जयाचार्य के बड़े भाई थे। वे सेवाभावी, समूचे गण के लिए प्रिय और महान् तपस्वी थे। उन्होंने लंबे-लंबे उपवास किए। सर्दी के मौसम में बारह वर्ष तक केवल एक चादर ओढ़ते। गर्मी में सूर्य का आतप लेते। उनकी स्वाद-विजय प्रशस्त थी। वे पंच परमेष्ठि के जप में लीन रहते थे।[५] वे छोटी आयु (वयांलीस वर्ष की आयु) में स्वर्गवासी हो गए।

---

१. अमरगाथा [सतजुगीचरित्त, ढा० ९।दो. ४]

तिम सतजुगि चरण लिया पछै, धर्म वृद्धि अधिकाय ।
भीक्खू स्वाम तणै भली, चित्त समाधि सवाय ।।

२ वही, [सतजुगीचरित्त, ९।१२-१४]

शीतकाल मे शीत सह्यो अति, काटण कर्म करूडो ।
सार करता सत-सत्यां नी, कर्म काटण नै सूरो ।।
ऊभा रहिवा री तपसा करि, एक पोहर उनमानो ।
ते पिण घणा काल लग कीधी, खेंतसीजी गुणखानो ।।
लघु वृद्ध समणी सता नै, उष्ण काल जल आणी ।
विविध समाधि पमावै स्वामी, धर्म निर्जरा जाणी ।।

३ वही, [सतजुगीचरित्त, १३।१६]

समण-सत्या नै जनक सरीखा, सतजुगि महा सुखकारी ।
सत-सत्या थानै निश दिन सभरै, आप इसा साताकारी ।।

४. वही, [सतजुगीचरित्त, १३।१३]

विनयवत मुनि सतजुगि सरिखा, पचम काल मझारी ।
वलि व्हैणा महा दुर्लभ जाणो, उत्तम पुरुष अवतारी ।।

५. वही, [भीमविलास, ३।७-१०]

मुनिवर रे ! वर्स बारै रै आसरै, शीतकाल मे सोय ।
पछेवडी दोय परहरी, सीत सह्यो अवलोय ।।
मुनिवर रे ! उष्ण काल आतापना, लीधी बोहली वार ।
सम दम सत सुहामणो, भीम गुणा रो भण्डार ।।
मुनिवर रे ! रस नो त्याग कियो ऋषि, नित विगै दोय उपरत ।
उत्तम करणी आदरी, ध्यान सज्झाय रमत ।।
मुनिवर रे ! समरण जाप सदा धर्यो, पच पदा नो जाण ।
नेम अभिग्रह निरमला, भीम गुणा री खान ।।

उन्होंने अनेक लोगों को चित्त-समाधि उपलब्ध कराई और अनेक लोगो को अपराध से मुक्त किया, इसलिए बहुत लोग उन्हें याद करते रहते ।[1]

मुनि भीमराज ने दिव्य आत्मा के रूप में जयाचार्य का साक्षात्कार किया था। वे यत्र-तत्र जयाचार्य के सहयोगी भी बने। आचार्यवर ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2]

जयाचार्य के निर्मल चक्षु रंग-रूप की प्रतिमा की अपेक्षा गुणात्मक प्रतिमा के प्रति अधिक संवेदनशील थे। वे सूक्ष्म मे प्रवेश कर गुणो को खोज लेते और उनकी वाणी उन्हें शब्दों में चित्रित कर देती। न यथार्थ का संगोपन और न अयथार्थ का मूर्त्तीकरण। सहज अभिव्यंजना। सरस शब्दों में घटना का समंजन और अंकन। इस शैली में उन्होने गीतिबद्ध जीवन-वृत्त लिखे। इस कार्य से उनकी गुणग्राहिता की प्रतिमा मंडित हो गई।

मुनि मोतीजी के संसारपक्षीय चाचा की दुकान दक्षिण में थी। वे अपने चाचा के पास चले गए। वहीं रहने लगे।[3] उनके मन में दीक्षा लेने के भाव जागे। उनकी भावना लोगों में फैल गई। वे बहुत भावुक थे। एक दिन किसी जीमनवारमें भोजन करने घोड़े पर चढकर जा रहे थे। लोगों ने कहा—यह घोडे की सवारी कर रहा है, फिर कैसे दीक्षा लेगा? मोतीजी ने सुना। वे तत्काल घोडे से नीचे उतर गए और जीवन-भर किसी वाहन पर न बैठने का सकल्प कर लिया।[4] वे पैदल चल रहे थे। वे पैरों मे जूते पहने हुए थे। किसी ने

---

१ अमरगाथा [भीमविलास, ७।११]

दीधी थे तो घणा रै समाध, टाल्या थे तो घणा रा अपराध।
नाम जप्या ही अहलाद, करै थानै बहु जन याद॥

२ वही, [भीमगुण वर्णन, १।४]

सरूपचद सहोदर भणी, वे दीधो दीनै सम्मान।
दिव्य सरूप देख्या छता, हर्ष थयो असमान॥

३ वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, ढा० १।दो. ४]

काका तणी दुकान थी, दक्षिण माहै ताम।
पीतरिया पासै तदा, मोती रहिता जाम॥

४. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।२१-२३]

जब जाति ऊपर बैसी नै, मोती दिन तिण वारो।
जीमणवार विषै जीमण नै, जावै छै त्रिह वारा॥
तिण ही लोक कह्यु तिण अवसर, न आवै दुखकारी।
दिख्या लेवा त्यार थयो छै, चढि हय [illegible]॥
ए वचन मोती सांभल नै, हय थी [illegible]।
जावजीव लगु असवारी रा, त्याग [illegible]॥

कहा—यह जूते पहने हुए है, फिर कैसे दीक्षा लेगा ? यह सुनकर मोतीजी ने जूते खोल दिए और जीवन-भर जूते न पहनने का संकल्प कर लिया।[1] वे नंगे पैरों से भोज में पहुंचे। वहां भोजन करने लगे। किसी ने कहा—यह रात को भोजन कर रहा है, फिर कैसे दीक्षा लेगा ? मोतीजी ने यह सुना और तत्काल उन्होंने रात्रि में भोजन न करने व जल न पीने का संकल्प ले लिया।[2]

वे दक्षिण से चले। लगभग सात सौ, आठ सौ मील की पद-यात्रा कर पाली पहुंचे। उस समय उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी।[3] मुनि बनने के आठ वर्ष बाद तक वे जयाचार्य के पास रहे। उन पर जयाचार्य के अनुशासन की छेनी चली, वे प्रतिमा बन गए। उन्होंने तेज आच को सहा और कुन्दन बन गए।[4] वे सब साधु-साध्वियों के लिए सुखदायी, मधुरभाषी, विनयशील और गुणग्राही हो गए। उनके क्रोध आदि कषाय प्रबल नही रहा।[5] उनकी

---

१. अमरगाथा [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।२४-२५]

किण हिक जन वलि इह विध आख्यू ए चारित्त लियै विदेशी।
पिण पग माहि पानही पहिरै, ए स्यू चारित्त लेसी रे॥
इम सुण मोती जेह पानही, पग थी तुरत उतारी।
जावजीव पगरखी पैहरण, त्याग किया तिहवारी रे॥

२. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।२६-२७]

जीमणवार मे निश भोजन करता, कोयक जन भाखै।
चरण लेण नै त्यार थयो ए, वलि निश भोजन चाखै॥
ए लोक नो वचन सुणी नै, मोती तुरत उमगै।
निश मे च्यारू आहार भोगवण रा, त्याग कीया चित चगै॥

३. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, १।३०-३१]

तब मोती दक्षिण थकी चालियो, पथ अलवाणै ताह्यो।
चौविहार वलि रात्रि विषै पिण, मन मे नही तमाह्यो॥
आसरै कोस तीन सौ इह विध, आयो पाली माह्यो।
तिहा भारीमालजी आदि सतारा, दर्शण मोती पायो।

४. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, ढा० ५।दो. ६,७]

टाची लागा पथर री, प्रतिमा हुवै वदीत।
तिम कठिन वचन बहु शीख दे, प्रकृति सुधारी जीत॥
समभावै मोती सही, कठिण शीख मृदु जेम।
अग्नि करी प्रेर्यो थको, हुवैज कुनण हेम॥

५. वही, [मोतीजी स्वामी रो पचढालियो, ५।११]

साताकारी सत, श्रमण नै सुखदाई, मधुर वचन मतिवत अधिक ही नरमाई।
नरमाई वलि गुणग्राही, क्रोधादिक तास प्रबल नाही।
ज्यो तो धिन-धिन मोती सत प्रवर शोभा पाई॥

सहिष्णुता अनुपम थी और अनुपम थी उनकी इन्द्रिय-विजय।[1] जयाचार्य ने अनेक व्यक्तित्वों का निर्माण किया। वे कुशल शिल्पी थे। उनके शिल्प का एक निदर्शन है मुनि मोतीजी का तपस्वी और साधक जीवन।

मुनि शिवजी वड़े अनुशासन-निष्ठ संत थे। वे मर्यादा और अनुशासन को वहुत मूल्य देते थे। जयाचार्य ने सं० १९१० पौप कृष्णा नवमी के दिन मर्यादापत्र-वाचन की स्थापना की थी।[2] मध्याह्न काल मे प्रतिदिन मर्यादा-पत्र का वाचन चलता था। एक दिन मुनि शिवजी उस कार्यक्रम मे सम्मिलित नही हुए। जयाचार्य ने पूछा, आज तुम उपस्थित क्यों नही हुए? शिवजी ने कहा—'गुरुदेव! मेरी वहुत इच्छा थी उपस्थित होने की, पर मुनि माणक ने मुझे स्थान की रखवाली के लिए नियुक्त कर दिया। फिर मैं क्या करता? जयाचार्य ने कहा—तुम मुझे कहते, मैं दूसरी व्यवस्था कर देता। दूसरे दिन मर्यादा-पत्र-वाचन के समय जयाचार्य ने शिवजी को याद किया और अपने पास विठाया। शिवजी वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने जीवन को धन्य माना।[3] मुनि शिवजी प्रकृति के सरल, त्यागी, तपस्वी साधक थे।

---

१. जमरगाथा [मोतीजीस्वामी रो पचढालियो, ५।२१]

शीत काल मे शीत, परिसह प्रति खमतो।
उष्ण ऋतु मे उष्ण, सहे समता रमतो।
समता रमतो जी परिचय वमतो, मन इन्द्रिय पंच [illegible] ॥
ओ तो धिन धिन मोती मत तीर्थ नें मन गमता ॥

२. वही, [शिवजीस्वामी रो चोढालियो, १।२८]

उगणीसै दशके समे रे, पोह विद नवमी सार।
पवर हाजरी नी थापना रे, जय गणपति [illegible] उदार।

३ वही, [शिवजीस्वामी रो चोढालियो, ढा० [illegible] ६-१५]

एक दिन न सुणी हाजरी, जयगणी वर पूछ्यो।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

उनकी दृष्टि केवल अनुशासन पर थी।[1] ऐसे साधक अनुशासन-विकास के लिए आदर्श हो सकते हैं।

मुनि कर्मचंदजी दीक्षित होने के बाद मुनि हेमराजजी के पास रहे, दो वर्ष ऋषिराय की सेवा में, फिर बहुत वर्षो तक जयाचार्य के पास रहे। उनके मन में जयाचार्य से बहुत प्रीति थी। उन्होंने बत्तीस आगमो का अनेक बार वाचन किया।[2] वे बहुत स्वाध्याय-प्रिय थे। उन्होने गूढ स्थलों का समाधान जयाचार्य से लिया। वे स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा अपने चित्त को निर्मल बनाए रखते थे।[3]

मुनि उदयचन्दजी ऋषिराय के पास दीक्षित हुए और मुनि हेमराजजी की पाठशाला में पढ़े।[4] वे बहुत विनम्र और अनुशासित थे। अनुशासन की शिक्षा हमारे धर्मसंघ की शिक्षा का मुख्य अंग रहा है। आचार्य भिक्षु ने इसका बीज बोया था। उत्तरवर्ती आचार्य उसे सीचते चले गए। केवल आचार्यो ने ही उसे नही सीचा, संघ के सभी साधु-साध्वियों ने, पूरे संघ ने उसे सीचा। फलतः वह शतशाखी हो गया। जयाचार्य ने अनुशासन के सुखद परिणामों का मार्मिक चित्रण किया है—मुनि उदयचन्दजी अनुशासन मे रहते थे, इसलिए उन्हें गुरु का प्रसाद मिला। गुरु के प्रसाद से उन्हें शिक्षा मिली।

---

१. अमरगाथा [शिवजीस्वामी रो चौढालियो, ४।२]

सरल भद्र गुण अधिक सोभता, मृदु मार्दव मन जीत।
एक दृष्टि वर आणा ऊपर, परम सद्गुर सू प्रीत॥

२. वही, [कर्मचन्द गुणवर्णन, १।४५-४७]

हेम पास चौमासा च्यारो, पचमो छठो अवधारो।
ऋषिराय समीपे सारो॥ ध.॥
पछै जीत पास सुविचारो, घणा चौमासा काया उदारो।
तिण रै जीत सू पीत अपारो॥
बहु वार वाच्या सु जगीसो, वच प्रवचन सूत्र बतीसो।
स्वाध्याय करत निशि दीसो॥

३. वही, [कर्मचन्द गुणवर्णन, १।५२,५३]

नित्य सज्झाय निर्मल ध्यानो, वारू सवेग रस गलतानो।
पाप नो भय तसु असमानो॥ ध.॥
थल कठिन सिद्धान्त ना भारी, जयगणपति पास उदारी।
थट प्रगट जाण्या सुधारी॥

४. वही, [उदयचद चौढालियो, १।दो. ११]

हेमराजजी स्वाम नै, सूप्या गणि ऋषराय।
विनयवत गुणवत अति, गण मे सोभ सवाय॥

शिक्षा से उज्ज्वल ध्यान मिला। उससे चित्त की शुद्धि हुई। चित्त की शुद्धि से तपस्या में रुचि वढ़ी। इस प्रकार वे तपस्या में प्रवृत्त हो गए।[1]

व्यक्ति की अपनी क्षमता होती है, पर उसकी अभिव्यक्ति मे सान्निध्य का वड़ा योग होता है। महानता के सान्निध्य में महान् वनना सरल होता है। क्षुद्रता का सान्निध्य मिलने पर महानता का वीज वीज ही रह जाता है, वह अंकुरित नही हो पाता। हेमराजजी के सान्निध्य में मुनि उदयचन्दजी हेम वन गए। इस प्रसंग में जयाचार्य ने मुनि हेमराजजी का श्रद्धासिक्त चित्रण किया है। मुनि हेमराजजी का प्रसंग आते ही जयाचार्य की वाणी मुखर हो जाती है, शव्द की धारा अविरल होकर वहने लग जाती है।[2]

मुनि उदयचन्दजी ने जीवन के संध्या-काल में अनशन किया था। उस

---

१. अमरगाथा [उदयचद चोढालियो, १।२६-३२]

ओ तो चालै वडा रै अभिप्रायो, तिण सू रीझ्या सुगुरु सवायो ॥
सुगुरु रीझ्या अधिक गुण आया, सीख सुमति सुधारस पाया ॥
सीख पाया उज्जल ध्यान ध्याया, तिण सू वहुला कर्म खपाया ॥
वहु कर्म क्षये तसु जीवो, ओ तो उज्जल हूवो अतीवो ॥
ओ तो जीवं उज्जल थी साधी, तरा विनय थकी रुचि वाधी ॥
रुचि वाध्या सुगुरु ले आणा, जै तो तप करवा मडाणा ॥
मड्यो तप करवा अति भारी, ओ तो उदयराज अधिकारी ॥

२. वही, [उदयचद चोढालियो, ढा.२।दो. ४-११]

हेम ऋषि रा सग सू, वाध्या गुणगणि हेम।
उदयराज रा पट मझै, हेम वधायो खेम ॥
हेम सुपारस सारिखो, हेम नाचनो हेम।
हेम तणा गुण सभर्‌या, पामै अधिको प्रेम ॥
हेम सुमति ना सागरू, हेम क्षमा भरपूर।
हेम सील नो पर सही, सधरो हेम सनूर ॥
हेम ग्यान नो पीजरो, हेम ध्यान गलतान।
हेम मान-मद निर्दली, हेम शान्ति अनमान ॥
हेम सवेग रसे भर्‌यो, हेम सुमति दातार।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

समय जयाचार्य उन्हें दर्शन देने वीदासर से लाडणू पधारे। तपस्वो को इसका पता चला। वे हर्ष से ओत-प्रोत हो गए। जिस दिन जयाचार्य उनके पास पहुंचे, उनके अनशन का अड़तीसवां दिन चल चल रहा था।[1] उनका अनशन हिन्दू और मुसलमान सबके लिए आश्चर्य का कारण वन गया।[2]

मुनि हरखचन्दजी भी हेमराजजी स्वामी की पाठशाला के विद्यार्थी थे। जयाचार्य स्वयं एक दिन इसी पाठशाला में पढ़े थे। हेमराजजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद मुनि हरखचन्दजी मुनि शांति के पास रहे। वे भी स्वर्गवासी हो गए। मुनि हरखचन्दजी जयाचार्य के पास पहुंचे। आचार्यवर ने उनसे कहा—'तुम्हारी इच्छा हो तो तुम अग्रणी होकर विहार करो और तुम्हारी इच्छा हो तो तुम मेरे पास रह सकते हो। ये दोनो निर्देश तुम्हारे सामने है। तुम जैसा चाहो वैसा कर सकते हो। मुनि हरखचन्दजी ने कहा—'मैं आपकी सन्निधि में रहना चाहता हू।' उनकी चाह स्वीकृत हो गई।[3] जयाचार्य ने उनका बहुत मूल्यांकन किया, उन्हें आचार्यपद के योग्य व्यक्तित्व की सूची में स्थान दिया।

मुनि सतीदास (अपर नाम शांति मुनि) की जीवनी मे जयाचार्य ने अपने अन्त:करण के सभी दरवाजे खोल दिए। उन्हें अपना परम मित्र घोषित

---

१. अमरगाथा [उदयचद चौढालियो, ४।३०-३२]

> तपस्वी उठी थइ सन्मुख आवी सीधा, गणपति ना दर्शण कीधा।
> वचनामृत प्याला पीधा॥
> गणि दर्शण कर गुण खान, वचनामृत साभल कान।
> तपस्वी पायो हरप असमान॥
> जद हूतो अड़तीसमो दिन्न, वारू वचन वदै प्रसन्न।
> म्हारै आज दिहाड़ो धन्न॥

२. वही, [उदयचद चौढालियो, ४।८१]

> लोक अन्यमती स्वमती सोय, घणा अचरज पाम्या जोय।
> हिन्दू मुसलमान अवलोय॥

३. वही [हरखचद चौढालियो, २।५-७]

> विचरो मुनि पोय्या ग्रही, सिंघाडो तुज सार।
> मन हुवै तो पासै रहो, मुझ वेहु आज्ञा उदार॥
> हरख कहै सेवा आपरी, करवा रा मुझ भाव।
> सूंपै मुनि पोय्या प्रतै, सखर विचारण साव॥
> जय गणपति रै आगले, हरख रहै हुसीयार।
> तन-मन सू सेवा करै, वारू विनय विचार॥

किया ।[1] उनके व्यक्तित्व का वर्णन काव्य की प्रांजल ओर सरस पदावलि मे किया ।[2] जयाचार्य मुनि-अवस्था में हेमराजजी स्वामी के पास पढ रहे थे, उसी समय मुनि सतीदासजी जयाचार्य के पास पढ रहे थे । जयाचार्य के प्रति उनके मन मे अत्यधिक प्रीति थी । उसकी तुलना दूध और जल से की है ।[3]

मुनि सतीदासजी का आंतरिक व्यक्तित्व वहुत आकर्पक था । उनकी दीक्षा मुनि हेमराजजी के द्वारा आम्र वृक्ष के नीचे संपन्न हुई । मुनि हेमराजजी के मन में वहुत हर्ष था ।[4] सतीदासजी को देखकर आचार्य भारमलजी भी वहुत प्रसन्न हुए ।[5] उनके जीवन पर जयाचार्य की अमिट छाप थी । उनका स्वर, वाणी और कार्य सभी सरस थे ।[6] वे वहुत मृदुभापी और विनम्र

---

१. अमरगाथा [शान्तिविलास, १३।५२]

परम मित्र मुझ शाति मनोहर, सुविनीता सिरताज ।
याद आवै निश दिन अधिकेरो, जाण रह्या जिनराज ।।

२. वही, [शान्तिविलास, १३।४७-५०]

बड भागी त्यागी वैरागी, सोभागी सुखकार ।
ज्ञान गुणे अनुरागी गिरवो, सखर शाति अणगार ।।
समता खमता दमता जमता, नमता वचन निहाल ।
तमता भ्रमता वमता तन-मन, मुनी शाति गुण माल ।।

सुख सपति दायक गुण लायक, दायक अभय दयाल ।
वोधि पमायक धर्म वधायक, शाति ऋपी सुविशाल ।।
चितको चटको मटको छाडी, दुरमत खटको पेल ।
निरूप द्रव्य वटको गुण नो गटको समय सुलटको सेल ।।

३. वही, [शान्तिविलास, ढा०३।दो.२,३]

हेम ऋपि पासे हु तो, जीत सत जिह वार ।
तास पास सतिदासजी, पडै सु अधिकै प्यार ।।
पीत जीत सू अति प्रवर, सतीदास कै सोय ।
सीख्या विविध प्रकार सू, वोल थोकडा जोय ।।

४. वही, [शान्तिविलास, ७।२७]

हेम ऋषी तिण अवसरे, पाम्या हरप अपार ।
सजम दे सतीदास नै, विहार कियो तिणवार ।।

५. वही, [शान्तिविलास, ढा० ८।दो. ६]

सतीदास जी नै सही, दीक्षा पका [illegible] ।
भारीमाल हरख्या घणा, [illegible] ।

६. वही [शान्तिविलास, ढा० ६।दो. ५]

सरस [illegible] सरस, सरस [illegible] ।
हेम [illegible] शांति [illegible] सरस [illegible] ।।

थे।[1] उनके जैसा सुन्दर स्वभाव हजारों व्यक्तियो में खोजने पर भ
मिलता था। वे मूर्तिमान प्रशांतरस थे।[2]

सं० १९०८ की घटना है। जयाचार्य लाडणू में थे। ऋषिर
स्वर्गवास हो गया था। जयाचार्य आचार्यपद पर आसीन हुए। उस
मुनि सतीदासजी अनेक साधुओं सहित लाडणू आए। जयाचार्य ने सरूप
स्वामी आदि संतों को उनकी अगवानी के लिए भेजा।[3] वे स्था
पहुंचे तब उन्हें अपने पट्ट पर बिठा लिया। यह अनुश्रुति है। रा
स्वप्न में आभास हुआ—सामान्य साधु को आचार्य अपने बराबर न बि
प्रातःकाल यह बात जयाचार्य ने सब साधुओं को सुनाई।

महामती सरदारांजी एक यशस्विनी साध्वीप्रमुखा थी।
जीवन में भी उनकी तपस्या आश्चर्यजनक थी। वे सर्दी के दिनों में पि
रात में ढाई घंटा तक एक ओढ़नी में रह कर, गर्मी के दिनों में तीन
तक सूर्य के आतप में बैठकर समता की आराधना करती थी। यह

---

१. अमरगाथा [शान्तिविलास, ६।६]

बोलण मे मृदु बोलवै, विनय वचन वर वाण।
चित परसण कियो हेम नो, तू अवसर नो जाण॥

२. वही, [शान्तिविलास, ६।२०,२१]

सुंदर स्वभाव था सारिखो, मनुष हजारा रै माय।
बहुल पणै नहि देखियो, तुझ गुण अनघ अथाय॥
सखर मुद्रा थारी सोभती, पवर प्रशात आकार।
प्रशात रस प्रभूजी कह्यो, देख लो अनुयोगदुवार॥

३ वही, [शातिविलास, ११।२९-३३]

दोय साधु तो पैहला मोकल्या, शाति ऋषी साह्मा जान।
अहो मुनि। 'ईडवै' जाय भेला हुआ, तीस कोस उनमान॥
अहो मु.! 'लाडणू' आवै छै ते दिने, जीत कहै सुणो सत।
अहो मु.! शान्ति साह्मा शीघ्र जायजो, संत सुणी हरषत॥
अहो मु.! सरूपचंद ऋष आदि दे, सत घणा लेइ सोय।
अहो मु.! साह्मा आया ऋष शाति रै, हरष हीयै अति होय॥
अहो मु.! लोक घणा नगरी तणा, शाति ऋषि साह्मा जाय।
मेलो मड्यो तिण अवसरै, हुओ हरष ओछाय॥
अहो मु.! शाति ऋषी बहु मता थकी, प्रणमै जीत ना पाय।
अहो मु.! लोक मड्कड़ा मेला हुआ, मत सती बहु ताय॥

अनेक वर्षों तक चला।[1] तपस्या में सहिष्णुता की शक्ति विकसित होती है। वह जीवन का सबसे बड़ा वरदान है। जिसे सहिष्णुता की शक्ति प्राप्त है वह जीवन की यात्रा में आगे बढ़ सकता है।

महासती सरदारांजी को दीक्षा की स्वीकृति बहुत कठिनाई से मिली। तेरापथ धर्म-सघ मे पारिवारिक जनों की स्वीकृति के बिना दीक्षा नही दी जाती। उनके परिवार के लोग स्वीकृति देना नही चाहते थे। महासती का निश्चय अटल था। उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पडा। जयाचार्य ने उन कठिनाइयों का विशद वर्णन किया है। वह अपने आप मे एक उपन्यास जैसा है। आखिर जीत उसी की होती है, जिसका सकल्प शक्तिशाली होता है। महासती को दीक्षा की स्वीकृति मिल गई।

दीक्षा के पश्चात् केशलुंचन की विधि सपन्न होती है—पुरुष की आचार्य द्वारा और स्त्री की मुखिया साध्वी द्वारा। जयाचार्य ने सोचा—यह साध्वी भविष्य में साध्वियों का नेतृत्व करने वाली होगी। इस दृष्टि से उनके केशलुंचन की विधि किसी साध्वी से नही करवाई। उनके केशलुंचन की विधि उन्ही के हाथों से सम्पन्न करवाई।[2]

जयाचार्य ने उन्हे साध्वी संघ का नेतृत्व सौंप दिया। वे बहुत बुद्धिसम्पन्न थी। अनेक साधु भी उनसे परामर्श करते थे।[3] साध्वियो ने स्वेच्छा से उनकी निश्रा स्वीकार की।[4] वे प्रवर्तिनी की कक्षा मे पहुच गईं। साथ,

---

१ अमरगाथा [सरदारसुजश २।११,१२]

केइ वर्ष उन्हाल मे, सामायिक नित्य नार।
चिहु चिहु करणो तावडे, एहवो वर्धो उदार॥
शीतकाल निशि पाछली, नित्य तीन [illegible] माहि।
एक ओढ़णा उपरत ओढ्यो नही, केई वर्ष [illegible] ताहि॥

२. वही, [सरदारसुजश, ढा० ६।दो ६,२०]

जीत विचारे ए सती, काल अनागत माहि।
अवर भाग्य भारी दिशा, हुती दीसै ताहि॥
तिण कारण निज हस्त [illegible], [illegible]।
सती भणी [illegible], [illegible]॥

३. वही, [सरदारसुजश, ढा० ११।दो. १३,१४]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

४ वही, [सरदारसुजश, ११।३८]

[illegible]
[illegible]

भी उनका बहुत आदर करते थे। वे साधु-साध्वियों की आवश्यकता का बहुत ध्यान रखती थी। सभी बड़े पद मिल जाएं और गर्व न हो, यह बड़ी बात मानी जाती है। उनका संघ में भारी सम्मान था, फिर भी उनके मन में कोई गर्व नही था। जनता इसका अनुभव कर रही थी।[1] मातृ-हृदया साध्वीप्रमुखा सरदारांजी को जनता 'जननी' कहती थी। साधु भी उन्हे चन्दनबाला की उपमा से उपमित करते थे।[2] जयाचार्य उन्हें आज्ञा दी कि साधु-साध्वियों को तुम जो चाहो वह वस्तु दे सकती हो। उनमें दान की प्रबल भावना थी। उदारचेता साध्वीप्रमुखा साधु-साध्वियो की हर सेवा में तैयार रहती थी।[3] जयाचार्य ने उनकी सेवा और सहयोग का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। वे अपनी दानशीलता के कारण छोटे-बड़े सभी के लिए आधारभूत बन गई थी।[4] वे जयाचार्य के शासनकाल में स्वर्गवासी हो गई। आचार्यवर ने उनके व्यक्तित्व का बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रण

---

१. अमरगाथा [सरदारसुजश, ११।३६,४२]

प्रवर्त्तिनि सम प्रत्यक्ष पेखो, पचम काल मझारो।
सत तिके पिण तोल सती नो, राखै अधिक उदारो॥
समणी सत भणी अति तीखो, पोप सती नो भारी।
वहु जन भाखै कुडब इसो पिण, गर्व न दीसै लिगारी॥

२. वही, [सरदारसुजश, १२।६]

शासण भार धुरधरू, जननी जिम कहै जन्न।
मुनि पिण चदणवाल नी, दै ओपम कहै धन्य॥

३. वही, [सरदारसुजश, ढा० १३।दो १,२]

आज्ञा जय गणपति तणी, सती भणी सुखदाय।
सत अनैं सतिया भणी, दीजै तुज चित्त चाह॥
दान धर्म नवमो कह्यो, जती धर्म रे माय।
ते गुण अधिक सती मझै, देख्या आश्चर्य पाय॥

४. वही, [सरदारसुजश, १३।२८]

लघु वृद्ध प्रमुख मुनि अज्जा, सगला नैं आधारो जी।
दान धर्म नो लाभ इसी विधि, लेवै सती उदारो जी॥

किया है।[1]

जयाचार्य ने अनेक व्यक्तियों को प्रतिष्ठित किया। उनमे विद्यमान शक्तिवीजो को प्रस्फुटित होने का अवसर दिया। उनकी समस्याओ को समाधान दिया। उन्हे गतिशील वनाया। अपने व्यक्तित्व का निर्माण एक वात है। दूसरो के व्यक्तित्व का निर्माण दूसरी वात है, पहली से सर्वथा भिन्न वात है। दूसरों के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले वहुत कम लोग होते हैं। जयाचार्य उन कम लोगों मे से एक प्रमुख व्यक्ति थे। उनकी अनेक कला-कृतिया हैं। उनमें सवसे वड़ी कलाकृति है—आचार्य मघवा।

---

१. अमरगाथा [सरदारसुजश, १५।५२-५८]

प्रवर्त्तिनी सम पचम आरे, महासती सिरदार।
हिवडा तो दीसै नही एहवी, याद करे नर-नार ॥
चिमत्कार कीधो इण आरे, वान्न धर्म उद्योत।
बाह्य अभ्यतर द्रव्य भाव करि, घण घट पा री जोत ॥
गुणवती नै महिमावती, जसवती फुन जोय।
पुण्यवती नै विनयवती अति, लजवती अवलोय ॥
गर्व भणी अति सावाकारी, भारी बुद्धि भडार।
गण हितकारी सील सुधारी, शासण री सिणगार ॥
महासती देखी ए तिण नै, याद घणी आवत।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

३७

श्रवण, मनन और निदिध्यासन

हम शब्दों के संसार में जीते है इसलिए बहुत सुनते हैं, मनन कम करते हैं। जितना मनन करते है उससे बहुत कम निदिध्यासन करते है। सफलता का रहस्य है श्रवण, मनन और निदिध्यासन का समन्वय। जो एक या दो पर रुक जाता है वह सफलता के शिखर तक नही पहुंच पाता। जयाचार्य की सफलता का यही रहस्य है कि उनकी श्रुत-यात्रा में अर्धविराम मिलते हैं, पूर्णविराम कहीं भी नही मिलते। उन्होंने ग्यारह वर्ष की अवस्था में 'संतगुणमाला' की रचना की। एक बार उन्होंने लघुपात्र पर रंग-रौगन किया। वह बहुत आकर्षक बना। वे उसे अपने आचार्य ऋषिराय को दिखाने गए। उस समय महासती दीपांजी ने व्यंग की भाषा में कहा—'यह हमारा काम है। हमारी साध्विया खूब अच्छा काम करती है। इसमें आपकी क्या विशेषता है ? आप कोई नई रचना कर, कोई नया ग्रंथ लिखकर आचार्यवर को दिखाते तो मुनिजी ! आपकी विशेषता होती।' महासती के इस व्यंग ने मुनि जीतमल की सुप्त मेधा को जगा दिया। उन्होने सतरह वर्ष की अवस्था में निशीथ सूत्र का पद्यानुवाद किया। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश। यह वहुत गूढ़ अर्थ वाला प्रायश्चित्त सूत्र है, इसीलिए इसका नाम निशीथ रखा गया है। इतनी छोटी अवस्था में उसका पद्यानुवाद कर उन्होंने अपने भविष्य को वर्तमान के दर्पण मे प्रतिविंवित कर दिया। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होने प्रज्ञापना के प्रथम पद का पद्यानुवाद किया। प्रज्ञापना तत्त्वविद्या का गहन-गंभीर सूत्र है। उसका आंशिक पद्यानुवाद कर उन्होंने अपनी तत्त्ववेत्ता की प्रतिमा को अनावृत कर दिया।

साहित्य-सृजन एक साधना है। इसके पीछे ज्ञान की आराधना का बल होता है तब वह और अधिक तेजस्वी बन जाती है। जयाचार्य स्वाध्याय-योग के महान साधक थे। वे ग्रंथों का पारायण करते रहते थे। अनेक ग्रंथ उनके कंठस्थ थे। वे ग्रंथों को पढ़कर भी उनका पारायण करते और कंठस्थ ग्रंथो का दिन-रात पारायण चलता ही रहता। पवित्र शब्दों की तरंगों ने उनके आसपास एक शक्तिशाली आभामंडल निर्मित कर दिया। वे संकल्प-सिद्ध और वचन-सिद्ध हो गए। जप की महिमा में पहले संदेह किया जा सकता था, किन्तु पराध्वनि की खोजो के बाद अब उसमें संदेह का अवकाश ही नही है।

स्मृति और मेधा

स्मृति इंद्रिय और बुद्धि का मध्य सेतु है। इंद्रिय द्वारा विषय का बोध होता है और बुद्धि द्वारा उसका विवेक व विश्लेषण। स्मृतिकोष्ठ प्रबल होते है तब ज्ञात का विवेक हो जाता है। विस्मृति होने पर न विवेक हो सकता है और न विश्लेषण। आज का विद्यार्थी स्मृति के मामले में बहुत संपन्न नहीं है। पुराने विद्यार्थी की स्मृति बहुत प्रखर होती थी। जयाचार्य स्मृति-शक्ति से संपन्न थे। उन्होने हजारों-हजारों पद्य कंठस्थ किए। कंठस्थ ग्रंथों की तालिका इस प्रकार है —

आगम सूत्र

१. आवश्यक
२. दशवैकालिक
३. उत्तराध्ययन
४. आचारचूला
५. प्रज्ञापना के प्रथम दस पद
६. आगमों के मुक्त पाठ—सहस्र-सहस्र ग्रंथ परिमाण।

व्याकरण और कोश

१. सारस्वत का पूर्वार्ध
२. चंद्रिका का उत्तरार्ध
३. नाममाला (शब्दकोष)
४. भट्टी (व्याकरण)

उनकी स्मृति जितनी प्रबल थी, उतनी ही प्रखर [illegible]
[illegible]। स्वाध्याय के द्वारा वह और अधिक [illegible]

[illegible]

पारायण, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा उनके जीवन का प्रमुख कार्यक्रम था। उन्हें 'स्वाध्याय पुरुष' कहा जा सकता है।

स्वाध्याय व्यक्तित्व का निर्माण-सूत्र है। विश्व के अनेक महापुरुष इसके द्वारा साधारण से असाधारण बने है, उत्कर्ष के शिखर तक पहुंचे है। जयाचार्य ने जैन परम्परा के सुप्रसिद्ध बत्तीस आगामों का अनेक बार पारायण किया। निर्युक्ति, प्रकीर्णक, टीका आदि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों तथा आचार्य भिक्षु की रचनाओं का अनेक बार स्वाध्याय किया। भरतबाहुबली आदि काव्य,कोश,छंद-शास्त्र औरअलंकार-शास्त्र,सभा-प्रकाश आदि साहित्य-ग्रंथ, योग-शास्त्र, व्याख्यान, कथा-साहित्य आदि उन्होंने पढ़े। आगम सूत्रो व आचार्य भिक्षु के ग्रंथों के अतिरिक्त लाखों श्लोक-प्रमाण साहित्य के वे अध्येता थे।[1]

परिवर्तना और अनुप्रेक्षा

कंठस्थ ग्रंथों को दोहराना है परिवर्तना और अर्थ का अनुचिंतन है अनुप्रेक्षा। जयाचार्य एकान्त में बैठ परिवर्तना और अनुप्रेक्षा में लीन हो जाते। बाहरी ध्वनि से एकाग्रता भंग न हो, इस दृष्टि से कानों में रूई के फाहे डाल लेते। अनुश्रुति है कि कभी-कभी कानों में काष्ठशलाका का भी प्रयोग करते। स्वाध्याय का क्रम एक साथ तीन-तीन घंटा तक चलता रहता। सं० १९३० के वैशाख में बीदासर में पधारे। वहा शरीर अस्वस्थ हो गया। चातुर्मास-प्रवास वही हुआ। कुछ स्वस्थ हुए तव परिवर्तना का विशेष प्रयोग शुरू किया। उसकी तालिका इस प्रकार हैं :—

संवत्		श्लोक सख्या
१९३०	आश्विन शुक्ला एकादशी से आषाढ़ी पूर्णिमा तक	४,६२,९००
१९३१	श्रावण कृष्णा १ से आषाढ़ी पूर्णिमा तक	५७६७५८
१९३२	,, ,, ,, ,,	८११६००
१९३३	,, ,, ,, ,,	१९९४०००
१९३४	,, ,, ,, ,,	१३२०४००
१९३५	,, ,, ,, ,,	१३६१६५०
१९३६	,, ,, ,, ,,	१४३७९५०
१९३७	,, ,, ,, ,,	११२१०००
१९३८	आपाढी पूर्णिमा से श्रावण सुदी १ तक (१६ दिनो में)	८११९२

१. ते. आ. ख. २ पृ. २०३ [जयसुजश, ६७।२६, ३०-३२]

सात वर्ष, नौ महीने और इक्कीस दिन में कुल मिलाकर छियासी लाख, सड़सठ हजार, चार सो पचास श्लोको का पुनरावर्तन किया। उनका अतिम जीवन केवल स्वाध्याय का जोवन था। स्वाध्याय उन्हे बचपन से ही प्रिय था। जीवन की संध्या में वह प्रिय से अभिन्न वन गया। वे षष्ठीपूर्ति होते-होते मुनि मघवा को अपना उत्तराधिकारी चुन गणचिता के कुछ भार से मुक्त हो गए। अंतिम नो वर्षो में वे गणचिता से मुक्तवत् होकर केवल स्वाध्याय-ध्यान मे ही लग गए थे।

ग्रंथ-पारायण के साथ मनन चलता रहता। वे आगम-श्रुत के पारगामी विद्वान् थे। उत्तराध्ययन जैन आगमो मे [illegible] ग्रंथ माना जाता है। उन्होने उसे कठस्थ किया, उसके वडे भाग का पद्यानुवाद किया। वे हजारों बार उसका पारायण कर चुके। गहन अन्धकार वाली रात्रि के समय जैसे आकाश में तारे चमकते है, वैसे ही पारायण करते-करते चिदाकाश में कोई तारा चमक उठता। वे अपने युवाचार्य मघवा से कहते 'मघजी! आज उत्तराध्ययन मे एक नया रत्न मिला है।' उन्हे नए-नए रत्न जीवन-भर मिलते रहे। रत्न उसी को मिलता है, जो मनन करता है। यह रत्नगर्भा है हमारी पृथ्वी। यह वसुधरा है हमारी पृथ्वी। इसमे रत्नो की कमी नही है। पग-पग पर निधान है, पर है उसी के लिये जिसे मनन की आंख [illegible] आती है।

मनस्वी की जिज्ञासा अनन्त हो जाती है। [illegible] कभी समाप्त नहीं होता। जयाचार्य ने ऋषिराय से [illegible] सूत्र कठस्थ करना चाहता हूं। ऋषिराय ने [illegible] फिर क्या कठस्थ करोगे। [illegible]

[illegible]

हैं। वे विभिन्न लोकगीतों और रागिनियों में गाई जाती है। तत्त्वविद्या की गहन गुत्थियों को सुलझाने वाला यह ग्रंथ संगीत के स्वरों में गुफित है। यह कैसा विचित्र योग।[1]

जयाचार्य संगीतप्रिय थे। उनकी गद्य-रचनाएं भी कम नही हैं, पर पद्य-रचनाएं उनसे बहुत अधिक हैं। पद्य-रचनाओं में उन्होंने संगीत को प्राथमिकता दी। दोहों, सोरठों और कलसों (हरिगीतिका छंदो) के अतिरिक्त अनेक गीतों और रागिनियों का प्रयोग किया। उनका संगान श्रोता के मन को आह्लाद से आपूरित कर देता है।

भक्तिकाव्य

चौबीसी उनकी एक लघु कृति है। जैन परंपरा में चौबीस तीर्थंकर हुए। पहले भगवान् ऋषभ और अंतिम भगवान् महावीर। उस कृति में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। यह उनकी सवसे अधिक लोकप्रिय रचना है। प्रातः काल सैकड़ों-सैकडो गांवो और नगरों में हजारों कंठों द्वारा इस का संगान होता है। यह ध्यानयोग की विशिष्ट रचना है। ध्यान के मूल तत्व हैं—कायोत्सर्ग, सहिष्णुता और समता। आचार्यवर ने तीर्थंकरों की जीवन-चर्या में इन तत्त्वों का निरूपण किया है। भगवान ऋषभ कायोत्सर्ग, सहिष्णुता और समता के जीवंत प्रतीक थे। वे दीक्षित होते ही तपस्या में लग गए। पूरे एक वर्ष तक न भोजन किया और न जल पिया। कायोत्सर्ग की मुद्रा में ध्यानलीन रहे।[2] जिसे शरीर और चैतन्य का भेद-विज्ञान नहीं

---

१ भगवती सूत्र का पद्यानुवाद पाच वर्ष मे सपन्न हुआ। स. १९१९ आश्विन कृष्णा नवमी, गुरुवार, पुष्य नक्षत्र, सुजानगढ़ मे रचना का प्रारभ हुआ। उसकी सपन्नता स. १९२४, पोष शुक्ला दशमी, रविवार, वीदासर मे हुई।

२ आराधना [चौवीसी, १।२-५] पृष्ठ ६ :

अनुकूल प्रतिकूल सम सही, तप विविध तपदा।
चेतन तन भिन्न लेखवी, ध्यान शुकल ध्यावदा॥
पुद्गल सुख अरि पेखिया, दुख हेतु भयाला।
विरक्त चित विगटयो इसो, जाण्या प्रत्यक्ष जाला॥
सवेग सरवर झूलता, उपशम रस लीना।
निंदा स्तुति सुख दु.ख मे, समभाव सुचीना॥
वासी चदन समपणे, थिर चित जिन ध्याया।
इम तन सार तजी करी, प्रभु केवल पाया॥

होता, जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति को सह नही सकता, जिसका जीवन और मृत्यु के प्रति समान भाव नही होता, वह एक वर्ष तक आहार और जल को कैसे छोड़ सकता है ?

हमारा सबसे निकट का संबंध शरीर से है। हमारे व्यक्तित्व के दो मुख्य घटक है—चेतना और शरीर। हम दार्शनिक भाषा मे सोचते और बोलते हैं तब चेतना और शरीर को भिन्न कहते है। व्यवहार के धरातल पर शरीर चैतन्य पर इतना हावी है कि हम अपने अस्तित्व को शरीरमय ही अनुभव करते है। जो अभिव्यक्त होता है, जो क्रियान्वित होता है, उसका मूल आधार शरीर है। साधना के क्षेत्र मे उसे नौका कहा गया है, पर उसकी कुछ समस्याएं है—

- वह अनित्य है, नश्वर है।
- वह रोग से आक्रांत होता है।
- वह बूढ़ा होता है।
- वह कष्टानुभूति का माध्यम है।
- वह भूखा-प्यासा होता है।
- वह सर्दी-गर्मी से पीड़ित होता है।

इस शरीर का उत्सर्ग वही कर सकता है, जिसे चैतन्य का अनुभव हो जाता है। असहिष्णुता और विषमता—ये मानसिक समस्याएं है।

- मन चचल है।
- वह प्रभावित होता है।
- उसमे प्रतिक्रिया होती है।
- वह आवेगो का वाहक है।
- वह राग-द्वेष या प्रिय-अप्रिय संवेदनो का [illegible]
- उसमे अतीत की स्मृति और भविष्य [illegible]

इस परिस्थिति मे सहिष्णुता और समता [illegible] चेतना का अनुभव हो जाता है।

ध्यान मे रगो का बहुत महत्त्व है। [illegible]

[illegible]

श्याम वर्ण के, मल्ली और पार्श्व नील रंग के और शेष सोलह तीर्थंकर स्वर्ण वर्ण जैसे गौर थे ।[1]

क्रोध जीवन की सुन्दरता और मधुरता दोनों को नष्ट करता है। जिस जीवन में सुंदरता नही, वह कैसा जीवन ? जिस जीवन में मिठास नही, वह कैसा जीवन ? प्रभु वासुपूज्य कभी क्रोध नही करते थे, इसलिए उनकी वाणी में शर्करामिश्रित दूध जैसी मधुरता आ गई थी ।[2]

आचार्यवर ने प्रस्तुत कृति में 'अनुराग से विराग' के सिद्धान्त का अनेक बार उपयोग किया है। परम से प्रीति किए बिना काम की प्रीति नहीं छूटती। भगवान् अरिष्टनेमि की शिवरमणी से प्रीति जुड़ गई। राजीमती को उन्होंने छोड़ दिया। अप्रीति में राजीमती छोड़ी जाती तो वह उनके स्मृति-पटल पर बनी रहती। परमप्रीति होने पर उसे छोडा। उसे छोड़ने का अर्थ था उसमे अपने जैसे अनत चैतन्य का अनुभव। अनुभव की धारा से अभिषिक्त इस कृति का आध्यात्मिक मूल्य भी है और साहित्यिक मूल्य भी है।

जयाचार्य जितने बड़े तत्त्ववेत्ता थे, उतने ही बड़े लोकमानस के अध्येता थे। वे जनता की उपयोगिता को ध्यान में रखकर रचना करते थे। उनकी सामयिक रचनाओं में एक महत्वपूर्ण रचना है—आराधना। जीवन का मूल्य है और हम उससे परिचित है। मृत्यु का मूल्य जीवन से ज्यादा है और आश्चर्य है कि हम उससे परिचित नही है। जयाचार्य ने उससे परिचित कराने का प्रयत्न किया है। आराधना की रचना साधु-सस्था को या स्वयं को लक्ष्य में रख कर की गई थी, फिर भी उसकी गीतिकाओं का मूल्य सार्वभौम है। उसके संगान से चित्त की निर्मलता होती है, साथ-साथ शातरस और वीररस की अजस्र धारा प्रवाहित हो जाती है। इस कृति को

---

१. आराधना [चोबीसी, प्रवेश दोहा १०,११] पृ. ४ :

श्वेत वरण चद सुविधि जिन, पद्म वासुपूज्य लाल ।
मुनि सुव्रत रिठनेम प्रभु, कृष्ण वरण सुविशाल ॥
मल्लिनाथ फुन पार्श्व प्रभु, नील वरण वर अग ।
षोडश शेष जिनेश तनु, सोवन वरण सुचग ॥

२. आराधना [चोबीसी, १२।८] पृष्ठ १९ :

इन्द्र थकी अधिका ओपै, करुणागर कदेय नहीं कोपै ।
वर साकर दूध जिसी वाणी, प्रभु वासुपूज्य भजलै प्राणी ॥

मानसिक चिकित्सा का महाग्रंथ कहा जा सकता है। बीमारी मे पीड़ित और मृत्युशय्या पर सो रहे मनुष्य के चित्त को शाति देने वाला है, इसीलिए यह बहुत लोकप्रिय है।

जयाचार्य परिस्थितिवादी नही थे। एक दृष्टि है परिस्थितिवाद की। उसके अनुसार सब कुछ परिस्थिति से ही होता है। इसमे उपादान कुछ नही होता, निमित्त सब कुछ होता है। दूसरी दृष्टि है कर्मवाद या भाग्यवाद की। उसके अनुसार सब कुछ कर्म या भाग्य से होता है। इसमे उपादान सब कुछ होता है, निमित्त नहीं होता। तीसरी दृष्टि है समन्वयवाद की। उसके अनुसार घटना के घटित होने मे उपादान और निमित्त दोनो भागीदार होते है। अकेला कोई भी तत्त्व सार्वभौम शक्तिसपन्न नही होता।

जयाचार्य ने इस समन्वयवादी दृष्टिकोण के आधार पर निमित्तो को सम्यक् करने, व्यवस्था को सुधारने और उपादान को निर्मल बनाने का मार्गदर्शन दिया।

जयाचार्य विशुद्ध अर्थ में दार्शनिक साहित्यकार थे। उन्होने सृजनात्मक साहित्य भी लिखा था। साहित्य का वर्गीकरण सापेक्ष है। उसका उद्देश्य एक ही है। वह है जन-मानस को जागृत करना। चेतना का विकास और जागरण न हो, वह मूर्च्छित बनी रहे तब साहित्य की सार्थकता नही होती। साहित्यकार महान् उद्देश्य के लिए समर्पित होता है। वह सामयिक समस्याओ के साथ शाश्वत समस्याओ से भी अपना संपर्क बनाए रखता है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार सोल्जेनेत्सिन के शब्दो मे-- मानव मन, आत्मा की आंतरिक आवाज, जीवन-मृत्यु के बीच [illegible] [illegible] [illegible] की व्याख्या, नश्वर ससार में मानवता [illegible] सार्वभौम प्रश्नों से जुड़ा है साहित्यकार का दायित्व। [illegible] [illegible] से है और जब तक सूर्य का प्रकाश और मानव [illegible] साहित्यकार का दायित्व भी इन प्रश्नों से जुड़ा रहेगा।

जयाचार्य साहित्य के दीर्घंतपस्वी थे। [illegible] [illegible] का सतत प्रवाही निर्झर है। [illegible] [illegible] और सामाजिक समस्याओ [illegible] [illegible] [illegible]

भाषा में बहुत प्रस्फुटित हुआ है। उदाहरण-स्वरूप स्वसंबोधन के कुछ सोरठे प्रस्तुत हैं—

जीता ! जनम सुधार, तप-जप कर तन ताइयै।
खिण में ह्वै तन छार, दिन थोड़ा में देखजै ॥१॥
जीता ! निज दुख जोय, कुण-कुण कष्टज भोगव्या।
अब दिल में अवलोय, ज्यूं सुख लहिये सासता ॥२॥
वैरी मान बिखेर (जय) नरमाई गुण नीपजै।
हिवड़ै पर-गुण हेर, निज अवगुण सुण निंदमा ॥७॥
जय ! निज-आदि सुजोय, विविध पणै तू दुख लह्यो।
अल्प कठिन अवलोय, कोपै तू किण कारणै ॥८॥
भू सम जय ! गंभीर, निष्प्रकंप मंदर गिरी।
हेरै निज गुण हीर, ध्यान सुधारस ध्यान नै ॥१०॥[1]

परिस्थिति और घटना को संबोधन का माध्यम बनाना साहित्यकार का जन्मसिद्ध अधिकार है। जयाचार्य इस अधिकार का उपयोग करने मे नहीं चूकते थे। एक बार की घटना है। वे सुजानगढ़ में विराज रहे थे। नाहटा की हवेली की तीसरी मंजिल पर बैठे थे। पास मे कुछ साधु उपस्थित थे। नीचे रास्ते में दो कुत्ते आपस में लड रहे थे। दोनों आक्रमण की मुद्रा बनाए बहुत जोर-जोर से भौंक रहे थे। आसपास की शांति भंग हो रही थी। उस समय जयाचार्य का कवि-पुरुष बोल उठा। साधुओं को संबोधित कर एक शिक्षापद कहा—

'नही ज्ञान अरु ध्यान, काम-काज पिण को नही।
ते कूकर सम जाण, फिरै चरै कलहो करे ॥'

जयाचार्य विनोदप्रिय थे। कभी-कभी विनोद के क्षणो में उनका कवित्व स्फुरित हो जाता था। मोतीजी तेरापंथ के यशस्वी साधु थे। उन्होंने छोटी अवस्था में पाली में मुनि-दीक्षा स्वीकार की थी। वे जयाचार्य के आगे चल रहे थे। चलते समय भूमि को देख कर चलने की विधि होती है। वे विधिवत् नही चल रहे थे। उसी समय जयाचार्य ने एक कविता रची—

'मोतीजी रंगीलो साधू, चालै आटो-आंटो।
ईर्या सुमति पूरी नही सोधै, नहीं बतावै कांटो ॥

१. आराधना [अध्यात्म पदावली—आत्म-संबोध] पृ० १०५

ओ तो मोतीड़ो साधो, म्हानै पाली माहै लाधो।
ओ तो लक्खासर रो डागो, म्हानै पाली माहै लाधो॥'

सहज कविता प्रसंग से जुड़ी होती है। वह भीतरी हो या बाहरी। प्रसगशून्य कविता में प्राण नही होता। वह केवल शब्द-जाल होती है। कवि प्रसंग का लाभ उठाकर अपने अन्तर्भाव को शब्दो में गूथ देता है। उसमें प्राण-शक्ति होती है और वह दूसरो मे भी प्राण फूक देती है। जयाचार्य पाली चातुर्मास संपन्न कर लाडणू की ओर आ रहे थे। वहा उनके ससार-पक्षीय बड़े भाई मुनि सरूपचन्दजी प्रवास कर रहे थे। वृद्ध अवस्था के कारण उनकी शक्ति कम हो गई थी। जयाचार्य उनसे मिलना चाहते थे। पाली से प्रस्थान कर सिरियारी, कंटालिया और बगड़ी पहुचे। आचार्य भिक्षु उनके इष्ट है। कंटालिया आचार्य भिक्षु की जन्म-भूमि, बगड़ी दीक्षा-भूमि और सिरियारी उनकी निर्वाण-भूमि है। तीनो पवित्र भूमियों का स्पर्श कर वे रामपुर पहुंचे। रात्रि-प्रवास के समय उन के पास आठ साधु थे। उनके नाम ये है—१. मघराज २. कर्मचद ३ अनोपचंद ४ मोतीजी ५ अनाम ६. रत्न ७. मुनिपत ८ बीजराज।

आचार्यप्रवर ने प्रत्येक साधु को एक-एक सोरठा रचकर शिक्षा-संबोध दिया।[1] वह मार्मिक और हृदय को छूने वाला है। उस प्रसंग में उन्होंने

---

१ जे. आ प २, पृ १५२ [जयनुजश, ५०]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

प्रोत्साहन मिला। मघराजजी उनके उत्तराधिकारी वने और सभी साधु वने संघ की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले यशस्वी और तपस्वी।

जादू का चमत्कार किसी ने न देखा हो वह देख सकता है शब्दों के जादू का चमत्कार। साहित्य ने जनमानस को जितना आंदोलित किया है, उतना कोई भी जादू नही कर पाया। शब्द की शक्ति भावना की शक्ति से शतगुणित हो जाती है। आज का साहित्यकार इस रहस्य को कम जानता है। प्राचीन युग का साहित्यकार इसे बहुत गहराई से जानता था, इसीलिए वह मंत्र का विकास करने मे सक्षम हो सका। बालमीकि रामायण का पारायण होता है, तुलसी रामायण का पारायण होता है, स्तुति-स्तोत्रों और शांति-पाठों का पारायण होता है। वह इसीलिए होता है कि उनमें शब्द-शक्ति और भावना की शक्ति का समन्वय है। जयाचार्य में श्रद्धा और भावना की अपूर्व शक्ति थी, इसलिए उनके शब्दों में विचित्र शक्ति का आविर्भाव हुआ था। कुछ घटनाओं से उनके साहित्यिक मंत्र-चैतन्य का अंकन किया जा सकता है।

सं० १९१२ की घटना है। जयाचार्य कंटालिया में विहार कर रहे थे। कंटालिया आचार्य भिक्षु की जन्मभूमि है। उसके साथ उनका आकर्षण-भाव जुड़ा हुआ था। उन दिनों डकैती और लूटपाट बहुत चलती थी। फौज द्वारा गांव को लूटने की आकस्मिक सूचना मिली और वह सारे गाव में फैल गई। गांव के लोग घवड़ा गए। जयाचार्य को इस स्थिति का पता चला। उन्होंने लोगो को आश्वस्त करते हुए कहा—हम आचार्य भिक्षु की जन्मभूमि में हैं, उनकी शरण में है। उनका नाम सव विघ्नों को हरने वाला है। फिर यहां कोई विघ्न कैसे होगा? आप सव निश्चित रहें। उन्होंने वसत पंचमी के दिन सिरियारी मे एक गीतिका वनाई और माघ शुक्ला चतुर्दशी, पुष्य नक्षत्र के दिन विघ्नहरण के रूप में उसकी स्थापना की। उसका संगान जैसे ही शुरू हुआ, लोग लुटेरो के आने की वात भूल गए, उस संगान में तन्मय वन गए। संगान पूरा हो ही रहा था तव दूसरी सूचना मिली कि फौज के लुटेरे गाव मे आते-आते रुक गए और पता नहीं कैसे उनका मन वदला, वे वापस मुड़ गए और आगे वढ़ गए। गांव का संभावित उपद्रव टल गया। सव लोग खुशियों में झूमने लगे। 'विघ्नहरण की ढाल' आज भी वहुत प्राभाविक मानी जाती है। विघ्न-

निवारण के लिए इसका वहुत प्रयोग होता है। इसमे 'अ० भी० रा० शि० को०' यह वीजमंत्र है। इसका संवंध अमीचन्द, भीमराज, रामसुख, शिवराज और कोदरजी—इन पांच तपस्वी साधकों से है। जयाचार्य मत्र-साधना के मर्मज्ञ थे। उनकी अज्ञात शक्तियो मे वहुत आस्था थी। वे उनके साथ परोक्ष या प्रत्यक्ष संपर्क साधे हुए थे। उन्होने अपने भक्ति-काव्यो मे इसकी अनेक वार चर्चा की है। उनकी रचनाओं मे इसके सकेत और रहस्य भरे पडे हैं। कुछ पकड़े जा चुके है और कुछ अभी भी पकड़ मे नही आ रहे है। उन्होंने अपने संकेतों के वारे मे स्वय लिखा है कि इस रहस्य को कोई जानने वाला ही जानता है, दूसरा नही जान सकता—

जाणे तिके नर जाणता, अवर न जाणै लिगारी।
धर्म उद्योत करण धुरा, निरवद्य कारज सारी।
आणा तास मझारी॥[1]

चंद्रप्रज्ञप्ति सूत्र की दूसरी गाथा एक शक्तिशाली मंत्र या मंत्रो का समूह है। जयाचार्य ने लिखा है—यह विघ्नहरण की ढाल चंद्रप्रज्ञप्ति की दूसरी गाथा जैसी है। यह अधिष्ठायक शक्ति से अधिष्ठित है।[2]

सं० १९१४ का वर्षावास वीदासर में संपन्न हो रहा था। जयाचार्य अपना प्रवास 'वैगानियो की पुरानी पोल मे' मानमलजी जैचंदलालजी वैगाणी की हवेली में कर रहे थे। कार्त्तिक शुक्ला दशमी को वहा एक अप्रत्याशित घटना घटित हुई। वह ऐसी घटना है, जिस पर विश्वास करना कठिन है। अनेक मुनि उस घटना के साक्ष्य थे, उनका भोगा हुआ यथार्थ था, इसलिए उस पर अविश्वास भी नहीं किया जा सकता।

---

१. बीजगाथा [सतगुणमाला, ८।२७]।

२. वही, [सतगुणमाला, ८।२१]।

चंदपण्णत्ती सूत्र नी, गाथा द्वितीय [illegible]।
तिमहिज भजन ए [illegible], अधिष्ठायक [illegible],
[illegible]

इसके अनुसार [illegible] है—

[illegible]

जयाचार्य अपने साधुओं के साथ जिस कमरे में विराज रहे थे, उसकी छत से अंगारे बरसने लगे। सब साधुओं को लगा कोई उपद्रव है। हो सकता है, कोई प्राकृतिक प्रकोप हो। इसे किसी प्रेत आत्मा का उपद्रव भी माना जा सकता है। यह भी हो सकता है कि वह जयाचार्य द्वारा किए जाने वाले मंत्र-जप की प्रतिक्रिया हो। कुछ भी हो, अंगारे बरसे, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। उस समय जयाचार्य अप्रभावित रहे। उन पर उस घटना का कोई प्रभाव नहीं हुआ। शेष सब साधु अचेत हो गए। जयाचार्य ने तत्काल एक गीतिका रची। उसका शीर्षक है—'मुणिद मोरा भिक्षु नै भारीमाल।' पूरी तन्मयता के साथ सस्वर उसका उच्चारण किया। देखते-देखते उपद्रव शांत हो गया। साधुओं की मूर्च्छा टूट गई।

इस गीतिका में जयाचार्य ने अपने इष्ट के प्रति हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त की है और साथ-साथ अन्य अनेक शक्तिशाली साधकों का स्मरण किया है। आचार्य भिक्षु और भारीमाल के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित थे। उन्होंने श्रद्धासिक्त भाव से लिखा—

मुणिद मोरा भिक्षु नै भारीमाल, वीर गोयम सी जोड़ी रे, स्वामी मोरा।
अति भली रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा चौथा आरा नी चाल, विविध मर्यादा बांधी रे, स्वामी मोरा।
निरमली रे, मोरा स्वाम॥[1]

जयाचार्य ने कुछ देवियों का शासन-सहायिका के रूप में उल्लेख किया—[2]

मुणिद मोरा शासण महासुखकार, अमरसुरी अधिष्ठायक रे, स्वामी मोरा।
सहायका रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा दवदंती जयवंती सार, अनुकूल वली इंद्राणी रे, स्वामी मोरा।
दायिका रे, मोरा स्वाम।

यह उल्लेख कोई आकस्मिक नहीं है। इस प्रकार का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है—[3]

---

१. कीर्तिगाथा [स्तुतिगीत, २४।१]।
२. वही, [स्तुतिगीत २४।१२]।
३. वही, [विघ्नहरण, २२]।

दवदंती सूरी दीपती, जयवंती जशधारी।
इंद्राणी सूरी आद दे, साहज करण सुखकारी।
पुण्यवंती प्यारी ॥

जयाचार्य शासनदेवी का वार-वार उल्लेख करते है, पूरे आत्म-विश्वास के साथ और साक्षात्कार की भाषा में —[1]

शासन-सुरी सुहामणी, अद्‌भुत रूप अनूप।
ते पिण संत-सत्या तणा, पग प्रणमै धर चूंप।
कोमल कल्पलता समी, कर्णाभरण सुकत।
हिय छायो हारे करी, रत्नतिलक झलकंत ॥
वाजूबंध अरु बहिरखा, काकण रत्न जडंत।
पग नेउर अरु घूघरी, झिण झिणकार करत ॥
आगुलिया दश मुद्रिका, कड़ि कंदोरो सार।
नकवेसर हद नाक में, देख्या हर्ष अपार ॥
कडी मेखला रत्न नी, हाथ रत्न नी माल।
पहिरण चीर शोभे रह्यो, नानाविध सिणगार ॥
एहवी सुरी सुहामणी, शासण नी अधिष्ठात।
निश दिन चिंता तेहनै, सुखदाई साख्यात ॥
असिआउसा भक्त से, इन्द्रादिक हरसंत।
वचन-शूर शासण-सुरी, परतख ही परन्त ॥

जयाचार्य अड़सठ वसंत पार कर चुके थे। बीदासर म [illegible] १९२९ की वैशाख शुक्ला छठ का दिन। अकस्मात् मू[illegible]-निरोध हो गया। वैद्यों ने चिकित्सा की, अनेक उपचार किए, पर कोई लाभ नहीं हुआ। [illegible] विषम बन गई। जीवन और मृत्यु का संघर्ष छिड़ गया। [illegible] प्राप्त हो गई। जयाचार्य ने देखा, कोई उपचार काम नहीं [illegible] उन्होंने अपना उपचार शुरू किया। उस भयंकर वेदना [illegible] उन्होंने एक गीतिका का सृजन कर उसका संगान शुरू [illegible] प्रकार है —

'भिक्षु म्हारे प्रगट्या जी भरत [illegible]।
न्यारो [illegible]'

[1] [illegible]

उसके ग्यारह पद्य है।[1] जैसे ही अंतिम पद्य का संगान पूरा हुआ वैसे ही मूत्रावरोध मिट गया। एक बड़ा संकट टल गया। समूचा वातावरण हर्षोल्लास से उल्लसित हो गया। कुछ अन्य गीतिकाओं में भी विघ्न शान्त होने और उपद्रव मिटने के संकेत मिलते हैं, पर उनके साथ जुड़ी हुई घटनाए आज ज्ञात नही है। सं० १८६६, भाद्रपद चौथ की एक रचना[2] में उन्होंने लिखा है—मैने आपके नाम का स्मरण किया। मेरे सारे उपद्रव मिट गए।

प्राणी रे मनोहर मुद्रा प्यारी, थारी सूरत री बलिहारी लाल ॥६॥
प्रा० तुम भजन करूं निश दिन में, स्वामी आप वस्या मुज मन में॥७॥
प्रा० तुम नामे संकट टलियै, सुख संपति सुदर मिलियै॥८॥
प्रा० मणिधारी आप उजागर, सुखकारी गुण रा सागर॥९॥
प्रा० म्हे हंस करी गुण रटिया, तुम नामे उपद्रव मिटिया॥१०॥
प्रा० कोइ भूत प्रेत दुखदाई, तुज भजन थकी टल जाइ॥११॥
प्रा० जाप जपू नित तेरो, मनवंछित पूर्ण मेरो॥१२॥

सं० १९०७ के वर्ष में जयाचार्य जोबनेर (राजस्थान) में प्रवास कर रहे थे। वहां कोई घटना घटित हुई। उसे लक्षित कर उन्होंने दो गीतिकाओ की रचना की। उनमें संकेत है कि उपद्रव शांत हो गया।[3]

---

१. कुछ पद्य बहुत ही मार्मिक बन पडे है। परिस्थिति-विशेष मे रचित रचना साधारण रचना की अपेक्षा अधिक अ त:स्पर्शी होती है—

भिक्षु म्हारे प्रगटया जी भरत खेतर मे।
ज्यारो ध्यान धरू अ तर मे। ध्रुवपद॥
देश देश ना लोक आपनो, समरण कर रह्या उर मे॥ १॥
मन्त्राक्षर सम नाम तुम्हारो, विघ्न मिटे घर-घर में॥ ३॥
सांप्रत काले स्वामगण पायो, आयो चितामणि कर मे॥ ७॥
आप आचारज महा उपगारी, कल्पवृक्ष जिम तर मे॥ ८॥
भिक्षु भारीमाल ऋषिराय प्रसादे, जयजश सुखमदिर मे॥ ११॥
(कीर्त्तिगाथा, स्तुतिगीत, ३८)

२. कीर्तिगाथा [स्तुतिगीत, ६]।

३. (क) वही, [स्तुतिगीत, १७।१०]
(ख), वही स्तुतिगीत, १८।७)

हो जी हू तो जोवनेर में पायो परमानद जो
रटियां रे स्वामी मह उपद्रव मिट गया रे लो॥ १॥
उगणीसे साते समे रे मुनि, जोवनेर जयानद
चेत सुदि एकम दिने रे मुनि, दूर थया दुखधद॥ २॥

मीरां के मन में गिरधर गोपाल के दर्शन की जो उत्कट लालसा थी, वही उत्कट लालसा थी जयाचार्य के मन मे आचार्य भिक्षु के दर्शन की। वही प्रीत और वही मीत। आचार्य भिक्षु उनके इष्ट है। उनके वश मे है। वे सपने मे आते हैं, प्रश्नों का उत्तर देते है, बातचीत करते हैं, पर साक्षात् नहीं होते। इसलिए साक्षात्कार की तड़प और प्रबल हो जाती है। जयाचार्य भी अंतर् प्यास की अकुलाहट में गाते है—

'म्हारै भिक्षु ऋषि सू, लागी पूरण प्रीत।"[1]

स्वप्न-दर्शन और प्रश्नोत्तर की स्थिति अनेक वर्षो की अनवरत साधना के पश्चात् निर्मित हुई। इससे पूर्व वे उनके दर्शन और प्रश्न पूछने का स्वप्न संजोते है। उनकी अनेक रचनाओ मे वह स्वप्न मुखरित है।[2] उनका

---

१ कीर्तिगाथा [स्तुतिगीत, १७]

हो जी म्हारे भिक्षु ऋषि सू लागी पूरण प्रीत जो,
जीवड़ो रे ललचाणो स्वामीजी सू ओलगे रे लो ॥ १ ॥
हो जी म्हारे स्वामी गरीबो गुण छै दुनिया माहि जो,
देखण रो मुज मनड़ो अधिको उमगे रे लो ॥ २ ॥
हो जी मोनें विविध प्रश्न रा उत्तर अधिक उदार जो,
देवे रे अति हर्ष धरी नै अभिनवा रे लो ॥ ३ ॥
हो जी हू तो सुपने सुरत पेख्या परमानंद जो,
पावे रे अति हर्ष पेण सुपिना मका रे लो ॥ ४ ॥
हो जी मन उलसै प्रत्यक्ष करवा दीदार जो।
मन रा रे मनोरथ [illegible] रे लो ॥ ५ ॥

२. (क) वही, [स्तुतिगीत, २१४]

[illegible]
[illegible]

(ख) वही, [स्तुतिगीत, ६१८]

[illegible]
[illegible]

(ग) वही, [स्तुतिगीत, ४१०-६]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

स्वप्न फलित हो गया। उन्होंने कहा—स्वप्न में आपकी सूरत देखने और वचन सुनने से हर्ष होता है तो साक्षात् दर्शन और श्रवण से कितना हर्ष होता है, वह बताया नहीं जा सकता[1]—

स्वप्ने सूरत देख्यां हर्ष, सुण्या वचन उदारी।
तो प्रगट नो किसू कहिवो, आप जबर उपगारी।।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के साक्षात्कार की स्थिति तक पहुच गए थे, यह आभास मिलता है। उन्होंने वचपन से ही एक श्रद्धा का निर्माण किया था। वह प्रगाढ होते-होते मूर्तिमान वन गई, साक्षात्कार की स्थिति तक पहुंच गई। यह रहस्यमय जगत् है। इसे ध्यान और समाधि का अभ्यासी ही जान सकता है। जयाचार्य का वह वचन अनुभव का वचन है कि आचार्य भिक्षु जयाचार्य के लिए सब कुछ थे। उनके नाम-स्मरण मात्र से वे रोमाचित हो जाते थे।[2] आचार्य भिक्षु से उन्हें कोई संकेत मिला और वह पूरा हुआ। उससे श्रद्धा को और अधिक बल मिला। उन्होंने लिखा—'स्वामी! आप उजागर है। आपका विरुद बड़ा है। आपने थोड़ा कहा और बहुत निभाया।[3] यह कितना आश्चर्य! आपने पूरी प्रीत निभाई है। आपने मेरे मनोरथ पूरे किए। कम कहा और अधिक कर दिखाया था।[4] स्वामी! आपने सब पर कृपा की और लोगों की आंतरिक आंखे खोल दी। मुझ पर आपने परम उपगार किया। मुझे आपने गहन ज्ञान दिया।[5]

---

१. कीर्तिगाथा [स्तुतिगीत, ३७।४]

२. वही, [स्तुतिगीत, १।५]

सूरत मुद्रा सोहनी, श्याम वर्ण सुहाया हो।
याद आया हीयो हूलसै, रोमाचित हुवै काया हो।।

३. वही, [स्तुतिगीत, २।५,६]

आप उजागर विडद निभावण, सुमता रस थी भर्‌यो री।
किंचित कहि नै वहुत निभायो, ए विड़द वडा नो धर्‌यो री।।

४. वही, [स्तुतिगीत, २०।६]

पवर मनोरथ मांहरा, ते पूर्‌या तहतीक।
अल्प वचन गुण आगरु, रुडा अति रमणीक।।

५ वही, [स्तुतिगीत, ४४।५,६]

अधिक कृपा भविका पर कर नै, स्वामी थे तो खोल्या अभ्यतर नेण।
परम उपगार कियो मुझ ऊपर, स्वामी थे तो ज्ञान बतायो गहन।।

पाडव भीम जिसो ऋषि भीम थयो, गुण सागर ऋषि भारी।
उपगारी उद्यमी मुनिवर नैं, याद करैं नर-नारी ॥
स्वामी भीम ऋषि सुखकारी ॥
प्रीत निभावण भीम सरीखा, जग मे थोडा जीवा।
शुद्ध मन सेती समरण करता, खुलै ज्ञान घट दीवा ॥

(वही, ६।१०,११)

वृद्ध सहोदर जीत नो, जशधारी जयकारी हो।
लघु सहोदर सरूप नो, भीम गुणा नो भण्डारी हो।
सखर सुजश ससारी हो ॥
(कीर्त्तिगाथा, सतगुणमाला ८।७)

३. कोदरजी :

कोदर ऋषि करणी हद कीधी, छठम छठम अठम धार्‌यो।
सथारो दिन सात तणो भल, आतम काज सुधार्‌यो रे ॥
तपसी कोदर ऋषि सुखकारी ॥
विचारणा ऊडी बडभागी, वचनसूर वेरागी।
याद आया तन-मन हुलसावै, तपसी त्रिया त्यागी ॥

(वही, २।७,८)

४. मुनि खेतसीजी :

मुनि सुखदाई मिल्या सत-सत्या भणी रे, थे तो खेतसीजी गुणखान रे।
श्रमण प्रतिपालक संत-सत्यां भणी रे, स्वामी प्रत्यक्ष जनक समान रे ॥
विविध विनय सतयुगी तणें रे, तन-मन करैं साधा री सेव रे।
चित्त प्रसन्न कियो सतगुरु तणो रे, अलगो करि नैं अहमेव रे ॥

(वही, १२।४,५)

५. मुनि जशकरण :

'जशकरण' मुनि महा जशवतो, च्यारू जश विस्तार्‌यो री ॥

(वही, २।६)

जशकरण मुनि महा जशवतो, सुमति गुप्ति सुखकारी।
आचार्य पद आप आराध्यो, भजन करो नर-नारी ॥

(वही, ४।५)

६. मुनि रामसुख :

रामसुख रलियामणो, तेसठ उदक आगारी हो।
अड़सठ पैंतालीस भला, वलि उगणीश चौविहारी हो।
बड तपसी तपधारी हो ॥

(वही, सतगुणमाला ८।९)

७. मुनि शिव :

शिव वासी लावा तणो, तप गुणराशी उदारी हो।

आश्वासी निज आतमा, षट मासी लग धारी हो।
शीतकाल मझारी हो, सह्यो शीत अपारी हो ॥

(कीर्त्तिगाथा, सतगुणमाला ८।११)

८. मुनि दीप और मुनि जश

दीप गणी दीपक जिसा, जय जशकरण उदारी हो।
धर्म प्रभावक महा धुनी, ज्ञान गुणा रा भंडारी हो।
नित प्रणमै नर-नारी हो ॥

(वही, सतगुणमाला ८।२)

९. मुनि शंभु :

सेहर पादू रो शंभू संत बहु जाण के, सुर प्रत्यक्ष निजरां देखतो जी।
वर्ष निनाणूवे परभव कियो पयाण के, वल्लभ तीर्थ च्यार ने जी ॥

(वही, सतगुणमाला ८।४६)

१०. साध्वी सिणगारांजी :

सिणगाराजी मोटी सती, हरखूजी सुखकारी हो।
माता तास सुहामणी, अणसण चरण उदारी हो।
आराध्यो हितकारी हो ॥
हिम्मतवान सती हुती, व्यावच करण विचारी हो।
विघ्न हरण वच्छल करी, दिल सपति दातारी हो।
जय जश हर्ष अपारी हो ॥

(वही, सतगुणमाला ८।२४,२५)

११. साध्वी श्री कल्लुजी :

कल्लुजी री उत्तम करणी, प्रवर सुयश [illegible] पाया।
तीन पुत्र ने आप तर्‌या, जिन मारग [illegible] चढाया ॥
मास खमण षट वार किया तप, धारणी [illegible] प्रकार।
अनशन कर [illegible] संकट भाजै, पावे [illegible] पार ॥

(वही, [illegible])

अन्य मुनि :

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

मुणिद मोरा, तीजे पट ऋषिराय, खेतसीजी सुखकारी रे, स्वामी मोरा।
मुनि पिता रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, सम दम उदधि सुहाय, हेम हजारी भारी रे, स्वामी मोरा।
गुण रता रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, जय जश करण जिहाज, दीप गणी दीपक सा रे, स्वामी मोरा।
महामुनी रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, गणपति मे सिरताज, विदेह क्षेत्र परगटिया रे, स्वामी मोरा।
महाधुनी रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, अमियचद अणगार, महा तपसी वैरागी रे, स्वामी मोरा।
गुण निलो रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, जीत सहोदर सार, भीम जवर जयकारी रे, स्वामी मोरा।
अति भलो रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, कोदर तपसी करूर, रामसुख ऋषि रूडो रे, स्वामी मोरा।
राजतो रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, शिवदायक शिव सूर, सतीदास सुखकारी रे, स्वामी मोरा।
गाजतो रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, उभय पीथल वर्द्धमान, साम राम युग वधव रे, स्वामी मोरा।
नेम सू रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, हीर वखत गुणखान, थिरपाल फतैचर्द जपियै रे, स्वामी मोरा।
पेम सू रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, टोकर ने हरनाथ, अखैराम सुखरामज रे, स्वामी मोरा।
ईश्वरू रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, राम सभू शिव साथ, जवान मोती साचा रे, स्वामी मोरा।
दमीश्वरू रे मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, इत्यादिक वहु सत, वलि समणी सुखकारी रे, स्वामी मोरा।
दीपती रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा कल्लू महा गुणवत, तीन वधव नी माता रे, स्वामी मोरा।
जीपती रे, मोरा स्वाम ॥
मुणिद मोरा, गगा नै सिणगार, जेता दोला जाणी रे, स्वामी मोरा।
महासती रे, मोरा स्वाम।
मुणिद मोरा, जोता महा जश धार, चपा आदि सयाणी रे, स्वामी मोरा।
सोभती रे, मोरा स्वाम ॥
(कीर्त्तिगाथा, २४।४-११)

भीम अमीचद मुनि भला, कोदर शिव वृद्धिकारी हो।
रामसुख रलियामणो, समण पच सिरदारी हो।
जाप परम जशधारी हो ॥
(वही, सतगुणमाला, ८।१७)

जयाचार्य हृदय-परिवर्तन मे वहुत विश्वास करते थे। उन्हे यह सिद्धात विरासत में मिला था। आचार्य भिक्षु इसके मूल स्रोत थे। विचार और उपदेश—ये दोनों हृदय-परिवर्तन का आधारभूत तत्त्व है। यह करना चाहिए और यह नही करना चाहिए, यह उपदेश है; पर वह इतना ही नही है। उसका (उपदेश का) मूल तत्त्व है विचार-दर्शन। विचार हृदय का स्पर्श करता है और उससे हृदय अपने आप वदल जाता है। वह जितना वेधक होता है उतना ही वह हृदय को वदलने में सक्षम होता है। जयाचार्य के विचार अनुभव की उर्वरा में अंकुरित हुए थे, इसलिए उनमे मादकता की अपेक्षा हृदय-स्पर्श की क्षमता अधिक है। उनकी दृष्टि मे हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है—हृदय में विवेक-दीप का जलना। इसके जले बिना पदार्थ की प्यास बुझ नही पाती।[1] विवेक जागने पर मनुष्य 'करणी' [सत्य साधना का पुरुषार्थ] करता है। उससे पीडा शात होती है।[2] मन की बीमारी मनुष्य को सबसे ज्यादा सताती है। उसकी औषध प्रस्तुत है बहुत सीधे-सादे शब्दो मे। कवि ने लिखा है—आत्मन्! तुझे प्रिय वस्तुएं प्राप्त है। यदि उन पर तेरे मन मे राग की तरग न उठे तो तू सरदार है।[3] यदि तू स्तुति सुनकर फूलता नही है और निदा सुनकर खिन्न नही होता है तो तेरी वलिहारी है।[4] सुंदर रूप देखकर तू राग और भद्दा रूप देखकर

---

1 वही, [अध्यात्म पदावली ३।८] पृष्ठ १०८

विवेक-दीपक घट जेहने, [illegible]

[illegible]

2 वही [अध्यात्म पदावली—[illegible]] [illegible]

[illegible]

[illegible]

3 [illegible]

4 [illegible]

द्वेष नहीं करता है तो तू जगत् का स्वामी है।[1] अपने आपको दूसरे के अधीन नहीं करता, पुद्गल-पदार्थ से प्रेम नहीं करता, मोह को शांत करने की कला को जानता है, तो तू चतुराई को उपलब्ध है।[2]

सतत जागरूकता (या भावक्रिया) का रहस्यमय सूत्र प्रस्तुत है—सोते, उठते, बैठते, बोलते और कार्य करते समय तू निरंतर हृदय में समता की स्मृति रख, प्रतिक्षण इसका अभ्यास कर।[3] अभ्यास के प्रभाव से नट रस्सी पर नाट्य करता है। तू नित्य पूरी एकाग्रता के साथ समता का अभ्यास कर, मन अपने आप वश हो जाएगा।[4] तू प्रतिक्षण समता के प्रति सावधान रह। सावधान के प्रति शत्रु का वश नहीं चलता।[5] तू अपने आप को शूरवीर सरदार मानता है, पर मैं तुझे वैसा तब मानूं जब तू अपनी आदतों को बदले और मन को जीत ले।[6]

इस मानसिक दुःख की औषध में साधना का गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। 'प्रतिक्षण जागरूकता का अभ्यास' सुनने मे छोटी सी बात लगती है, पर इसका सही अर्थ वे ही समझ पाते हैं, जो इसका अभ्यास कर चुके है।

जयाचार्य प्रवचन के प्रति बहुत आस्थावान् थे। वे प्रवचन के मंथन-कार है। उन्हें प्रवचन से नवनीत मिला है। वे आश्चर्य की भाषा में लिखते

---

१ आराधना [ध्यानप्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, २३] पृ. १०१
सुन्दर रूप अलकृत पेखी, रीझै नहिं लिगारी।
अशुभ रूप देखी नहिं खीझै, तो तू जग अधिकारी ॥

२. वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, २४] पृ १०१
निज आपो परवश नहिं हारै, न करै पुद्गल प्यारी।
मोह दबावण कला केलवै, तो चतुराई थारी ॥

३ वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, २८] पृ. १०२
सोवत उठत बेसत बहु विध कार्य करण हुसियारी।
सम परिणाम हिये सभर क्षण क्षण अभ्यास वधारी ॥

४. वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, २७] पृ. १०२
निज अभ्यास प्रभाव वेस पर नाचै नट इकतारी।
नित्य प्रति मन वश करण समपणो, ए अभ्यास दिल वधारी ॥

५. वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, २९] पृ. १०२
क्षण-क्षण सावधान हो समपणे, कर मोह उपशम भारी।
सावधान ऊपर दुस्मण नों, जोर न लगे लिगारी ॥

६ वही, [ध्यानप्रकरण—मानसिक दुःख की चिकित्सा, ३०] पृ. १०२
तू साहसीक गिणै आपण ने, शूर वीर सिरदारी।
तो समभाव करी वश कर मन, जद जाणू हुसियारी ॥

हैं—प्रवचनरूपी रेचक औषधि का सेवन करने पर भी जिसका मानसिक ताप नही मिटा तो समझना चाहिए कि उसका रोग असाध्य है, पूर्वजन्म में कोई निकाचित (अवश्य वेदनीय) कर्म किया हुआ है।[1]

उपदेश पद की रचनाओं में रूपक और उपमाओ का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है—

सुमतिरूपी देवरानी अपनी कुमतिरूपी जेठानी से अलग होने का संकल्प करती है। चेतनरूपी पति के लिए वह शुक्लध्यान का चरखा चलाती है। अपने चेतनरूपी पति की पगड़ी के लिए सूत कातती है।[2]

इस जगत् में अनेक क्रीड़ा-स्थलिया है, नाना प्रकार के खेल और अनेक खिलाड़ी। मोह की क्रीड़ास्थली सबसे बड़ी है। सबसे बड़ा है उनका खेल और जादूगर है उसका खिलाड़ी। कवि ने उसका सजीव चित्रण किया है।[3]

जयाचार्य आज्ञा-प्रधान पुरुष है। वे अनुशासन को बहुत मूल्य देते है। उनके काव्य में भी अनुशासन का स्वर मुखर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका केंद्रीय प्रतिपाद्य है आज्ञा और अनुशासन। वे अन्य विषयों की चर्चा परिधि के रूप में करते है। घूम-घाम कर फिर केंद्रीय विषय पर लौट आते है। धर्म को परखने की प्रेरणा देते है। उनकी प्रेरणा का सार है—आज्ञा। बडी सरस पदावली और उपमाओ के साथ उस विषय का काव्य में

---

१. आराधना [अध्यात्म पदावली ३।१२] पृ. १०६

प्रवचन-रेचन-ओषध लिया, नाहि मिटियो [illegible]।
रोग असाध्य छै तेहने, पूरब [illegible]॥

२. उपदेश की चोपाई ११२

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

३. [illegible]

[illegible]

गुंफन किया है। नमक बिना की रसोई, वाणी रहित सरस्वती, दही रहित ओदन, घी रहित भोजन, चीनी रहित मोदक, आधार रहित गंगोदक, मद रहित ऐरावत हस्ती, वेद रहित ब्राह्मण, परिवार रहित राजा, शस्त्र रहित सेना, फूल रहित वृक्ष, तपस्या रहित भिक्षु, वेग रहित घोड़ा, प्रेम रहित संगम, वस्त्र रहित शृंगार, स्वर्ण रहित अलंकार—ये जैसे शोभित नही होते, वैसे ही आज्ञा के बिना धर्म शोभित नही होता।'[1]

उपदेश दिशा दिखलाने वाला होता है। शब्दों में शक्ति और उसके पीछे भक्ति का योग होता है तब जनमानस अनायास आंदोलित हो उठता है।

संस्मरण (भिक्षु दृष्टान्त)

भिक्षु दृष्टांत जयाचार्य की एक अमर कृति है। यह संस्मरणात्मक साहित्य है। विश्व साहित्य में एक शताब्दी पूर्व लिखा हुआ संस्मरण साहित्य बहुत कम मिलता है। मुनि हेमराजजी ने जयाचार्य को अनेक दिशाओ मे गति करने के सूत्र दिए थे। उनमें इतिहास भी एक है। हमारे संघ का इतिहास बहुत समृद्ध है। उसकी समृद्धि पर हमें गर्व हो सकता है। मुनि हेमराजजी और जयाचार्य पर भी हमें गर्व है। उनके प्रयत्न और दूरदृष्टि से ही इतिहास की समृद्धि हमें उपलब्ध है।

प्रस्तुत कृति में तीन सौ बारह संस्मरण संकलित है। सं० १९०३ नाथद्वारा चातुर्मास में मुनि हेमराजजी ने ये संस्मरण लिखाए, जयाचार्य ने

---

१. आराधना [अध्यात्म पदावली ५।१-१०] पृ. १११

आण बिना नहि अंश धर्म नो, सुगणजन ! सूत्र सिद्धंत सगीत ॥
लवण रहित जिम विरस रसवती सु० सरस्वती वचन-रहीत ॥
दधि रहित जिम ओदन कहियै सु भोजन घीरत-रहीत ॥
खाड रहित जिम मोदक जाणै सु० गगोदक आधार-रहीत ॥
मद रहित ऐरावण हस्ती सु० ब्राह्मण वेद-रहीत ॥
परिवार-रहित जिम नायक नरपति सु० पायक शस्त्र-रहीत ॥
फल-रहित जिम वृक्ष न शोभै सु० भिक्षु तपस्या-रहीत ॥
वेग-रहित नहि शोभै तुरगम, सु० सगम प्रेम-रहीत ॥
वस्त्र-रहित शृगार न शोभै, सु० अलकार स्वर्ण-रहीत ॥
तिम जिन-आज्ञा विन धर्म न दीपै सु० निगम बतावै नीत ॥

उन्हे एक ग्रन्थ का रूप दिया।[1] सीधी-सरल भाषा, सूत्रात्मक शैली, थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति, व्यंग व्यंजना और प्रसाद गुण से परिपूर्ण ये संस्मरण पाठक को मंत्रमुग्ध बना देते हैं। निदर्शन के लिए प्रस्तुत है कुछ संस्मरण :—

आपका नाम क्या है ?

स्वामीजी पुर और भीलवाड़ा के बीच मे थे। वहा ढूंढाड़ से आया हुआ एक आदमी मिला। उसने पूछा—आपका नाम क्या है ?

स्वामीजी बोले—मेरा नाम भीखण है।

तब वह बोला—भीखनजी की महिमा तो बहुत सुनी है। फिर आप अकेले ही वृक्ष के नीचे कैसे बैठे है ? हमने तो जान रखा था कि आपके साथ बहुत आडंबर होगा—घोड़े, हाथी, रथ, पालकी आदि बहुत ठाटबाट होगा।

तब स्वामीजी बोले—हम ऐसा आडबर नही रखते, तभी हमारी महिमा है। साधु का मार्ग यही है।

यह सुन वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।[2]

तम्बाकू अच्छी तो है नही

स्वामीजी गृहस्थावस्था मे थे तब निमत्रण देने के लिए [illegible] साथ किसी दूसरे गाव जा रहे थे।

राजपूत बोला— भीखनजी। तम्बाकू के बिना [illegible] नही [illegible] सकता।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, प्रशस्ति दोहा १-८

[illegible]

२. भिक्खु दृष्टान्त [illegible]

स्वामीजी बोले—ठाकर साहब ! आगे चले, सूर्य अस्त होने वाला है।

राजपूत बोला—तंबाकू के बिना अब तो नही चला जा सकता।

स्वामी जी ने कुछ पीछे रह, जंगली कंडे को महीन पीस उसकी पुड़िया बना ली और कहा—ठाकर साहब ! अच्छी तंबाकू तो है नही, ऐसी-वैसी है।

राजपूत ने एक चुटकी भर कर उसे सूघा और कहा—ठीक ही है, काम चल जाएगा।

स्वामीजी ने वह पुड़िया राजपूत को सौप दी। इस चातुर्य से वे कुशलक्षेम के साथ अपने स्थान पर पहुंच गए।[1]

प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध

सं० १९३३ की घटना है। अजीमगंज (मुर्शिदाबाद) के मूर्तिपूजक श्रावकों ने जयाचार्य के पास एक प्रश्नावली भेजी। वह बावन दोहों में निबद्ध थी। दोहों का निर्माण यति विनयचंद के शिष्य गोपीचंद ने किया था।[2] प्रश्नावली के प्रस्तोता थे कालूरामजी[3]। उसमें जयाचार्य के प्रति अत्यंत विनम्रता और प्रशंसा का भाव प्रगट होता है।[4] मतभेद और मनभेद एक

1. भिक्खु दृष्टात—स. १२२।
2. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध [परिशिष्ट—कलश]

   इम करी रचना अति ही सुन्दर, बाचता मन उल्लसै।
   देवाधिदेव तिलोय स्वामी, अन्तरजामी मन वसै।
   सवत उगणीस साल तेतीस मास आश्विन सुद पखै।
   मुनि विनयचन्द पसाय करी नै, गोपीचद इम उपदिशै॥

3. वही, [परिशिष्ट—दोहा ५२]

   मुनिवर ना गुण गावता, होता चित आराम।
   मन तन कपट तजी करी, वन्दत कालूराम॥

4. वही, [परिशिष्ट—दोहा, ९-१३]

   सत्तावीस गुणे करी, पालो निज आचार।
   पच महाव्रत पालता, एहवा तुम अणगार॥
   निर्जित मन उन्माद पणो, वर्जित विषय विकार।
   तर्जित कर्मादिक अशुभ, गर्जित नाण उदार॥
   शहर लाडनूं अति भलो, विचरो तिहा धर नेह।
   अप्रतिबन्ध विहार करि, वैठा मम्बर गेह॥
   तुम गुण-गण-मकरन्द से, भविजन भ्रमर लोभाय।
   देश विदेशे मानवी, कर जोडी गुण गाय॥
   मैं पिण गुण श्रवणे सुणी, भेटण की मन चाय।
   ते दिन सफल गीणिस हू, वन्दी तुमरा पाय॥

नहीं है, इसका वह एक स्वस्थ निदर्शन है। व्यक्ति की विशेषता बतलाकर फिर उसका ध्यान चिंतनीय विषय पर केंद्रित किया जाए, यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है। इस दिशा मे उसे एक प्रयोग कहा जा सकता है।

वह प्रश्नावली जयाचार्य के पास पहुंची। आचार्यवर [illegible]। प्रश्नकार ने उत्तर देने का आग्रह किया था।' इसलिए आचार्यवर ने पद्यात्मक प्रश्नो का पद्यात्मक उत्तर देने का निश्चय किया। प्रश्नकर्ता का काम सीधा-सरल होता है। उत्तरदाता का काम होता है जटिल। आचार्यवर ने उस प्रश्नावली के उत्तर मे लगभग डेढ़ हजार दोहो का 'प्रश्नोत्तर [illegible]' नामक एक ग्रन्थ रच डाला। उसमे आचार्यवर ने अनेक विषयों की [illegible] और शास्त्रीय पद्धति से चर्चा की है, स्याद्वाद की भाषा का सम्यक् उपयोग किया है। अनाग्रह का भाव पद-पद पर दृष्ट होता है।

जैन शासन मे अनेक संप्रदाय है। कुछ संप्रदायों के साधु मुख पर वस्त्रिका बांधते है। जयाचार्य के सम्मुख यह चिंतन रखा गया — मुनि को मुख पर वस्त्रिका बांधनी नहीं चाहिए। उसे बांधने का [illegible] नहीं है। आचार्यवर ने इस चिंतन की समीक्षा की, [illegible]। किसी भी विषय के समर्थन और निरसन मे [illegible] और [illegible] दोनों का प्रयोग करते थे। इस विषय मे भी ऐसा ही [illegible]। [illegible] एक महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने कही — [illegible] मुखवस्त्रिका मुंह पर नहीं बांधता, अपने [illegible] कोई आपत्ति नहीं है। मेरा यह आग्रह नहीं है कि [illegible] पर बांधा ही जाए।'

[illegible]

जयाचार्य ने उत्तराध्ययन, आचारांग आदि अनेक आगम-सूत्रों के पद्यानुवाद किए। भगवती सूत्र का पद्यानुवाद सबसे बड़ा है। वह अनुवाद और भाष्य दोनों है। यह ग्रंथ उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण है।

भगवती की जोड़ के अंत में उन्होंने प्रशस्ति के दोहे लिखे है। उनमें अपना आत्म-निवेदन प्रस्तुत किया है। वह सत्य-शोधक की विनम्र सत्य-साधना का घोषणा-पत्र है। उन्होंने लिखा है—

मैंने भगवती सूत्र व उसकी वृत्ति को देखकर उसकी व्याख्या लिखी है। दूसरे आगमों का सहारा भी लिया है। कुछ अर्थ मैने अपनी बुद्धि से किए हैं। मैंने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि कोई भी अर्थ सिद्धांत से विरुद्ध न हो। मैने कही-कही संक्षिप्त अर्थ का विस्तार किया है और कही पर विस्तृत अर्थ का संक्षेप किया है। कही-कही वैराग्य वृद्धि के लिए उपदेश की शैली का तो कही पर व्याख्यान की रसात्मक शैली का प्रयोग किया है। कहीं-कही तुक मिलाने के लिए नए शब्द का प्रयोग किया है तो कही पर अनुमान से भी काम लिया है। कहीं-कही वहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग भी किया है। यंत्र और मंत्र भी अपनी बुद्धि से तैयार किए है। गमा आदि प्रकरणों में जो सूक्ष्म चर्चा है, उसे समझाने के लिए अनेक सूत्रों के संदर्भ प्रस्तुत किए गए हैं। इस कृति में मैने अपनी ओर से सिद्धांत से अविरुद्ध निरूपण किया है, फिर भी कोई सिद्धांत-विरुद्ध वात आ गई हो तो ज्ञानी का वचन मुझे प्रमाण है। कोई प्रवल पंडित हो, उसे आगमों के आधार पर इस रचना में कोई सिद्धात-विरुद्ध तत्त्व लगे तो वह उसे निकाल दे।

उपयोग (चित्त की सक्रियता) के अभाव में अथवा अज्ञानवश कोई विरुद्ध वचन लिखा गया हो, उसके लिए मेरा कोई आग्रह नहीं है। कोई सिद्धांत-विरुद्ध वात लिखी हो, संदिग्ध और शंकित तत्त्व का प्रतिपादन किया हो तो उसके लिए मैं 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' का प्रयोग कर अपने आप

को निर्भार अनुभव कर रहा हूं।'

उपदेशरत्नकथाकोश

यह एक विशाल ग्रंथ है। इसमें औपदेशिक श्लोक, दोहे, कवित्त, सोरठे आदि अनेक विधाओं के पद्य संकलित हैं। लोक-कथाओं, पौराणिक कथाओं और ऐतिहासिक कथाओं का इसमें महत्त्वपूर्ण संग्रह है। आचार्यश्री की गद्य लिखने की शैली संक्षिप्त है। वे थोड़े में बहुत कह जाते हैं। सूक्तियों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए एक कथा प्रस्तुत है—

एक साहूकार का बेटा घूरे (उकरड़े) पर लोट रहा था। लोगों ने देखा। उन्होंने सेठ के पास उसकी शिकायत की। सेठ ने कहा—क्या मेरा बेटा घूरे पर लोट रहा था?

जी हां, लोगों ने कहा।

सेठ का पुत्र घर पर आया। सेठ ने पूछा—घूरे पर क्या लोट रहा था?

यह रत्न लाया हूं, इसी के लिए वहां लोट रहा था। [illegible] चलते घूरे पर इसे देखा। सामने दूसरे लोग बैठे थे। मैंने सोचा, [illegible] पर रत्न उठाऊंगा तो दूसरों को पता लग जाएगा। [illegible] होंगे। मैंने वहां लोटना शुरू किया। लोटते-लोटते रत्न [illegible] को पता ही नहीं लगा। सेठ उसकी बुद्धि पर बड़ा प्रसन्न हुआ।

[illegible] सेठ का बेटा घूरे पर [illegible]

1 [illegible]

[illegible]

से ही लोटता है।[1]

अनुवाद और भाष्य

जयाचार्य की साहित्य-साधना विशाल है। उन्होंने अनेक दिशाओं का स्पर्श किया। उपदेश और शिक्षा के पद लिखे, वहां गंभीर तत्त्व-ज्ञान को भी पद्यों में गुंफित किया। स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण किया, वहां अनुवाद भी किया। गद्य और पद्य दोनों में उनकी लेखनी समान रूप से चलती थी। उनमें अनुवाद की विलक्षण क्षमता थी। वे नपे-तुले शब्दों में मूल का भाव-चित्र उतार लेते। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक और उनका अनुवाद प्रस्तुत है—

उवलेवो होइ भोगेसु,
अभोगी नोवलिप्पइ।
भोगी भमइ संसारे,
अभोगी विप्पमुच्चइ॥[2]

अघ उपलेप लगै भोगी रे,
अभोगी तो नाहि लिपायो।
भोगी संसार में भ्रमण करै छै,
भोग तज्यां थी मुकायो॥

निद्दं च न बहुमन्नेज्जा,
संपहासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे,
सज्झायम्मि रओ सया॥[3]

निद्रा भणी बहु मान न देवै,
हास्य विषै नहीं माता रे।
रमै नही मांहोमांही कथा कर मुनि,
रहै सझाय में राता रे॥

अद्धाणं जो मंहतं तु,
सपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होई,
छुहातण्हाविवज्जिओ।[4]

मोटी तो अटवी हो लीधी मानवी,
पिण बहु संवल सहीत।
जातो थको तो तेह सुखी हुवै,
भूख तपादि रहीत॥

---

१. उपदेशरत्नकथाकोश—भाग-१ पृ. ३५२
२. उत्तरज्झयणाणि २५।३६।
३. दसवेआलिय : ८।४१।
४. उत्तरज्झयणाणि : १९।२०।

३. पर नैं दुखदायी नही,	यस्मान्नोद्विजते लोको,
पर थी आप न दुख।	लोभान्नोद्विजते च यः।
तजै हर्ष उद्वेग भय,	हर्षामर्षभयोद्वेगै-
ते मुझ भक्त प्रत्यक्ख ॥	र्मुक्तो यः स च प्रियः।
४. निर्बांछा शुचि दक्ष मन,	अनपेक्षः शुचिर्दक्ष,
उदासीन नही धंध।	उदासीनो गतव्यथः।
आरंभ त्यागी सर्वथा,	सर्वारम्भपरित्यागी,
ते मुझ भक्त सुनंद ॥	यो मद्भक्त स मे प्रियः।
५. सुख दुःख हरख न सोग ए,	यो न हृष्यति नो द्वेष्टि,
चिंता कांक्षा नाहि।	न शोचति न कांक्षति।
पुण्य-पाप बेहुं तजै,	शुभाशुभपरित्यागी,
ते मुझ भक्त ओछाहि ॥	भक्तिमान् यः स मे प्रियः।
६. शत्रु-मित्री सम गिणै,	समः शत्रौ च मित्रे च,
तिमज मान-अपमान।	तथा मानापमानयोः।
शीत-उष्ण सम दुक्ख-सुख,	शीतोष्णसुखदुःखेषु,
वर्जंत संग सुजान ॥	समः संगविवर्जितः।
७. निंदा-स्तुति में तुल्य मन,	तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी,
मौन धार संतुष्ट।	सन्तुष्टो येन केनचित्।
घर त्यागी अरु स्थिर मति,	अनिकेतः स्थिरमतिः,
सो मै भक्त पियष्ट ॥	भक्तिमान् मे प्रियो नरः।
	[गीता १२।१२।१६]

जयाचार्य का जीवन एक जीवित प्रयोगशाला जैसा था। वे निरन्तर कुछ न कुछ प्रयोग करते रहते। उन्होंने आचार्य-पद का दायित्व संभालते ही पंच-व्यवस्था का प्रयोग शुरू किया। उसकी निश्चित तिथि का पता नही है और पंचों के पूरे नाम भी ज्ञात नहीं हैं। केवल दो पंचों के नाम मिलते हैं—मुनि छोगजी और मुनि हरखचंदजी।

जयाचार्य मालवा की यात्रा कर रहे थे। मेवाड़ की ओर लौटते समय खाचरोद पधारे। वहां मुनि कालू से कोई भूल हो गई। उसका विवरण पंचों के पास पहुंचा। वे प्रायश्चित्त का निर्णय करने एकत्र हुए। निर्णय सुनाया जाने वाला था, उस समय मुनि कालू जयाचार्य के चरणों में उपस्थित हुए। उन्होंने प्रार्थना के स्वर में कहा—'गुरुदेव! घटना-चक्र कुछ ऐसा ही घटित हुआ है। उसमें मुझे निष्पक्ष न्याय मिलने की आशा नही है। जयाचार्य ने उनसे घटना का स्पष्टीकरण मांगा। मुनि कालू ने सारी स्थिति स्पष्ट रख दी। जयाचार्य को उनकी बात पर विश्वास हो गया। उन्होंने मुनि कालू से पूछा—क्या तुझे मघवा पर विश्वास है? क्या तू उसका निर्णय स्वीकार कर लेगा? मुनि कालू ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया और बड़ी प्रसन्नता प्रगट की। जयाचार्य ने मघवा को बुलाकर उनकी सिरेपंच के पद पर नियुक्ति कर दी।[1]

सं० १९१२ की घटना है। जयाचार्य खैरवा मे विराज रहे थे। उस समय उनकी आंखों में कुछ गड़बड़ी हो गई। वे वैद्य से चिकित्सा करा रहे थे। उन्होने मर्यादापत्र-वाचन का कार्य मघवा को सौप दिया।[2] इस दायित्व को सौपने का अर्थ होता है उत्तराधिकारी की पूर्वनियुक्ति। मघवा का जीवन उत्तरोत्तर होने वाली नियुक्तियों की एक श्रृंखला है। उसके साथ जुड़ी हुई है उनकी योग्यता की कहानी।

सं० १९१९ ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को मर्यादापत्र-वाचन के दिन चतुर्विध संघ के मध्य जयाचार्य ने कहा—'मघजी! इधर आओ।' मघवा आचार्यवर के सामने आ गए। आचार्यवर ने कहा—'सर्व साधु दीक्षापर्याय के क्रम से खड़े हो कर 'लिखत' पढ़ते है, उससे तुम्हें मुक्त करता हूं।' मघवा ने आचार्यवर की आज्ञा को शिरोधार्य किया। सांझ के समय अनेक साधुओं की

---

१. ते. आ. खं. २ पृ. २१७ [मघवासुजश, ढा० ५।दोहा ६]

२. ते. आ. खं. २ पृ. २१८ [मघवासुजश, ढा० ६।दोहा ४]

उपस्थिति मे आचार्यवर ने कहा—'मघजी ! वंदना करो ।' उन्होंने वंदना की तब आचार्यवर ने कहा—

१. मर्यादापत्र-वाचन के समय लिखत पढ़ने की छूट ।

२ वारी-वारी से समुच्चय के कार्य करने होते है, उनकी छूट ।

३. समुच्चय के बोझ की छूट ।

४. गोचरी (भिक्षा के लिए सबको जाना होता है) की छूट ।

समुच्चय के इन कार्यों से मघवा को मुक्त किया, उससे [illegible] स्वामी आदि साधुओं को बहुत प्रसन्नता हुई। मघवा ने समुच्चय के कार्य करते रहने का आग्रह किया। तब जयाचार्य ने कहा [illegible] किसी कार्य से तुम्हे मुक्त करता हूं वह चिंतनपूर्वक करता हूं । [illegible] सहज स्वीकार कर लेना चाहिए। पूर्वस्थिति को बनाए रखने का आग्रह नहीं होना चाहिए।' सरूपचंदजी स्वामी और महासती सरदारांजी ने भी कहा 'आचार्यवर जो आदेश दे, वह स्वीकार कर लेना चाहिए।"

सं० १९२० श्रावण कृष्णा एकम (गुरुवार) [illegible] व्याख्यान तथा मर्यादापत्र-वाचन के समय जयाचार्य ने [illegible] होता है वह विनीत की पदोन्नति देखकर प्रसन्न होता [illegible] प्रसंग पर मुह बिगाड़ लेता है। विनीत पर [illegible] प्राप्त हो जाए तो होना यह चाहिए कि सब प्रमोद मनाए। [illegible] साधुओं ने कहा—हमें प्रमोद होगा, आप कृपा करें। [illegible] मघजी ! वंदना करो। मघवा ने वंदना की। [illegible] पर बैठने का निर्देश किया। [illegible]

[illegible]

कर रहे थे। कुछ साधु आगे-आगे चल रहे थे। वे गांव के बाहर पहुंच कर रुक गये। उस साधु ने उपस्थित साधुओ के सामने एक पहेली रखी और उसका अर्थ पूछा। वह पहेली इस प्रकार है—

आगै जैतारण लारै जै तारण, बिच में चालां आपां।
इण पैली रो अर्थ बतावै, तिण नै पंडित थांपा।[1]

इस पहेली का अर्थ मघवा ने बताया। उन्होंने कहा—हमारे आगै जैतारण गांव है और हमारे पीछे जनता के तारक जयाचार्य हैं। हम उन दोनों के बीच में हैं। पहेली का संगत अर्थ करने पर मघवा पंडित के संबोधन से संबोधित होने लगे।

सं० १९२० का चातुर्मास चूरू मे हुआ। उस समय जयाचार्य की सन्निधि में सोलह साधु और छत्तीस साध्वियां थी। चातुर्मास का प्रवास सानंद संपन्न हो रहा था। श्रावण और भाद्र दो मास बीत गए। आश्विन मास चल रहा था। आचार्यवर ने अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति का निर्णय किया। अभी उन्हें आचार्य पद पर आरूढ़ हुए बारह वर्ष हुए थे। मघवा की योग्यता ने उन्हें आश्वस्त किया, स्वाध्याय-ध्यान की प्रगाढ रुचि से उत्पन्न एकांत-प्रियता ने उन्हें बाध्य किया और उन्होंने उत्तराधिकारी की नियुक्ति की तिथि घोषित कर दी। आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का पुण्य दिन। कल्याण-कारी मुहूर्त्त और वेला। साधु-साध्वियों की उपस्थिति। सैकड़ों-सैकड़ों श्रावक-श्राविकाएं उपासना में निरत। उन सबके बीच विराज रहे थे उच्च आसन पर जयाचार्य। आचार्यवर ने मघवा को संबोधित कर कहा—खड़े हो जाओ। मघवा खड़े हो गए। दोनों हाथ जुड़े हुए। अपलक जयाचार्य की ओर निहारती हुई, वर्तमान में उज्ज्वल भविष्य को झांकती हुई दृष्टि। वे निश्चल मुद्रा में खड़े रहे। जयाचार्य ने एक नई चादर ओढ़ी। उसे अपने शरीर से उतारा और प्रतीक्षा के लंबे क्षणो में सांस लेती हुई परिषद् के मध्य अपने दायित्वपूर्ण हाथों से उसे मघवा को ओढ़ा दिया। चारों ओर हर्ष-ध्वनि हुई। पूरी परिषद् हर्ष से झूम उठी।

आचार्य भिक्षु ने सं० १८३२ में भारमल जी को अपना उत्तराधि-कारी नियुक्त किया। उस समय उन्होंने एक लिखत लिखा था। वही लिखत

---

१. राजस्थानी में 'य' के स्थान पर 'ऐ' का प्रयोग भी होता है—जय-विजय वरो—जै विजै वरो। इस दृष्टि से जै तारण का 'जय तारण' रूप बन सकता है।

उत्तराधिकारी की नियुक्ति के समय लिखा जाता है। उसमें मौलिक मर्यादाएं यथावत् रहती हैं, केवल नाम परिवर्तन हो जाता है। जयाचार्य ने भारमलजी के स्थान पर मघवा का नाम लिखा। उसमें लिखा—

१. सब साधु-साध्वियां मघराजजी की आज्ञा में रहेंगी।

२. सब साधु-साध्वियां मघराजजी की आज्ञा में शेषकाल में विहार और चातुर्मास करेंगी।

३. दीक्षा मघराजजी के नाम से दी जाएगी। कोई भी साधु-साध्वी अपने-अपने शिष्य-शिष्याएं नहीं बनाएगी।

उस लिखत पर सब साधु-साध्वियों ने हस्ताक्षर किए। युवाचार्य के अभिषेक की विधि सम्पन्न हो गई।

युवाचार्य मघवा जयाचार्य के शासन-सञ्चालन में पूर्ण सहयोगी बन गए। जयाचार्य महान् अनुशास्ता थे। उनकी अन्तर्दृष्टि [illegible]। वे गहरे में उतर कर वस्तु-सत्य को जान लेते थे। अतीत और भविष्य में जीने वाला यथार्थ को कम देख पाता है। वर्तमान में जीने वाला अतीत और भविष्य को अधिक अनावृत करता है। जयाचार्य वर्तमान में जीने का अभ्यास करते थे, इसीलिए उनका भविष्य [illegible]। उन्होंने मघवा को युवाचार्य पद दिया, साथ-साथ शासन-सञ्चालन [illegible] बृहदाकार गीतिका में संकलित है। यह गीतिका [illegible] के अवसर पर ही रची गई थी। यह [illegible] एक महान् नीतिग्रन्थ है। [illegible] है। उसके कुछ नीति-सूत्र यहां प्रस्तुत हैं—

१. गणपति! यदि तुम [illegible] के पास से अधिक [illegible]।

२. गणपति! यदि तुम [illegible] किसी को दीक्षित करो, [illegible]।

[illegible]

३. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो तीन मुनियों के वर्ग में जो अग्रणी हो, उससे प्रतिदिन पचीस गाथा लिखवाना। यदि कोई गाथा न लिख सके तो उसके बदले में ग्लान साधुओं की सेवा कराना या किसी अन्य कार्य में नियुक्त कर देना।[1]

४. आचार्य के पास साध्विया अधिक रहती हैं, उन्हें एक 'साहाय्य' में न रखना। अनेक 'साहाय्य' कर देना। उनमें थोड़ी-थोड़ी साध्वियों को रखना।[2]

५. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण होने पर दर्शन किए बिना दूसरे क्षेत्रों में विचरने की आज्ञा मत देना। विशेष स्थिति की बात अलग है।[3]

६. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो विशेष कारण के बिना साधु-साध्वियों को एक गांव में रहने की आज्ञा मत देना।[4]

७. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो गुण-संपन्न साधु-साध्वियो को भी परिचय और संपर्क बढ़ाने का अवसर मत देना।[5]

---

१ तेरापथ सविधान [गणपति सिखावण, १।दो. ६-८]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, तिण मुनि जे अगवाण।
गाहा पणवीस बहुल पणे, वलि द्रव्यादि पिछाण॥
जिता दिवस अगवाण वण, विचरै जे सिघाड।
तेता दिवस गिलाण नी, व्यावच करणी सार॥
तथा करावै कार्य अन्य, तसु पेटे विख्यात।
वलि गुण जाणै तिम करै, (पिण) सपति राखै हाथ॥

२ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १०-१२]

इमज गणी पासे रह्या एक साज रै माय।
बहु अज्जा नही राखणी कारणीक विण ताय॥
गणी समीपे बहु रहे तो बहु साज करेह।
पिण इक साजे बहु अज्जा, नेठाउ मत देह॥

३. वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १३]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह।
बाहुल्य दर्शन विन किये, विचरण आण म देह॥

४. वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १४]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति सत सती गुणगेह।
विण कारण इक ग्राम मे, रहिवा आण म देह॥

५ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १५]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, संत सती गुणगेह।
परिचय रूपज सेव नीं, तू आणा मत देह॥

८. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण होने पर आने वाले साधु-साध्वियों के वर्गों की पूरी जानकारी स्वयं करना, उनका पूरा विवरण तुम स्वयं ध्यान में ले लेना।[1]

९. जो आपस में दलबंदी करे, उन्हें पहिचान लेना। उन्हें अलग-अलग रखना, एक साथ रहे वैसा अवसर मत देना।[2] शासन का भार तुम्हारी भुजा पर है। तुम शासन के शृंगार हो, इसलिए तुम्हें यह पहचान अवश्य होनी चाहिए।[3]

१०. साधु-साध्वियों की प्रकृति को पहचान कर फिर उनके चातुर्मास-प्रवास की नियुक्ति करना। स्नेह-राग अथवा अन्य कोई पुकार न आए, इसका ध्यान रखना। सूखी दूब भी मेह बरसने पर हरी हो जाती है, वैसे ही रागीजन का संपर्क होने पर मोह की क्यारी हरी-भरी हो जाती है।[4]

११. कोई शरीर का रोगी होता है, कोई मन का रोगी होता है, पर यदि साधु-जीवन जीने की नीति हो तो उसे सहयोग देना। यदि साधुत्व के पालन की नीति न हो तो उसे संघ से अलग कर देना। इसमें [illegible] मत करना, न डरना, न भयभीत होना।[5]

---

१. [illegible] [गणपति सिखावण, [illegible] १६]
[illegible]
२. वही, [गणपति सिखावण, १।८३]
[illegible]
३. वही [गणपति सिखावण, [illegible]]
[illegible]
४. वही [गणपति सिखावण, [illegible]]
[illegible]
५. वही, [illegible]
[illegible]

३. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो तीन मुनियों के वर्ग में जो अग्रणी हो, उससे प्रतिदिन पचीस गाथा लिखवाना। यदि कोई गाथा न लिख सके तो उसके बदले में ग्लान साधुओं की सेवा कराना या किसी अन्य कार्य में नियुक्त कर देना।[1]

४. आचार्य के पास साध्वियां अधिक रहती हैं, उन्हें एक 'साहाय्य' में न रखना। अनेक 'साहाय्य' कर देना। उनमें थोड़ी-थोड़ी साध्वियों को रखना।[2]

५. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण होने पर दर्शन किए बिना दूसरे क्षेत्रों में विचरने की आज्ञा मत देना। विशेष स्थिति की बात अलग है।[3]

६. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो विशेष कारण के बिना साधु-साध्वियों को एक गांव में रहने की आज्ञा मत देना।[4]

७. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो गुण-संपन्न साधु-साध्वियों को भी परिचय और संपर्क बढ़ाने का अवसर मत देना।[5]

---

१ तेरापथ सविधान [गणपति सिखावण, १।दो. ६-८]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, त्रिण मुनि जे अगवाण।
गाहा पणवीस बहुल पणे, वलि द्रव्यादि पिछाण॥
जिता दिवस अगवाण वण, विचरै जे सिंघाड।
तेता दिवस गिलाण नी, व्यावच करणी सार॥
तथा करावै कार्य अन्य, तसु पेटे विख्यात।
वलि गुण जाणै तिम करै, (पिण) सपति राखै हाथ॥

२ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १०-१२]

इमज गणी पासे रह्या एक साज रै माय।
वहु अज्जा नही राखणी कारणीक विण ताय॥
गणी समीपे वहु रहे तो वहु साज करेह।
पिण इक साजे वहु अज्जा, नेठाउ मत देह॥

३ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १३]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह।
वाहुल्य दर्शन विन किये, विचरण आण म देह॥

४ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १४]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति सत सती गुणगेह।
विण कारण इक ग्राम मे, रहिवा आण म देह॥

५ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १५]

गण वृद्धि चाहो सुगणपति, मत सती गुणगेह।
परिचय रूपज सेव नीं, तू आणा मत देह॥

८. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण होने
आने वाले साधु-साध्वियों के वर्गों की पूरी जानकारी स्वयं करना, उनका
विवरण तुम स्वयं ध्यान में ले लेना ।[1]

९. जो आपस में दलबंदी करें, उन्हें पहिचान लेना। उन्हें अलग-
रखना, एक साथ रहे वैसा अवसर मत देना ।[2] शासन का भार तुम्हारी
पर है । तुम शासन के श्रृंगार हो, इसलिए तुम्हें यह पहचान अवश्य
चाहिए ।[3]

१०. साधु-साध्वियों की प्रकृति को पहचान कर फिर उनके चातुर्मास-
की नियुक्ति करना । स्नेह-राग अथवा अन्य कोई पुकार न आए,
ध्यान रखना । सूखी दूब भी मेह बरसने पर हरी हो जाती है, वैसे
गीजन का संपर्क होने पर मोह की क्यारी हरी-भरी हो जाती है ।[4]

११. कोई शरीर का रोगी होता है, कोई मन का रोगी होता है; पर
साधु-जीवन जीने की नीति हो तो उसे सहयोग देना । यदि साधुत्व के
की नीति न हो तो उसे संघ से अलग कर देना । इसमें संकोच मत
, न डरना, न भयभीत होना ।[5]

---

१. तेरापंथ संविधान [गणपति सिखावण, १।१८ १६]
गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह ।
संत सती आवै तसु, पूछा सर्व करेह ॥

२. वही, [गणपति सिखावण, १।४७]
आपस में जिल्लो कोइ बांधे, ओलखजे तसु जारी ।
तेहनें भेला तू मत राखै, अवसर [illegible] उतारी ॥

३. वही, [गणपति सिखावण, १।४६]
सासण भार जाउं थारै भुज, तू सासण सिणगारी ।
तिण कारण तुझ नें चाहिजै, ए ओलखणा भारी ॥

४. वही [गणपति सिखावण, १।६७-६६]
मुनि अज्जा नी प्रकृति ओलखी, [illegible] खेत्र मझारी ।
परिचय आदि पुकार न आवै, [illegible] ॥
सूकी दोब [illegible], हरित हुवै [illegible] ।
तिम [illegible], [illegible] हरित मोह [illegible] ।

५. वही, [गणपति सिखावण, १।७४-७६]
[illegible]

३. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो तीन मुनियों के वर्ग जो अग्रणी हो, उससे प्रतिदिन पचीस गाथा लिखवाना । यदि कोई गाथा लिख सके तो उसके बदले में ग्लान साधुओं की सेवा कराना या किसी न्य कार्य में नियुक्त कर देना ।[1]

४. आचार्य के पास साध्विया अधिक रहती हैं, उन्हें एक 'साहाय्य' न रखना । अनेक 'साहाय्य' कर देना । उनमें थोड़ी-थोड़ी साध्वियों को खना ।[2]

५. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण होने पर र्शन किए बिना दूसरे क्षेत्रों में विचरने की आज्ञा मत देना । विशेष स्थिति ो बात अलग है ।[3]

६. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो विशेष कारण के बिना ाधु-साध्वियों को एक गांव में रहने की आज्ञा मत देना ।[4]

७. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो गुण-संपन्न साधु-ाध्वियो को भी परिचय और संपर्क बढ़ाने का अवसर मत देना ।[5]

---

१ तेरापंथ संविधान [गणपति सिखावण, १।दो. ६-८]
गण वृद्धि चाहो सुगणपति, तिण मुनि जे अगवाण ।
गाहा पणवीस बहुल पणे, वलि द्रव्यादि पिछाण ।।
जिता दिवस अगवाण वण, विचरै जे सिंघाड ।
तेता दिवस गिलाण नी, व्यावच करणी सार ।।
तथा करावै कार्य अन्य, तसु पेटे विख्यात ।
वलि गुण जाणै तिम करै, (पिण) सपति राखै हाथ ।।

२ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १०-१२]
इमज गणी पासे रह्या एक साज रै माय ।
बहु अज्जा नहीं राखणी कारणीक विण ताय ।।
गणी समीपे बहु रहे तो बहु साज करेह ।
पिण इक साजे बहु अज्जा, नेठाउ मत देह ।।

३. वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १३]
गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह ।
बाहुल्य दर्शन विन किये, विचरण आण म देह ।।

४. वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १४]
गण वृद्धि चाहो सुगणपति सत सती गुणगेह ।
विण कारण इक ग्राम मे, रहिवा आण म देह ।।

५ वही, [गणपति सिखावण, १।दोहा १५]
गण वृद्धि चाहो सुगणपति, सत सती गुणगेह ।
परिचय रूपज नेह नीं, तू आणा मत देह ।।

८. गणपति ! यदि तुम गणवृद्धि चाहते हो तो चातुर्मास पूर्ण होने
ाने वाले साधु-साध्वियों के वर्गो की पूरी जानकारी स्वयं करना, उनका
विवरण तुम स्वयं ध्यान में ले लेना ।[1]

९. जो आपस में दलवंदी करें, उन्हें पहिचान लेना। उन्हें अलग-
 रखना, एक साथ रहे वैसा अवसर मत देना ।[2] शासन का भार तुम्हारी
 पर है। तुम शासन के श्रृंगार हो, इसलिए तुम्हें यह पहचान अवश्य
 चाहिए ।[3]

१०. साधु-साध्वियों की प्रकृति को पहचान कर फिर उनके चातुर्मास-
 की नियुक्ति करना। स्नेह-राग अथवा अन्य कोई पुकार न आए,
 ध्यान रखना। सूखी दूव भी मेह बरसने पर हरी हो जाती है, वैसे
ागीजन का संपर्क होने पर मोह की क्यारी हरी-भरी हो जाती है ।[4]

११. कोई शरीर का रोगी होता है, कोई मन का रोगी होता है; पर
साधु-जीवन जीने की नीति हो तो उसे सहयोग देना। यदि साधुत्व के
 की नीति न हो तो उसे संघ से अलग कर देना। इसमें संकोच मत
, न डरना, न भयभीत होना ।[5]

. तेरापंथ संविधान [गणपति सिखावण, १।दो. १६]
गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह।
संत सती वार्ग तनु, पूछा सर्व करेह॥

. वही, [गणपति सिखावण, १।४७]
आपस में जितो कोइ बांधै, ओलखजे तसु जारी।
तेहनें भेला तू मत राखै, अवसर देज उदारी॥

. वही, [गणपति सिखावण, १।४६]
सासण भार जाउं पारे तुज, तू सासण सिणगारी।
तिण कारण तुझ ने चाहिजे, ए ओलखणा सारी॥

 वही [गणपति सिखावण, १।६७-६८]
मुनि अज्जा री प्रकृति जाणी, [illegible]।
परिचय आदि पुकार न आवै, [illegible]॥
[illegible]
[illegible]

. वही, [गणपति सिखावण, [illegible]]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

१२. आचार्य ने तुम्हें युवाचार्यपद का दायित्व सौपा है, पर जब तक आचार्य रहें तब तक तुम शुद्ध मन से उनकी सेवा करना, उनका आज्ञाकारी होकर रहना ।[1]

१३. दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ मुनियों को वंदना करना तथा वे यात्रा करते हुए आएं तब आसन छोड़, खड़े होकर उन्हें वंदना करना ।[2]

मैंने यह शिक्षा युवाचार्य शिष्य मघराज को दी है, किन्तु यह शिक्षा आने वाले सभी गणपतियों के लिए है ।[3]

जयाचार्य अनुशासन और स्वतंत्र चिंतन—दोनों में समन्वय देखते थे । उनकी दृष्टि में ये दोनों विरोधी तत्त्व नहीं थे। उन्होंने अपनी पूरी बात कह दी और अंत में सब कुछ मघवा के स्वतंत्र चिंतन पर छोड़ दिया । उन्होंने कहा—मैंने अपनी मति के अनुसार तुम्हें यह शिक्षा दी है, फिर तुम्हें जैसा सुख हो, जिस कार्य से गणवृद्धि हो, वही कार्य करना ।[4]

मघवा ने जयाचार्य की वाणी को जीवन-भर बहुमान दिया । वे अठारह वर्ष युवाचार्य अवस्था में रहे, अपने गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धावान् और पूर्ण समर्पित । जयाचार्य के शासनकाल में मघवा का अनिर्वचनीय योग है । दोनों व्यक्तित्व इतने एकात्मक है कि जयाचार्य के बिना मघवा को नहीं समझा जा सकता और मघवा के बिना जयाचार्य के व्यक्तित्व को रूपायित नहीं किया जा सकता ।

---

१. तेरापथ सविधान [गणपति सिखावण, १।८१]
पद युवराज समापै गणपति, ते रहै त्या लग सारी ।
तूं सेवा कीजै साचै मन, रहिजै आज्ञाकारी ।।

२. वही, [गणपति मिखावण, १।८२-८३]
चरण बड़ा सन्ता नै वनणा आछी रीत उदारी ।
तूं शुद्ध कीजै जग जस लीजै, मूल रीत ए भारी ।।
विहार करी नै वडा मुनीसर, आया नगर मझारी ।
आसण छोडी ऊभो थइ नै, कर वदण हितकारी ।।

३. वही, [गणपति सिखावण, १।८५]
पद युवराज शिष्य मघराज भणी ए शिक्षा सारी ।
वले अनागत गणपति हुवै तसु, एहिज सीख उदारी ।।

४. वही, [गणपति सिखावण, १।८६]
शिक्षा ए गणपति नै दीधी, म्हे निज बुध अनुसारी ।
वलि तुझ ने सुख हुवै जिम कीजै, शासण गण वृद्धिकारी ।।

३९

धर्म-परिवार

जयाचार्य महान् पराक्रमी और तेजस्वी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में जो किया, उसे अद्भुत और अनुपम कहा जा सकता है। व्यक्ति के पराक्रम का मूल्यांकन करते समय इस सचाई को आवृत नहीं करना चाहिए कि पराक्रम की ज्योति सहयोग से प्रज्वलित होती है और उसके अभाव में मंद हो जाती है। आचार्यवर के विकासक्रम में अनेक व्यक्ति सहयोगी बने। उनका सहयोग पाकर आचार्यवर का कर्तृत्व और अधिक प्रखर हो गया। तेरापंथ संघ की व्यवस्था ही ऐसी है कि सभी साधु और साध्वियां, सभी श्रावक और श्राविकाएं आचार्य तथा संघ के लिए कुछ न कुछ करके गौरव का अनुभव करते हैं। उनके इस हार्दिकभाव से आचार्य सहस्ररश्मि बन जाते हैं। वे व्यक्ति-विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनके चरण निरंतर आचार्यवर के चरणों के साथ-साथ उठे और आगे बढ़े, जो संघ-विकास के लिए आचार्यवर के दाएं-बाएं हाथ बन कर रहे। उनमें शिरोमणि हैं मघवा।

सं० १९०८ की घटना है। युवाचार्यश्री जय बीदासर में [illegible] प्रवास कर रहे थे। वहां एक बालक था, जिसका नाम था मघराज। वह आचार्यश्री के पास दीक्षित होना चाहता था। [illegible] कर दी। एक बार दीक्षा का अवसर टल गया। [illegible] हाथों के [illegible] द्वारा दीक्षित हो गए।

उन दिनों आचार्यवर [illegible]

[illegible]

तीन छींके आईं। छीकों के साथ जुड़ा हुआ है भविष्यवाणियों का इतिहास। आचार्यवर ने दूसरी छींक के समय कहा—कोई आश्चर्य नही, यह जीतमल का उत्तराधिकारी बने।

यह एक निर्मल चरित्र वाले संत की भविष्यवाणी थी। इसके साथ जुड़ी हुई थी जय और मघवा की नियति। मुनि मघराज के कुछ जीवनवृत्त यहां अप्रासंगिक नहीं होंगे। वे जयाचार्य के जीवन से जुड़े हुए हैं।

सं० १९४८ में आचार्य मघवा ने जयपुर में चातुर्मास प्रवास किया था। पंडित दुर्गादत्तजी से बातचीत हो रही थी। बातचीत का प्रसंग था संस्कृत व्याकरण। इसी क्रम में उन्होंने पंडितजी को सारस्वत का कुछ अंश सुनाया। पंडितजी ने आश्चर्यपूर्ण वाणी में कहा—आचार्यवर! इस अवस्था में भी आपको इतना पाठ कंठस्थ है, क्या आप इसे प्रतिदिन दोहराते है? आचार्यवर ने कहा—सं० १९२२ पाली चातुर्मास के समय यह पाठ मैंने जयाचार्य को सुनाया था। उसके वाद आज आपको सुना रहा हू। इसके मध्य में इसका पुनरावर्तन मैंने कभी नही किया। यह था जयाचार्य के उत्तराधिकारी का व्यक्तित्व। यह था निदर्शन उनकी स्मृति का और मेधा का।

मघवा जयाचार्य के लिए प्रयोगभूमि थे। वे कोई नया प्रयोग प्रारंभ करते, उसका पहला परीक्षण मघवा पर होता। आहार का संविभाग, श्रम का संविभाग—ये सव नये प्रयोग थे। इनमें पहली स्वीकृति मघवा की होती। जयाचार्य के किसी भी प्रयोग में उनकी स्वीकृति निश्चित थी। उनमें सहयोग की भावना वहुत विकसित थी। वे अपने विभाग का सरस भोजन दूसरे साधुओं को दे देते, उनसे नीरस भोजन लेकर स्वयं खा लेते। जो साधु शारीरिक असमर्थता के कारण संविभाग के अनुसार प्राप्त कार्य करने में कठिनाई अनुभव करते, उनके कार्य मे मघवा सहयोग करते। नई व्यवस्थाओं के प्रारंभ में उनका योगदान जयाचार्य के लिए वहुत मूल्यवान् रहा।

मुनि मघवा के वाद एक साधु की दीक्षा हुई। उसका नाम था रामदत्त। वह अवस्था में वृद्ध था। पुरानी व्यवस्था के अनुसार समुच्चय के कार्य उसे करने होते। वह थक जाता। उसने मुनि मघवा से कहा—मेरे समुच्चय के कार्य आप करें। मैं आपके पैर दवाऊंगा। मुनि मघवा में वदले में सेवा लेने की भावना नही थी। वे निस्पृहभाव से उस वृद्ध मुनि का सह-

योग करते रहे।

सं० १९१२ में जयाचार्य ने मघवा को मर्यादा-पत्र का वाचना-कार्य सौंप कर उन्हें संघीय कार्य के प्रति अधिक उत्तरदायी बना दिया। मुनि सरूपचंदजी संसारपक्षीय बड़े भाई और साथ-साथ सहयोगी भी थे।[1] जयाचार्य के यशस्वी जीवन के साथ उनकी यशोगाथा जुड़ी हुई है।

मुनि हरखचंदजी विद्वान् साधु थे। जयाचार्य के मन में उनके प्रति गहरा संतोष था। संघीय विकास में उनके चिंतन का सदा उपयोग होता रहा।[2]

मुनि सतीदास जी को जयाचार्य ने अपने मित्र के स्थान पर प्रतिष्ठित किया था। उनके परामर्श और सहयोग को आचार्यवर बहुत मूल्य देते थे।[3]

मुनि कालूजी प्रतिभा और पुरुषार्थ दोनों के धनी थे। जयाचार्य के समय में शक्तिशाली संघर्ष हुआ था। वह आंतरिक था। कुछ साधु संघ से अलग हो आचार्यवर का विरोध कर रहे थे। श्रावक भी बड़ी संख्या में उनके साथ थे। सरदारशहर उनकी प्रवृत्तियों का केंद्र बना हुआ था। उस समय मुनि कालूजी बड़ी सूझ-बूझ के साथ सारी स्थिति को संभाल रहे थे। उनके कार्य के प्रति आचार्यवर बहुत आश्वस्त थे। एक दिन ऐसा आया कि मुनि कालूजी के प्रयत्नों से सरदारशहर तेरापंथ धर्मसंघ की गतिविधियों का मुख्य केंद्र बन गया।

जयाचार्य ने तेरापंथ के इतिहास-संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसमें मुनिवर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने तेरापंथ के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। वह ख्यात के नाम से प्रसिद्ध है। वे कुशल प्रतिलिपिकार थे। उन्होंने एक लाख श्लोकों की प्रतिलिपि कर अनेक ग्रंथ आचार्यवर के चरणों में उपहृत किए। वे लम्बी-लम्बी यात्रा करने वाले परिव्राजक थे।[4]

मुनि कोदरजी जयाचार्य के हनुमान थे। निस्पृह, आज्ञाकारी, [illegible] और सेवाभावी। जब-जब कठिन काम सामने आया, तब-तब वे उसे [illegible] करने के लिए तैयार रहे। आचार्यवर ने उन्हें [illegible] के रूप में [illegible] किया। उन्होंने एक विघ्नहरण [illegible] का निर्माण किया। [illegible]

१, २, ३. देखें [illegible]।

४. [illegible], [illegible] १८।

तपस्वियों के नाम के प्रथमाक्षर से निष्पन्न है। उस (अ भि रा शि को) में पांचवां नाम कोदरजी का है। प्रस्तुत जीवनी में उनके कर्तृत्व के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं।

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी संघ की हर गतिविधि में आचार्यवर का सहयोग करती रही। साध्वी समाज संख्या की दृष्टि से साधु समाज से बड़ा था। यदि साध्वीप्रमुखा का पूरा सहयोग और समर्थन नही मिलता तो नई व्यवस्थाओं के निर्माण में अनेक कठिनाइयां आती। आचार्यवर ने जैसे-जैसे नई व्यवस्थाएं वनाईं, वैसे-वैसे साध्वीप्रमुखा उन्हें साध्वी समाज में क्रियान्वित करती गईं। संघीय व्यवस्थाओं के विकास में उनका जो योगदान रहा, वह तेरापंथ के इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है।

साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी आचार्य मघवा की संसारपक्षीया बहन थीं, वहुत कोमल, सुन्दर और सहृदय। सरस्वती की साक्षात् प्रतिमूर्ति। उन्होंने जयाचार्य की साहित्य-रचना में वहुत योग दिया। भगवती की पद्यात्मक व्याख्या लिखना एक कठिन कार्य था। उसमें साध्वीप्रमुखा की एकाग्रता और तन्मयता ने उल्लेखनीय कार्य किया। आचार्यवर वोलते जाते और वे लिखती जाती। उनके द्वारा की हुई वह प्रथम लिपि आज भी दर्शनीय है, भव्य अक्षर और शुद्ध लिपि। ऐसा प्रतीत ही नही होता कि यह किसी वड़ी रचना की प्रथम लिपि है।

रूपक की भाषा में कहा जाता है—धर्मशासन एक रथ है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—ये चार उसके पहिए हैं। चारों पहिए सक्रिय होते हैं तव रथ ठीक चलता है। श्रावक और श्राविकाओं का योगदान भी वहुत महत्त्वपूर्ण होता है। जयाचार्य के शासनकाल में अनेक श्रावकों ने उल्लेखनीय कार्य किए।

सं० १९२० की घटना है। जयाचार्य चूरू में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। मृगसर कृष्णा १ को आचार्यवर ने एक नवयुवक को दीक्षित किया। उसका नाम था मुनिपत। वह जयपुर में रहता था। उसकी माता की सहर्ष स्वीकृति से दीक्षा प्रदान की गई थी। मुनिपतजी के दादा का भाई थानजी जोधपुर में रहता था। कुछ लोगों ने उसे उकसा दिया। वह तेज प्रकृति का आदमी था। उसने जोधपुर के राजा तख्तसिंह के पास शिकायत की—जयाचार्य ने मेरे पोते को मेरी आज्ञा लिए विना साधु वना दिया। इसका

न्याय होना चाहिए। राजे लोग तात्कालिक निर्णय बहुत ले लेते थे। वे घटना की समग्र जांच करने की चिंता ही नही करते। इसी प्रकृति के कारण अनेक वार न्याय के वदले अन्याय हो जाया करता था। महाराज-तख्तसिंह ने आदेश लिख दिया—जयाचार्य को और नवदीक्षित साधु को पकड़ कर यहा ले आओ। राजा के घुड़सवार सिपाही उस आदेश-पत्र को लेकर वहा से चले। उन दिनों जयाचार्य लाडनूं में विराज रहे थे। जोधपुर से उसकी दूरी लगभग दो सौ किलोमीटर है।

वादरमलजी भंडारी जोधपुर राज्य के उच्च अधिकारी थे। महाराजा उन्हें वहुत मानते थे। एक कहावत प्रचलित थी—माहें नाचै नाजरियो, वारै नाचै वादरियो। रनिवास में नाजर की चलती है और वाहर वादर की चलती है। वादरमलजी जयाचार्य के परम श्रद्धालु थे। उन्हें इस वात का पता चला। वे मर्माहत-से हो गए। वे अपने आप को रोक नही सके। रात्रि का समय था, वारह वजने को थे। सव लोग सो चुके थे। महाराजा तख्तसिंह भी सो चुके थे। सोए हुए राजा को जगाना मौत को निमंत्रण देना था, पर उन्हें कोई डर नही था मौत का। वे साहस या दुस्साहस कर महल में पहुंच गए। उन्होंने महाराजा को जगा दिया। आंखें मलते हुए महाराजा वोले—'वादर! इस समय कैसे आया? यह भी कोई समय है आने का!'

'महाराज! असमय है यह आने का और आपको जगाने का, मैं जानता हूं। मै ऐसे ही नही आया हूं। आपने वुलाया है तव आया हूं।'

'मैने कव वुलाया? किसने यह सूचना दी मेरे द्वारा तुम्हें बुलाए जाने की?'

'क्षमा करें महाराज! मैंने सुना, आपने लाडनूं के लिए घुड़सवार सिपाही भेजे है। आपने आदेश-पत्र लिख कर दिया है जयाचार्य को पकड़ कर यहा लाने का?'

'हा, मैने ऐसा किया है।'

'बस, इसी घटना ने मुझे विवश किया असमय में आने को और इस मध्यरात्रि के समय आपको जगाने को।'

'इसमें ऐसी कौनसी वात थी, जो तुम इतने अधीर हो गए?' — महाराजा ने [illegible] कर कहा।

[illegible]

'जयाचार्य मेरे गुरु हैं। मेरे इष्ट हैं। जीवन-धन हैं। उनके लिए मैं अपने प्राण निछावर कर सकता हूं, फिर आप अधीरता की बात पूछ रहे है ?'

'परदादे की स्वीकृति लिए बिना पोते को दीक्षित कर लेना, क्या उचित है ? जयाचार्य ने ऐसा किया तभी मैंने वह आदेश-पत्र लिखा'—महाराजा ने वार्ता में गंभीरता लाते हुए कहा।

'यह सर्वथा असत्य है महाराज ! किसी ने असत्य सूचना दी है आपको। सूरज पूरब से पच्छिम में उग आए, तो भी जयाचार्य ऐसा कार्य नहीं कर सकते। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मेरे विश्वास में कोई अंतर नही है। आप इस घटना की जांच करें। आपने जांच किए बिना, सही स्थिति का पता लगाए बिना यह आदेश-पत्र कैसे लिख दिया ?'

अब महाराजा तख्तसिंह के मन में अपने अनालोचित कार्य पर अनुताप का भाव जाग उठा।

भंडारीजी महाराजा के चेहरे को पढ़ रहे थे। उन्होंने कहा—'क्या जयाचार्य को पकड़ना इतना सरल कार्य लगा आपको ? क्या यह एक समस्या नहीं बन जाएगी ? जयाचार्य के प्रति हजारों-हजारों लोग समर्पित है। क्या वे आप द्वारा किए गए इस अन्याय का प्रतिरोध नही करेंगे ? क्या वे अपने गुरु के लिए प्राण निछावर करने के लिए कटिबद्ध नही होंगे ? क्या आपके घुड़सवार सिपाही उनके सामने टिक पाएंगे ? आपको पता है, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह और उनके युवराज जवानसिंह, जिन्हें गुरु के रूप में सम्मान देते हैं, जयपुर नरेश सवाई रामसिंह जिनके चरणों में बैठ तत्त्वचर्चा करते है, सैकडों सामंत और ठाकुर जिनको वंदना करते है, उन जयाचार्य के प्रति आप ने ऐसा व्यवहार कैसे किया ? मेरे दिल में प्रज्वलित आग को शांत करने के लिए ही मुझे इस समय आना पड़ा, महाराज ! क्षमा करें।'

महाराजा तख्तसिंह ने तत्काल स्याही और कलम मंगाई। पहले आदेश-पत्र को रद्द करने वाला दूसरा आदेश-पत्र लिख कर भंडारीजी के हाथों में थमा दिया और कहा—'यह पहले पहुंचे, ऐसी व्यवस्था करो। मुझे हर्ष है कि तुमने मुझे एक भयंकर अपराध से बचा लिया।'

भंडारीजी ने घुड़सवारों की व्यवस्था कर अपने पुत्र किशनमल भंडारी के नेतृत्व में उन्हें लाडनूं के लिए विदा कर दिया। उन्हें एक संतोष का अनुभव हुआ।

तख्तसिंहजी के आदेश-पत्र की वात लाडनूं के श्रावकों तक पहुंच चुकी थी। उस समय जयाचार्य दूलजी (दुलीचंद) दूगड़ की हवेली में विराज रहे थे। दूलजी ने लाडनूं के श्रावक समाज को इकट्ठा कर सारी स्थिति से परिचित करा दिया। सव लोग पूरी सज्जा के साथ उस हवेली के पास इकट्ठे हो गए। दूलजी ने सैकड़ों मोयल जाति के राजपूतों के साथ दरवाजे की नाकावंदी कर ली। उन्होने कहा—मेरे शरीर में जव तक प्राण हैं तव तक कोई भी व्यक्ति जयाचार्य की ओर टेढ़ी आंख करके नही देख सकता।

आचार्यवर अपने आप में अविचल थे। न उन्हें पकड़े जाने का भय था और न उन्हें शिकायत थी जोधपुर नरेश के अविचारित व्यवहार के प्रति। उन्होंने श्रावकों से भी अक्षुब्ध रहने के लिए कहा, पर उनकी भूमिका दूसरी थी। वे जयाचार्य की भूमिका तक नही पहुंच पा रहे थे।

भंडारी किशनमलजी के नेतृत्व में आने वाले घुड़सवार लाडनूं में पहले पहुंचे। लोगों ने उन्हें देखा और वे उनका प्रतिरोध करने के लिए सन्नद्ध हो गए। भंडारी किशनमलजी आगे वढ़े। उन्हें देख भीड़ शात हो गई। भंडारी किशनमलजी सीधे जयाचार्य के पास पहुंचे। प्रमुख लोगों को वहां एकत्रित कर उन्होने दूसरा आदेश-पत्र पढाया। सारी स्थिति की जानकारी दी। पूरे श्रावक समाज ने संतोष की सास ली। हवेली के दरवाजे के वाहर खड़ी भीड़ को सारी स्थिति वताई। संकट के टल जाने की घोषणा की। सव लोग अपने-अपने घरों मे चले गए। जयाचार्य के अंतर्वल और भंडारी वादरमलजी के मनोवल और सूझ-बूझ से एक अहेतुक दुर्घटना होते-होते टल गई।

कुछ दिनों वाद भंडारी वादरमलजी दर्शन करने आए। आचार्यवर ने उनकी श्रद्धा और शासन-सेवा का उल्लेख कर जोधपुर में चातुर्मासिक प्रवास करने की स्वीकृति दी।[1] आचार्यवर ने कहा—भंडारीजी ने धर्म की इतनी वड़ी प्रभावना की है कि इन पर वड़े से वड़ा अनुग्रह किया जा सकता है, पर हमारे श्रावक अनुग्रह पाने के लिए काम नहीं करते। वे धर्म को अपना मान कर काम करते हैं। यह हमारे धर्म की विशेषता है। आचार्यवर का आशीर्वाद प्राप्त कर भंडारीजी ने परम आनंद का अनुभव किया।

१ (क) [illegible]
(ख) [illegible]

सं० १९२४ की घटना है। जयाचार्य लाडनूं में विराज रहे थे। वहां एक कन्या आचार्यवर के चरणों में दीक्षित होना चाहती थी। उसका नाम था भूरां, जाति थी सरावगी। कन्या बहुत बुद्धिमान और विवेक वाली थी। उसकी सगाई हो चुकी थी। उसके माता-पिता दीक्षा की अनुमति देने को तैयार थे, पर संभाविन ससुराल वाले कन्या को दीक्षित करना नही चाहते थे। वे इस मामले को जोधपुर राज्य के उच्च अधिकारियों तक ले गए। उन्होंने प्रार्थना की—यह दीक्षा रोकी जाए। उस समय देशी रियासतों में ब्रिटिश शासन की ओर से एक रेजिडेंट रहता था। यह वात उस तक पहुंच गई।

भंडारी बादरमलजी ने रेजिडेंट को वस्तुस्थिति से परिचित कराया। भंडारीजी के प्रयत्न से राज्य सरकार ने उस स्थिति की जांच के लिए एक पर्यवेक्षक दल भेजने का निर्णय किया। वह लाडनू पहुंचा। उसने कन्या से बातचीत की। उसके मुखिया ने कहा—तुम साध्वी किसके दवाव से वनती हो?

—दबाव किसी का नही है। अपनी इच्छा से बन रही हूं।

—क्यों वन रही हो?

—मेरी अंतर्-आत्मा की प्रेरणा है, इसलिए वन रही हूं।

—क्या तुम साध्वी वनने के विचार को छोड़ शादी करोगी?

—मैं अपना विचार वदल सकती हूं, यदि आप दायित्व ले कि मै विधवा नही होऊंगी।

—यह दायित्व हम नहीं ले सकते।

—तो मै अपना विचार भी नहीं वदल सकती।

पर्यवेक्षक दल प्रणत था उस कन्या के सामने। उसने राज्य सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। उसमें था—'दीक्षा सर्वथा आपत्ति से रहित है।'

फाल्गुन कृष्णा छठ को दीक्षा संपन्न हो गई। आचार्यवर लाडनू से विहार कर वीदासर पधार गए। वहां किशनमलजी भंडारी ने दर्शन किए। आचार्यवर ने भंडारी वादरमलजी के प्रयत्न की सराहना की। किशनमलजी ने कहा—हम शासन के सेवक है। यह प्रयत्न हमारे अपने ही हित के लिए है। इसमें कोई विशेष वात नहीं है। मेरी एक प्रार्थना है कि आप मेरे पिताश्री पर अनुग्रह करे और सं० १९२५ का चातुर्मासिक प्रवास जोधपुर

में विताएं। आचार्यवर प्रसन्नमुद्रा में थे। उन्होंने भंडारी किशनमलजी की प्रार्थना स्वीकार कर जोधपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।[1]

आचार्यवर ने पांच वर्षों में दो चातुर्मास जोधपुर में विताए। दोनों ही वहुत प्रभावशाली रहे। प्रथम चातुर्मास संपन्न होने पर विशाल जुलूस के साथ आचार्यवर ने प्रस्थान किया। फिर प्रवचन किया। उस समय परिषद् में दो हजार श्रोताओं की उपस्थिति थी। स्थानकवासी समाज के एक प्रमुख व्यक्ति ने उसे आश्चर्यजनक वतलाया।[2] उस समय पैसे का भी मूल्य था और आदमी का भी मूल्य था। उस समय के दस हजार रुपयों का मूल्य आज दस लाख है। उस समय के दो हजार श्रोताओं की उपस्थिति आश्चर्यजनक हो सकती है, आज वीस हजार की भीड़ भी विस्मय पैदा नहीं करती।

भंडारीजी ने पीपाड में आचार्यवर के दर्शन किए। तीन सौ व्यक्ति उनके साथ थे। रथों और घोड़ों की एक छोटी सी सेना जैसी लग रही थी।[3] दूसरी वार भी पीपाड़ में ही दर्शन किए वैसे ही वड़े परिवार के साथ।[4]

नगराजजी वैगानी वीदासर के प्रमुख व्यक्ति थे। वे रहस्यपूर्ण व्यक्ति थे। नगराजजी जयाचार्य के रहस्यमय व्यक्तित्व के साथ में जुड़े हुए थे। कहा जाता है, उनके इष्ट सिद्ध था। वे अपने इष्ट से कुछ सूचनाएं प्राप्त कर जयाचार्य को निवेदन कर देते। आचार्यवर उनकी तुलना भ० महावीर के तुंगियानगरी के श्रावकों से किया करते थे। एक वार किसी साधु ने कह दिया—नगराजजी गधा है। यह रहस्यों की वातों को क्या जानता है? जयाचार्य को इसका पता चला। उस साधु को बुलाकर कहा—तुम रहस्य को जानते हो? 'मैं नहीं जानता' उस साधु ने कहा। आचार्यवर ने [illegible] तुम स्वयं रहस्यविद् नहीं हो तब दूसरे के बारे में [illegible] रहस्यों को नहीं जानता। साधु ने अविचारित बात [illegible] सामने आने पर वह उसका उत्तर नहीं दे सका। [illegible]

---

१. तै. आ० ख. २, पृ १५५ [जयसुयश, [illegible]]
२. तै. आ ख. २, पृ १०६ [[illegible]]
३. तै. आ. ख. २ पृ. १४८ [[illegible]]
४. तै. आ ख. २, पृ. १५५ [जयसुयश, [illegible]]

सं० १९२४ की घटना है। जयाचार्य लाडनूं में विराज रहे थे। वहां एक कन्या आचार्यवर के चरणों में दीक्षित होना चाहती थी। उसका नाम था भूरां, जाति थी सरावगी। कन्या बहुत बुद्धिमान और विवेक वाली थी। उसकी सगाई हो चुकी थी। उसके माता-पिता दीक्षा की अनुमति देने को तैयार थे, पर संभाविन ससुराल वाले कन्या को दीक्षित करना नही चाहते थे। वे इस मामले को जोधपुर राज्य के उच्च अधिकारियो तक ले गए। उन्होंने प्रार्थना की—यह दीक्षा रोकी जाए। उस समय देशी रियासतों में ब्रिटिश शासन की ओर से एक रेजिडेंट रहता था। यह वात उस तक पहुंच गई।

भंडारी बादरमलजी ने रेजिडेंट को वस्तुस्थिति से परिचित कराया। भंडारीजी के प्रयत्न से राज्य सरकार ने उस स्थिति की जांच के लिए एक पर्यवेक्षक दल भेजने का निर्णय किया। वह लाडनूं पहुंचा। उसने कन्या से बातचीत की। उसके मुखिया ने कहा—तुम साध्वी किसके दवाव से बनती हो ?

—दबाव किसी का नही है। अपनी इच्छा से वन रही हूं।

—क्यों वन रही हो ?

—मेरी अंतर्-आत्मा की प्रेरणा है, इसलिए वन रही हूं।

—क्या तुम साध्वी बनने के विचार को छोड़ शादी करोगी ?

—मैं अपना विचार वदल सकती हूं, यदि आप दायित्व ले कि मै विधवा नहीं होऊंगी।

—यह दायित्व हम नहीं ले सकते।

—तो मै अपना विचार भी नहीं वदल सकती।

पर्यवेक्षक दल प्रणत था उस कन्या के सामने। उसने राज्य सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। उसमें था—'दीक्षा सर्वथा आपत्ति से रहित है।'

फाल्गुन कृष्णा छठ को दीक्षा संपन्न हो गई। आचार्यवर लाडनूं से विहार कर वीदासर पधार गए। वहा किशनमलजी भंडारी ने दर्शन किए। आचार्यवर ने भंडारी वादरमलजी के प्रयत्न की सराहना की। किशनमलजी ने कहा—हम शासन के सेवक है। यह प्रयत्न हमारे अपने ही हित के लिए है। इसमें कोई विशेष वात नही है। मेरी एक प्रार्थना है कि आप मेरे पिताश्री पर अनुग्रह करें और सं० १९२५ का चातुर्मासिक प्रवास जोधपुर

में विताएं। आचार्यवर प्रसन्नमुद्रा में थे। उन्होंने भंडारी किशनमलजी की प्रार्थना स्वीकार कर जोधपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।[1]

आचार्यवर ने पांच वर्षों में दो चातुर्मास जोधपुर में विताए। दोनों ही वहुत प्रभावशाली रहे। प्रथम चातुर्मास संपन्न होने पर विशाल जुलूस के साथ आचार्यवर ने प्रस्थान किया। फिर प्रवचन किया। उस समय परिषद् में दो हजार श्रोताओं की उपस्थिति थी। स्थानकवासी समाज के एक प्रमुख व्यक्ति ने उसे आश्चर्यजनक वतलाया।[2] उस समय पैसे का भी मूल्य था और आदमी का भी मूल्य था। उस समय के दस हजार रुपयों का मूल्य आज दस लाख है। उस समय के दो हजार श्रोताओं की उपस्थिति आश्चर्यजनक हो सकती है, आज वीस हजार की भीड़ भी विस्मय पैदा नहीं करती।

भंडारीजी ने पीपाड में आचार्यवर के दर्शन किए। तीन सौ व्यक्ति उनके साथ थे। रथों और घोड़ों की एक छोटी सी सेना जैसी लग रही थी।[3] दूसरी वार भी पीपाड़ में ही दर्शन किए वैसे ही वड़े परिवार के साथ।[4]

नगराजजी वैगानी वीदासर के प्रमुख व्यक्ति थे। वे रहस्यपूर्ण व्यक्ति थे। नगराजजी जयाचार्य के रहस्यमय व्यक्तित्व के साथ में जुड़े हुए थे। कहा जाता है, उनके इष्ट सिद्ध था। वे अपने इष्ट से कुछ सूचनाएं प्राप्त कर जयाचार्य को निवेदन कर देते। आचार्यवर उनकी तुलना भ० महावीर के तुंगियानगरी के श्रावकों से किया करते थे। एक वार किसी साधु ने कह दिया—नगराजजी गधा है। यह रहस्यों की वातों को क्या जानता है? जयाचार्य को इसका पता चला। उस साधु को बुलाकर कहा—तुम रहस्य को जानते हो? 'मैं नहीं जानता' उस साधु ने कहा। आचार्यवर ने कहा—तुम स्वयं रहस्यविद् नहीं हो तव दूसरे के वारे में कैसे कह सकते हो कि वह रहस्यों को नहीं जानता। साधु ने अविचारित वात कही थी। [illegible] सामने आने पर वह उसका उत्तर नहीं दे सका। आचार्यवर ने उसे [illegible]

१. तै. आ० ४. २, पृ १५५ [illegible]
२. तै. आ. ४. २, पृ. १४८ [illegible]
३. तै. आ. ४. २ पृ. १४८ [illegible]
४. तै. आ. ४. २, पृ. १५५ [illegible]

के स्वर में कहा—'तुम्हें बिना विचारे, बिना सोचे-समझे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।'

जयपुर का सिघड़ परिवार अर्थ-संपदा और धर्म-संपदा—दोनों से काफी संपन्न रहा। इस परिवार ने आचार्य भिक्षु से गुरु-दीक्षा ली और यह सदा शासन की सेवा करता रहा। लाला भेरू लालजी जयाचार्य के परम भक्त थे। आचार्यवर ने उनकी भक्ति से प्रसन्न हो प्रथम चातुर्मास जयपुर में बिताया। लालाजी पदयात्रा में साथ रहते। पूरा घर जैसे चलता, गाएं भी साथ में चलती। लालाजी का देहावसान आचार्यवर के स्वर्गवास से कुछ दिन पूर्व ही हुआ था। आचार्यवर ने अंतिम समय में उन्हें चित्तसमाधि की प्रेरणा दी। उनकी समाधि के साक्षी रहे।[1]

मोखजी उदयपुर के प्रतिष्ठित नागरिक थे। महाराणा सरूपसिंह के कृपापात्र और कुशल प्रशासक। प्रारंभ में वे आचार्यवर के शिष्य नहीं थे। वे अपनी मा की प्रेरणा से बने थे। मां ने कहा—तू जयाचार्य के पास गुरु-दीक्षा नही लेगा, तो मै भोजन नही करूंगी। मां के इस आग्रह पर उस विनयी पुत्र ने जयाचार्य के पास गुरु-दीक्षा ली। उसके पश्चात् वे जयाचार्य के बड़े भक्त बन गए। उदयपुर के महाराणा सरूपसिंह और जयाचार्य के बीच वे संपर्क-सूत्र बने हुए थे।

---

१. ते. आ. च. २, पृ. १८४ [जयसुजश, ६२।६-१२]

४०

मनोबल की प्रेरक घटनाएं

जयाचार्य महान् मनोबली थे। उनका आभा-मंडल शक्तिशाली था। उसकी रश्मियां आस-पास के वातावरण में विकीर्ण हो रही थीं। उनके शासन-काल में मनोबल की अनेक घटनाएं घटित हुईं। कुछ घटनाओं का प्रसंग के अनुसार उल्लेख हो चुका है। यहा दीर्घकालीन उपवास की चर्चा प्रस्तुत है।

उपवास संकल्पबल और मनोबल का जीवंत निदर्शन है। शरीरबली एक उपवास करने में भी अपने आप को असमर्थ पाता है, वहा मनोबली पुरुष बड़ी प्रसन्नता के साथ दीर्घकाल तक निराहार रह जाता है।

सं० १९१५ की घटना है। जयाचार्य लाडनूं में प्रवास कर रहे थे। तपस्वी मुनि अनोपचंदजी ने प्रार्थना की—आचार्यवर ! कल से एक मासिक (तीस दिन का) उपवास करना चाहता हूं। आचार्यवर ने स्वीकृति दे दी। सांझ के समय महासती सरदारांजी आईं। उन्होंने कहा—तपस्वीवर ! भिक्षा में घी कुछ अधिक आ गया है। आपको वह लेना होगा। तपस्वी बोले—मैं आहार कर चुका हूं। महासती ने कहा—आप तपस्वी हैं, घी को पचा सकते हैं। इसलिए वह लेना होगा। तपस्वी उनका अनुरोध स्वीकार कर लगभग एक सेर घी कड़ी में मिला पी गए। रात के समय [illegible] गया। अतिरिक्त मात्रा में मलोत्सर्ग हुआ। प्रातःकाल [illegible] हो गए।

जयाचार्य ने कहा—तपस्वी ! अब एक मासिक [illegible] कर लेना है। आज अस्वस्थ हो, फिर स्वस्थ होने पर [illegible]

तपस्वी बोले—गुरुदेव ! मैंने वह विचार बदल दिया है। अब एक मासिक उपवास नहीं, छमासी (१८० दिन के) उपवास का विचार मैंने कर लिया है। वे आचार्यवर की सन्निधि में उनके पैर पकड़ कर बैठ गए और छमासी उपवास का संकल्प कराने का प्रबल आग्रह करने लगे।

आचार्यवर—अभी शरीरबल क्षीण हुआ है। इतने लंबे उपवास का संकल्प कैसे कराया जा सकता है ?

तपस्वी—मनोबल बढ़ा है, इसलिए आप शरीरबल की चिंता न करें।

आचार्यवर—मनोबल के साथ शरीरबल भी तो होना चाहिए।

तपस्वी—गुरुदेव ! आपका आत्मिक बल सहारा दे रहा है। मेरा मनोबल मजबूत है। शरीरबल अपने आप बढ़ जाएगा।

शरीरबल पर मनोबल की विजय हुई। आचार्यवर ने छमासी उपवास का संकल्प करा दिया। अब आचार्यवर के चरण तपस्वी के हाथों की पकड़ से मुक्त हुए।

उपवास शुरू हो गया। आछ का जल ले रहे थे। साथ-साथ यात्रा भी शुरू हो गई। तपस्वी लाडनूं से प्रस्थान कर तपस्या की अवधि में मालवा (उज्जैन और इंदोर) पहुंचे। प्रवास-काल में ग्रंथों की प्रतिलिपि भी करते रहे। तपस्या के मध्य लगभग पांच सौ पन्नों की प्रतिलिपि की। राजस्थान में शुरू होने वाला उपवास मध्यप्रदेश में संपन्न हुआ। यह एक निदर्शन है प्राणशक्ति की प्रचंडता का। यह एक गाथा है मनोबल की अपराजेयता की।

साध्वियों के मनोबल की कहानी भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। सं० १९१० की घटना है। जयाचार्य के आचार्य पद की महिमा चारों ओर फैलती जा रही थी। साध्वी दीपांजी पाली में प्रवास कर रही थी। एक श्रावक घी लेकर कही जा रहा था। रास्ते में साध्वीजी का प्रवास-स्थल आया। उसने दर्शन किए और अंतर्भावना प्रकट की—मैं घी का दान देना चाहता हूं। उसकी अंतर्भावना को देख साध्वीजी ने उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया। घी का दान लेने के लिए उन्होंने पात्र रखा। उस भाई ने भावावेश में लगभग ३-४ सेर घी उस पात्र में डाल दिया। साध्वीजी ने पांच-सात साध्वियों को वह घी खिलाया। संध्या का समय हुआ। दीपांजी ने साध्वियों से पूछा—क्या तपस्या करोगी ?

साध्वियां—उपवास कर लेंगी।

दीपांजी—क्या उपवास करोगी ! उपवास का नाम सुन क्या घृत-भोजन लज्जित नही होगा ?

साध्वियां—दो या तीन दिन का उपवास कर लेगी ।

दीपाजी—घृत-भोजन की शोभा कहां बढ़ी ?

चिंतन कुछ आगे बढ़ा। पांच साध्विया एक साथ बोल उठी—हम छमासी (१८० दिन के) उपवास करेगी। अब दीपाजी के मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। उन साध्वियो ने छमासी उपवास का संकल्प स्वीकार किया और साध्वी दीपाजी ने उन्हें वह संकल्प स्वीकार कराया। अद्भत था मनोबल स्वीकृत करने वालों का और अद्भुत था मनोबल स्वीकार कराने वालों का।

जयाचार्य का युग मनोबल के विकास की दृष्टि से स्वर्णिम युग था। जयाचार्य के समय में दीर्घकालीन उपवास करने वालो की लंबी सूची है।' यह सूची उन लोगो की नही है, जिन्होंने उपवास कर खाट को तोड़ा और रात को तारे गिनते रहे। यह सूची उन व्यक्तियों की है, जिनका मनोबल शरीरबल को चुनौती देता रहा। वह आयुर्विज्ञान के सिद्धान्तो को भी चुनौती थी कि केवल आछ के आधार पर मनुष्य इतने लंबे समय तक जी सकता है और प्रबल पुरुषार्थ के साथ जी सकता है। यह एक शोध का विषय है पोषण विशेषज्ञो के लिए और एक विषय है उपवास-चिकित्सा पर गहन अनुशीलन करने वालो के लिए। स्थूल दर्शन से लगता है, जयाचार्य दीर्घकालीन उपवास को प्रोत्साहन दे रहे थे, तपस्वियो की गुण-गाथा गा रहे थे। सूक्ष्म-दर्शन से प्रतीत होता है, वे मनोबल के विकास [illegible] [illegible] कर रहे थे।

४१

यात्रा और वर्षावास

जैन मुनि और यात्रा दोनों में गहरा संबंध है। मुनि-जीवन शुरू होता है, पद-यात्रा शुरू हो जाती है। कहीं भी स्थिरवास न करना और वाहन पर न चढ़ना—ये उसकी यात्रा की विशेष प्रवृत्तिया है। जयाचार्य जंघाबली थे। दीक्षित होते ही उनकी यात्रा शुरू हो गई। उनकी कुछ यात्राएं काफी लंबी और महत्त्वपूर्ण थीं। सं० १८८९ में उन्होंने चौदह सौ मील की यात्रा की। दिल्ली में चातुर्मासिक प्रवास कर जयपुर पहुंचे। वहां से मेवाड़, मेवाड़ से फिर मारवाड़, मारवाड़ से फिर मेवाड़, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ की यात्रा की। वहां से प्रस्थान कर मारवाड़ पहुंचे। बालोतरा में चातुर्मासिक प्रवास किया।[1] इस प्रकार आठ मास की अवधि में उन्होंने दो हजार दो सौ चालीस किलोमीटर की यात्रा संपन्न की। बीदासर से बीकानेर की ग्रीष्मकालीन यात्रा केवल एक सौ बारह किलोमीटर की थी, पर वह कसौटी की यात्रा थी।

मालवा की यात्रा उन्होने दो बार की। एक बार ऋषिराय के साथ और दूसरी बार आचार्य अवस्था में। धर्मप्रसार की दृष्टि से वे दोनो यात्राएं बहुत महत्त्वपूर्ण रहीं।

आचार्यवर ने अपने जीवन-काल में पचास हजार किलोमीटर की यात्रा की। उनके वर्षावास की तालिका इस प्रकार है—

---

१. ते. बा. ख. २, पृ. ८४-८७ [जयसुजस, ढा० १६]।

अग्रणी अवस्था के १३ चातुर्मास

संवत	स्थान	संवत्	स्थान
१८८२	उदयपुर	१८८८	वीकानेर
१८८३	नाथद्वारा	१८८९	दिल्ली
१८८४	पेटलावद (ऋषिराय के साथ)	१८९०	वालोतरा
१८८५	जयपुर	१८९१	फलोदी
१८८६	जोधपुर	१८९२	लाडनूं
१८८७	चूरू	१८९३	वीकानेर
		१८९४	पाली

युवाचार्य अवस्था के १४ चातुर्मास

संवत	स्थान	संवत्	स्थान
१८९५	लाडनूं	१९०२	किसनगढ़
१८९६	चूरू	१९०३	नाथद्वारा
१८९७	उदयपुर	१९०४	जयपुर
१८९८	जयपुर	१९०५	उदयपुर
१८९९	बीदासर (ऋषिराय के साथ)	१९०६	बीकानेर
१९००	लाडनूं	१९०७	बीकानेर
१९०१	जयपुर	१९०८	बीदासर

४१

यात्रा और वर्षावास

जैन मुनि और यात्रा दोनों में गहरा संबंध है। मुनि-जीवन शुरू होता है, पद-यात्रा शुरू हो जाती है। कहीं भी स्थिरवास न करना और वाहन पर न चढ़ना—ये उसकी यात्रा की विशेष प्रवृत्तियां हैं। जयाचार्य जंघाबली थे। दीक्षित होते ही उनकी यात्रा शुरू हो गई। उनकी कुछ यात्राएं काफी लंबी और महत्त्वपूर्ण थी। सं० १८८९ में उन्होंने चौदह सौ मील की यात्रा की। दिल्ली में चातुर्मासिक प्रवास कर जयपुर पहुंचे। वहां से मेवाड़, मेवाड़ से फिर मारवाड़, मारवाड़ से फिर मेवाड़, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ की यात्रा की। वहा से प्रस्थान कर मारवाड़ पहुंचे। वालोतरा में चातुर्मासिक प्रवास किया।[1] इस प्रकार आठ मास की अवधि में उन्होंने दो हजार दो सौ चालीस किलोमीटर की यात्रा संपन्न की। वीदासर से वीकानेर की ग्रीष्मकालीन यात्रा केवल एक सौ वारह किलोमीटर की थी, पर वह कसौटी की यात्रा थी।

मालवा की यात्रा उन्होंने दो वार की। एक वार ऋषिराय के साथ और दूसरी वार आचार्य अवस्था में। धर्मप्रसार की दृष्टि से वे दोनो यात्राएं वहुत महत्त्वपूर्ण रहीं।

आचार्यवर ने अपने जीवन-काल में पचास हजार किलोमीटर की यात्रा की। उनके वर्षावास की तालिका इस प्रकार है—

१. ते. आ. खं. २, पृ. ८४-८७ [जयसुजश, ढा० १६]।

अग्रणी अवस्था के १३ चातुर्मास

संवत	स्थान	संवत्	स्थान
१८८२	उदयपुर	१८८८	बीकानेर
१८८३	नाथद्वारा	१८८९	दिल्ली
१८८४	पेटलावद (ऋषिराय के साथ)	१८९०	बालोतरा
१८८५	जयपुर	१८९१	फलौदी
१८८६	जोधपुर	१८९२	लाडनूं
१८८७	चूरू	१८९३	बीकानेर
		१८९४	पाली

युवाचार्य अवस्था के १४ चातुर्मास

संवत	स्थान	संवत्	स्थान
१८९५	लाडनूं	१९०२	किसनगढ़
१८९६	चूरू	१९०३	नाथद्वारा
१८९७	उदयपुर	१९०४	जयपुर
१८९८	जयपुर	१९०५	उदयपुर
१८९९	बीदासर (ऋषिराय के साथ)	१९०६	बीकानेर
१९००	लाडनूं	१९०७	बीकानेर
१९०१	जयपुर	१९०८	बीदासर

आचार्य अवस्था के ३० चातुर्मास

संवत	स्थान	संवत्	स्थान
१९०९	जयपुर	१९२४	सुजानगढ
१९१०	नाथद्वारा	१९२५	जोधपुर
१९११	रतलाम	१९२६	बीदासर
१९१२	उदयपुर	१९२७	लाडनूं
१९१३	पाली	१९२८	जयपुर
१९१४	बीदासर	१९२९	बीदासर
१९१५	लाडनूं	१९३०	बीदासर
१९१६	सुजानगढ	१९३१	सुजानगढ
१९१७	बीदासर	१९३२	लाडनूं
१९१८	लाडनूं	१९३३	लाडनूं
१९१९	सुजानगढ	१९३४	लाडनूं
१९२०	चूरू	१९३५	बीदासर
१९२१	जोधपुर	१९३६	बीदासर
१९२२	पाली	१९३७	जयपुर
१९२३	बीदासर	१९३८	जयपुर

यात्रा में श्रम अधिक होता है, तेज धूप से शरीर का रंग भी बदल जाता है। कभी-कभी पहचानने में भी कठिनाई हो जाती है। जयाचार्य अग्रणी अवस्था में गुजरात की लंबी यात्रा के बाद जसोल पहुंचे। वहां के सभी जैन बंधु तेरापंथ धर्मसंघ के अनुयायी थे। जयाचार्य बाजार मे खड़े थे। कोई भी व्यक्ति उनके स्वागत में खड़ा नही हुआ और न किसी ने वंदना की। ठहरने के स्थान के बारे में पूछा तो उत्तर मिला कि 'आगे जाओ।'

जयाचार्य और उनके सहवर्ती साधुओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे लोगों की मन:स्थिति समझ नहीं सके। 'आगे जाओ, आगे जाओ' यह सुनते-सुनते वे गांव के इस छोर से उस छोर तक चले गए, पर लोग उन्हें नहीं समझ सके। यह यात्रा का ही प्रभाव था कि लोग अपने साधुओं को पहचान नहीं सके। किसी स्रोत से पता चला, तब वे एक-दूसरे को कहने लगे कि हमारी आंखों ने हमें धोखा दे दिया। यह धोखा उनकी आंखों ने दिया या बदले हुए रंग ने ?

४२

स्वास्थ्य

जयाचार्य नौ वर्ष की अवस्था में भयंकर व्याधि से पीड़ित हो गए। गला रुंध गया। खाना-पीना कठिन हो गया। दीक्षा का संकल्प किया। वे स्वस्थ हो गए।

लंबी-लंबी यात्राओ, यात्रा में होने वाली कठिनाइयों के होने पर भी स्वास्थ्य ने सदा उनका साथ दिया। सं०१९१२ में उनकी आखों में कुछ गड़बड़ी हुई। कुछ समय बाद आयुर्वेदिक चिकित्सा से वह ठीक हो गई।[1]

दुबले-पतले शरीर मे बलवान् आत्मा का निवास था। मानसिक स्वास्थ्य सदा अच्छा था, इसलिए शारीरिक स्वास्थ्य प्रायः अच्छा रहा। वृद्धावस्था में कभी-कभी अस्वस्थता हो जाती।

सं० १९३० में आचार्यवर बीदासर में विराज रहे थे। जेठ और आषाढ़ इन दो महीनो में आचार्यवर के शरीर में ज्वर का भारी प्रकोप रहा। अन्न की अरुचि हो गई। शक्ति क्षीण हो गई। विहार नहीं हो सका। सं० १९२९ का चातुर्मास-प्रवास बीदासर में हुआ था, किन्तु शारीरिक दुर्बलता के कारण १९३० का चातुर्मास भी वहीं करना पड़ा।[2]

सं० १९२९ मे आंखो में मोतिया उतर आया। उस समय वैद्य या डाक्टर के द्वारा शल्य-चिकित्सा कराने की परंपरा नहीं थी, इसलिए मुनि कालूजी ने आचार्यवर के नेत्रो की शल्य-चिकित्सा की। घटना इस प्रकार घटित हुई कि जिस समय शल्य-चिकित्सा की जा रही थी, उस समय आकाश

---

१ जै. आ. ध. २ पृ. २१८ [जयानुयश ढा० ६।दो० ४]

२. जै. आ. ध. २ पृ. १६८ [जयसुजश ५५ । १८,२०]

आचार्य अवस्था के ३० चातुर्मास

संवत	स्थान	संवत्	स्थान
१९०९	जयपुर	१९२४	सुजानगढ
१९१०	नाथद्वारा	१९२५	जोधपुर
१९११	रतलाम	१९२६	बीदासर
१९१२	उदयपुर	१९२७	लाडनूं
१९१३	पाली	१९२८	जयपुर
१९१४	बीदासर	१९२९	बीदासर
१९१५	लाडनूं	१९३०	बीदासर
१९१६	सुजानगढ	१९३१	सुजानगढ
१९१७	बीदासर	१९३२	लाडनूं
१९१८	लाडनूं	१९३३	लाडनूं
१९१९	सुजानगढ	१९३४	लाडनूं
१९२०	चूरू	१९३५	बीदासर
१९२१	जोधपुर	१९३६	बीदासर
१९२२	पाली	१९३७	जयपुर
१९२३	बीदासर	१९३८	जयपुर

यात्रा में श्रम अधिक होता है, तेज धूप से शरीर का रंग भी वदल जाता है। कभी-कभी पहचानने में भी कठिनाई हो जाती है। जयाचार्य अग्रणी अवस्था में गुजरात की लंवी यात्रा के वाद जसोल पहुंचे। वहां के सभी जैन बंधु तेरापंथ धर्मसंघ के अनुयायी थे। जयाचार्य वाजार में खड़े थे। कोई भी व्यक्ति उनके स्वागत में खड़ा नही हुआ और न किसी ने वंदना की। ठहरने के स्थान के वारे में पूछा तो उत्तर मिला कि 'आगे जाओ।'

जयाचार्य और उनके सहवर्ती साधुओं को वड़ा आश्चर्य हुआ। वे लोगों की मन:स्थिति समझ नही सके। 'आगे जाओ, आगे जाओ' यह सुनते-सुनते वे गांव के इस छोर से उस छोर तक चले गए, पर लोग उन्हें नहीं समझ सके। यह यात्रा का ही प्रभाव था कि लोग अपने साधुओं को पहचान नहीं सके। किसी स्रोत से पता चला, तव वे एक-दूसरे को कहने लगे कि हमारी आंखों ने हमे धोखा दे दिया। यह धोखा उनकी आंखों ने दिया या वदले हुए रंग ने ?

४२

स्वास्थ्य

जयाचार्य नौ वर्ष की अवस्था में भयंकर व्याधि से पीड़ित हो गए। गला रुंध गया। खाना-पीना कठिन हो गया। दीक्षा का संकल्प किया। वे स्वस्थ हो गए।

लंवी-लंवी यात्राओ, यात्रा में होने वाली कठिनाइयों के होने पर भी स्वास्थ्य ने सदा उनका साथ दिया। सं०१९१२ मे उनकी आखों में कुछ गड़वड़ी हुई। कुछ समय वाद आयुर्वेदिक चिकित्सा से वह ठीक हो गई।[1]

दुवले-पतले शरीर मे वलवान् आत्मा का निवास था। मानसिक स्वास्थ्य सदा अच्छा था, इसलिए शारीरिक स्वास्थ्य प्रायः अच्छा रहा। वृद्धावस्था में कभी-कभी अस्वस्थता हो जाती।

सं० १९३० में आचार्यवर वीदासर मे विराज रहे थे। जेठ और आषाढ़ इन दो महीनो में आचार्यवर के शरीर में ज्वर का भारी प्रकोप रहा। अन्न की अरुचि हो गई। शक्ति क्षीण हो गई। विहार नहीं हो सका। सं० १९२९ का चातुर्मास-प्रवास वीदासर में हुआ था, किन्तु शारीरिक दुर्वलता के कारण १९३० का चातुर्मास भी वही करना पड़ा।[2]

स० १९२९ मे आंखों मे मोतिया उतर आया। उस समय वैद्य या डाक्टर के द्वारा शल्य-चिकित्सा कराने की परंपरा नहीं थी, इसलिए मुनि कालूजी ने आचार्यवर के नेत्रों की शल्य-चिकित्सा की। घटना इस प्रकार घटित हुई कि जिस समय शल्य-चिकित्सा की जा रही थी, उस समय आकाश

---

१. जे. आ. प. २ पृ. २१८ [नयानुयश ग० ६।दो० ४]

२. जे. आ. प. २ पृ. १६८ [जयसुजश ५५ । १९,२०]

में बादल मंडराए हुए थे। आवास-स्थान के भीतर पूरा प्रकाश नहीं था, इसलिए शल्य-चिकित्सा खुले आकाश में की जा रही थी। जैसे ही मुनि कालूजी ने आंख में अस्त्र डाला वैसे ही बूंदे गिरने लगीं। आचार्यवर तत्काल उठ खड़े हुए। वर्षा के समय बाहर खुले में रहने की विधि नहीं है, इसलिए वे आवास के भीतर चले गए। वहां शल्य-चिकित्सा हुई, पर उस व्यवधान के कारण कुछ कमी रह गई। उनका विहार-क्षेत्र सीमित हो गया। दीर्घ-यात्री आचार्यवर आठ वर्ष की अवधि में तीस किलोमीटर की सीमा में विहार करते रहे। चातुर्मासिक प्रवास की तालिका से यह स्पष्ट है—

संवत्	गांव
१९२९	बीदासर
१९३०	,,
१९३१	सुजानगढ
१९३२	लाडनूं
१९३३	,,
१९३४	,,
१९३५	बीदासर
१९३६	,,

सं० १९३६ के फाल्गुन मास में आचार्यवर सुजानगढ में विराज रहे थे। वहां लाला भेरूंलालजी ने दर्शन किए। उन्होंने आचार्यवर से जयपुर पधारने की प्रार्थना की। आचार्यवर ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। आचार्यवर की शारीरिक शक्ति क्षीण थी। पद-विहार द्वारा जयपुर तक जाना संभव नहीं था। उस स्थिति में 'सुखपाल' (डोली या पालकी) का प्रयोग किया गया। मुनियों ने कंवलों को काठ के डांडों से वांधकर सुखपाल वना लिया। उसमें आचार्यवर विराज जाते। उसे मुनि ही अपने कंधों पर उठाते। यह कार्य चार मुनियो ने वड़ी श्रद्धा के साथ किया। उनके नाम ये हैं—१. मुनि मयाचंदजी, २. मुनि रामसुखजी, ३. मुनि छवीलजी, ४. मुनि ईसरजी। आचार्यवर ने उनकी सेवा का मूल्याकन करते हुए, उनके श्रम का ध्यान रखते हुए उनके लिए 'पक्का पेटिया' देने का अनुग्रह किया। इस व्यवस्था के अनुसार उन चारों मुनियों को आहार, विभाग से पूर्व, सामुदायिक आहार से यथेष्ट दूध, घी आदि दिया जाता।

चैत्र शुक्ला अष्टमी को आचार्यवर ने जयपुर में प्रवेश किया। लाला भेरूंलालजी की हवेली में उनका प्रवास हुआ। चातुर्मास संपन्न हो गया। आचार्यवर जयपुर के आसपास ही विहार करते रहे। जेठ का महीना आया। ग्रीष्म ऋतु ने अपने पांव फैलाने शुरू कर दिए। चिलचिलाती धूप ने लोगों को घर में रहने को विवश कर दिया। जयपुर के लंबे-चौड़े रास्ते और अधिक बड़े लगने लगे। ताप में संताप की स्थिति वनी। आचार्यवर के गले में एक गाठ उभर आई। जैसे-जैसे वह वढ़ी वैसे-वैसे वेदना भी वढ़ी। आषाढ़ मास में वह पक कर फूट गई। शारीरिक शक्ति वहुत कम हो गई। स्वास्थ्य में कोई सुधार नही हुआ। अन्न की अरुचि हो गई। अतिसार हो गया। श्रावण के शुक्ल पक्ष में शल्य-क्रिया द्वारा गाठ का मुह चौड़ा किया गया। काफी मवाद निकला। ज्वर रहने लगा। इस अवस्था में ही उनका स्वर्गवास हुआ।

शरीर के रुग्ण हो जाने पर भी उनका चैतसिक स्वास्थ्य सदा अच्छा रहा। शरीर चित्त को प्रभावित करता है, चित्त शरीर को प्रभावित करता है। दोनों में गहरा संबंध है। पर दोनों एक नही हैं। इसलिए ऐसा भी होता है कि चित्त के स्वस्थ होने पर भी शरीर अस्वस्थ हो जाता है। सभी रोग मनोकायिक नहीं होते। कुछ रोग केवल कायिक ही होते हैं, वाहरी संक्रमणों से होते हैं। आचार्यवर ने शारीरिक रोग भोगा, पर उनके चित्त ने उन रोगों का साथ नहीं दिया। उनकी चैतसिक जागृति सदा वनी रही।

अंतिम समय में उनकी चिकित्सा वैद्य दुर्गाप्रसादजी कर रहे थे। कष्ट-सहिष्णुता और समता अलौकिक थी। जीवन की संध्या में रात्रि के तीन प्रहर स्वाध्याय में विताते, केवल एक प्रहर नीद लेते। स्वाध्याय और ध्यान उनके जीवन के अनन्य सहचर वन गए थे। आचार्यवर की दीर्घ जीवन-यात्रा में लंवा समय स्वस्थ शरीर और स्वस्थ चित्त के योग का वीता। जीवन-संध्या के कुछ वर्षों में शरीर कुछ-कुछ अस्वस्थ रहा, फिर भी उनका चैतसिक स्वास्थ्य उत्तरोत्तर प्रगति करता रहा।

४३

वंदना के स्वर

जयाचार्य अपनी तपस्या द्वारा जन-जन के लिए वंदनीय वन गए थे। सभी जातियों और संप्रदायों के लोग उनके पास आते और उनके ज्ञान की गहराई में निमज्जन करते। वंदना के स्वर अपने आप फूट पड़ते।

जोधपुर निवासी भंडारी सुखराजजी अच्छे कवि थे। उनके पास कवियों का दरवार जुड़ता था। एक दिन एक चारण कवि ने कहा—भंडारीजी! आप जोधपुर नरेश के दरबार मे कविता-पाठ क्यों नहीं करते? उनकी यशोगाथा क्यों नही गाते? भंडारीजी ने कहा—मेरा संकल्प है कि मै अपने गुरु के सिवाय अन्य किसी भी व्यक्ति का यशोगान नही करूंगा।

चारण कवि—कल आपको कविता सुनानी होगी, यशोगान करना होगा। महाराजा के आदेश को आप कैसे टाल सकेंगे?

भंडारीजी—न मेरी कविता होगी और न किसी की यशोगाथा गाऊंगा? तुम्हें जो कुछ करना हो, सो कर लो। उन्होने भाव के प्रवाह में तत्काल एक श्लोक रच कर सुनाया—

> संघ को रंग रच्यो इण अग, प्रसंग विरंग न मो मन भासी।
> ईभ के अम्व चढ्योडो अचंभ, गवेडै रै गल्लर हेत उम्हासी?
> राज को काज करै सुखराज भले पर गाज ओगाज सुणासी।
> छन्द कवन्ध को संघ अमंद ओ नन्द सुणासी जठै ही सुणासी॥

सारे कवि मौन थे। चर्चा वही समाप्त हो गई। भंडारीजी ने अपना संकल्प जीवन-भर निभाया। उन्होंने जयाचार्य की वंदना मे ही अपने आप को समर्पित कर दिया। उन्होंने आचार्यवर की वंदना मे हजारों पद्य लिखे।

निदर्शन के लिए कुछ पद्य प्रस्तुत हैं—

श्याम वरन्न शरीर निको जानु नमि जिनेश्वर आप विराजै ।
वान पियूष भरी जिनकी सब जीव अभै करणी छवि-छाजै ॥
ज्ञान-निधान महान मसीह भये नित जीत गणाधिप गाजै ।
मांडल दूत सबे रहिये, 'सुखराज' फबे सुख-सम्पति काजै ॥
बधता दिन ज्यूं प्रभुता बधती, जिन-शासन शोष घरचो कल से ।
ऋषिराय के पाट विराजत जीत दिवाकर से वरसे जल से ॥
तप तेज लसे 'सुखराज' सदा, कर जोर नमे मन में हुलसे ।
उर ध्याय रहे जग जीत जिको नर ते सुख-सम्पत को विलसे ॥

दीप की माल कहा ? ज्योतित मसाल कहा ?
रोशनी विशाल कहा ? भूपति के ठान की ।
हीरे द्युति श्वेत कहा ? पन्ने छवि देत कहा ?
चिन्तामणि लेत कहा ? ओपम समान की ,।

नक्षत्रन जोत कहा ? चन्द्र को उद्योत कहा ?
भने सुख होत कहा ? प्रभा शुक्र भान की ।
मेट के अज्ञान तिमि ज्ञान को प्रकाश करै,
सवन से अधिक शोभा जीत भगवान की ॥
अम्वन-अंगूर कहा ? खारक खिजूर कहा ?
ईखू-रस पूर कहा ? छेद जू अनार की ।
मधू वर वृन्द कहा ? मिश्री फिर कन्द कहा ?
रिखीश्वर रंध कहा ? प्रपा धन-धार की ॥
दाख-पुञ्ज-सेव कहा ? मिष्ठ गंज मेव कहा ?
कहा 'सुखराज' मीढ अमृत कासार की ॥
सवसे अधिक्क रती जति-पति जीत-वान ।
आन मधुराई वसी, विविध प्रकार की ॥
चक्रवर्ती निधि कहा ? गणपति की सिद्धि कहा ?
सरस्वती बुद्धि कहा ? ऋद्धि सौनन्द की ।
उदधि की लेर कहा ? घन की उमेर कहा ?
'सुखराज' मेर कहा, बधती नरिन्द की ॥

४३

वंदना के स्वर

जयाचार्य अपनी तपस्या द्वारा जन-जन के लिए वंदनीय बन गए थे। सभी जातियों और संप्रदायों के लोग उनके पास आते और उनके ज्ञान की गहराई में निमज्जन करते। वंदना के स्वर अपने आप फूट पड़ते।

जोधपुर निवासी भंडारी सुखराजजी अच्छे कवि थे। उनके पास कवियों का दरवार जुड़ता था। एक दिन एक चारण कवि ने कहा—भंडारीजी ! आप जोधपुर नरेश के दरबार मे कविता-पाठ क्यों नही करते ? उनकी यशोगाथा क्यों नही गाते ? भंडारीजी ने कहा—मेरा संकल्प है कि मैं अपने गुरु के सिवाय अन्य किसी भी व्यक्ति का यशोगान नही करूंगा।

चारण कवि—कल आपको कविता सुनानी होगी, यशोगान करना होगा। महाराजा के आदेश को आप कैसे टाल सकेंगे ?

भंडारीजी—न मेरी कविता होगी और न किसी की यशोगाथा गाऊंगा ? तुम्हें जो कुछ करना हो, सो कर लो। उन्होने भाव के प्रवाह मे तत्काल एक श्लोक रच कर सुनाया—

संघ को रंग रच्यो इण अग, प्रसंग विरंग न मो मन भासी।
ईभ के अम्व चढयोडो अचंभ, गधेडै रै गल्लर हेत उम्हासी ?
राज को काज करै सुखराज भले पर गाज ओगाज सुणासी।
छन्द कवन्ध को संघ अमंद ओ नन्द सुणासी जठै ही सुणासी।।

सारे कवि मौन थे। चर्चा वहीं समाप्त हो गई। भंडारीजी ने अपना संकल्प जीवन-भर निभाया। उन्होने जयाचार्य की वंदना में ही अपने आप को समर्पित कर दिया। उन्होंने आचार्यवर की वंदना में हजारों पद्य लिखे।

निदर्शन के लिए कुछ पद्य प्रस्तुत हैं—

श्याम वरन्न शरीर निको जानु नमि जिनेश्वर आप विराजै ।
वान पियूष भरी जिनकी सव जीव अभै करणी छवि-छाजै ।।
ज्ञान-निधान महान मसीह भये नित जीत गणाधिप गाजै ।
मांडल दूत सबे रहिये, 'सुखराज' फबे सुख-सम्पति काजै ।।
वधता दिन ज्यूं प्रभुता वधती, जिन-शासन शोप धरचो कल से ।
ऋषिराय के पाट विराजत जीत दिवाकर से वरसे जल से ।।
तप तेज लसे 'सुखराज' सदा, कर जोर नमे मन में हुलसे ।
उर ध्याय रहे जग जीत जिको नर ते सुख-सम्पत को विलसे ।।

दीप की माल कहा ? ज्योतित मसाल कहा ?
रोशनी विशाल कहा ? भूपति के ठान की ।
हीरे द्युति श्वेत कहा ? पन्ने छवि देत कहा ?
चिन्तामणि लेत कहा ? ओपम समान की ,।
नक्षत्रन जोत कहा ? चन्द्र को उद्योत कहा ?
भने सुख होत कहा ? प्रभा शुक्र भान की ।
मेट के अज्ञान तिमि ज्ञान को प्रकाश करै,
सवन से अधिक शोभा जीत भगवान की ।।
अम्वन-अंगूर कहा ? खारक खिजूर कहा ?
ईखू-रस पूर कहा ? छेद जू अनार की ।
मधू वर वृन्द कहा ? मिश्री फिर कन्द कहा ?
रिखीश्वर रंध कहा ? प्रपा धन-धार की ।।
दाख-पुन्ज-सेव कहा ? मिष्ठ गंज मेव कहा ?
कहा 'सुखराज' मीढ अमृत कासार की ।।
सवसे अधिक्क रती जति-पति जीत-वान ।
आन मधुराई वसी, विविध प्रकार की ।।
चक्रवर्ती निधि कहा ? गणपति की सिद्धि कहा ?
सरस्वती बुद्धि कहा ? ऋद्धि सौनन्द की ।
उदधि की लेर कहा ? घन की उमेर कहा ?
'सुखराज' मेर कहा, वधनी नरिन्द की ।।

देव-तरु सांख कहा ? कामधेनु लाख कहा ?
हमाउ की पांख कहा ? आंख शुभ इन्द की।
लोक-फल देत तेह, एह 'सुख' मोक्ष देत।
इन ते उदार रीझ, जीत-गण चन्द की ।।

मघवा जयाचार्य के उत्तराधिकारी है। उन्होंने वंदना के विभिन्न स्वरों का संकलन प्रस्तुत किया है—[1]

केई कहे जिन मारग मांही, आप है सूर्य जिसा।
केई कहे म्हारे मते फुन आपरे, पिण होना मुसकिल वलि इसा ।।
केई कहे गणिराज क, जोति स्वरूप है।
केई कहे ए आज क, ईश्वर रूप है।
केई कहे महाराज, अवतार सु आज है।
केई कहे तारण जाज, बडा जोगीराज है।
जोगीराज है अति आज मोटा, साहाज्य धर्म नो दायका।
अन्यमति नें स्वमति फुन, बोलता इम वायका।

कविराज सांवलदानजी जोधपुर के प्रसिद्ध कवि थे। जयाचार्य के प्रति उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। एक बार वे किसी जैन मुनि के पास गए। उस मुनिवर ने जयाचार्य के बारे में कुछ हल्की बातें कही। कविराजजी को वे अच्छी नहीं लगी। उन्होने तत्काल छह दोहे रच वहीं सुना दिए। वे सब दोहे हमें उपलब्ध नहीं हो सके। उनमें से तीन दोहे ये हैं—

टोलां मांही टालवों, भुजा उठावणहार।
मुंह बंध्या ही गाजणो ओ कुण 'रतन' विचार ।।
जीतमाल दिशि जोडिया, होय होय राजी हाथ।
जम स्यूं पडै ना जोडणा, वातां जग विखियात ।।
अणहूंता अवगुण ग्रहो, वोलो वच वे फेम।
करणी तो करने कहो, तेरापंथ्यां तेम ।।

वंदना के अनेक स्वर आकाश-मंडल में प्रकंपित है। हमने केवल प्रस्तुत किया है एक निदर्शन।

---

१. ते. आ. खं. २, पृ. १६४।

पारस ज्यों पाहन में, एरापति वाहन में,
चक्री नर-नाहन में, देवन में इन्द है।
अभय-दान दानन में, शुक्ल-ध्यान ध्यानन में,
केवलज्ञान ज्ञानन में, आनन्द जिनन्द है।
परिजात वृच्छन में, शशि नच्छत्रन में,
ग्रहनन में भान ज्यों, कुसम अरविन्द है।
स्वयंभू समंदन में, मेरु ज्यों गिरंदन में,
श्रेष्ठ त्यों मुनिन्दन में, जीत गण-चन्द है।।[1]

पूज्य वांदीने पाछा गया जी कांई, रतलाम ना नर वृंद।
वखतगढ ना श्रावक भला जी, आई भेटचा भांजण भव फंद।
सांवलाजी आइज्यो म्हारे शहर।
पूज्यजी पधारो म्हारे शहर, दिज्यो सुख सायर नी लहर।।

ऋषभदास मोदी ने रंगसूं जी, स्वाम कहै संता धारी सीख।
ऋषभ दाखे दयानिधि रे, एक दृष्टांत राजा नो ठीक।।

संभू चाकर सुण उंदरा रे, तूं हिवे दिजे समभाय।
मोहरां कोला खावे नही, पदमसिंघ पाट पाय।।[2]

महासती गुलाबांजी मघवागणी की वहन थी। वे सहयोगिनी थीं जयाचार्य की साहित्य साधना में। उन्होंने आचार्यवर के जीवन की अंतिम घड़ी में एक गीतिका रच कर सुनाई। उसका एक पद्य यह है—[3]

आप जिन मग जवर दीपायो, जिन शासन कलश चढायो।
प्रबल तेज प्रताप सवायो, इण आरे अवतर आयो।
भिक्षु शिष्य नीको, वारूं च्यार तीर्थ सिर टीको।।

---

१. गुणसागर।
२. ते. आ. प. २ पृष्ठ १२८ नथूरजी कृत।
३. ते. आ. प. २ पृष्ठ १६४ गुलाबांजी कृत।

४४

महाप्रयाण

जयाचार्य ने अपने विद्यागुरु से कहा था—'मृत्यु महोत्सव है। मृत्यु को महोत्सव मानने वाला उससे नही डरता। उससे डरता वही है, जो उसे भयंकर मानता है।' आचार्यवर उस महोत्सव की तैयारी में संलग्न थे।

जयपुर के साथ उनका कोई प्राकृतिक संबंध था। मुनि जीवन का जन्म वहीं हुआ और समाधि-मरण की तैयारी भी वही होने लगी।

जयपुर राजस्थान का प्रसिद्ध नगर है। अपने प्राकृतिक और मानव निर्मित सौंदर्य के कारण वह हिंदुस्तान का एक आकर्षक नगर है। उसकी ख्याति गुलाबी नगरी के रूप में है। तेरापंथ धर्मसंघ का यह मुख्य केंद्र रहा है। समय-समय पर सभी आचार्य उसे उपकृत करते रहे हैं। आचार्य भिक्षु की चरण-धूलि भी वहां टिकी थी। सं० १८४८ में वे वहाँ पधारे और सांगानेर दरवाजे के पास जंवरी बाजार वाली हाटों में ठहरे। बाईस दिन तक वहां विराजे। द्वितीय आचार्य भारमलजी ने वहां चातुर्मास-प्रवास किया। तृतीय आचार्य ऋषिराय ने वहां छह चातुर्मास बिताए। अपने पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों ने जयपुर को जो मूल्य दिया, उसे जयाचार्य ने और आगे बढ़ाया।

सं० १९३७ का चातुर्मासिक-प्रवास संपन्न हो गया। अवस्था बुढ़ापे की ओर जा रही थी, इसके अतिरिक्त और कोई खास कठिनाई नही थी।

सं० १९३८ के ज्येष्ठ में अकस्मात् आचार्यवर के गले में एक गाठ उभर आई। उससे शरीर में काफी वेदना बढ़ गई। आषाढ़ में वह गाठ फूट गई।[1]

---

१. तें. आ. खं. २, पृ. १८० [जयसुजश, ६१।दो. २]

चातुर्मासिक-प्रवास प्रारभ हो गया। सावन की फुहारों ने वर्षावास की अगवानी की। जनता ने आकाश में उमड़ती कजरारी घटाओं का स्वागत किया। आचार्यवर ने स्वागत किया समाधि-मरण के पूर्व संकेतों का। सावन आते ही पहला संकेत मिला अरुचि का। आहार की रुचि जीवन का लक्षण है। दूसरा संकेत मिला वार-वार मलोत्सर्ग करने का। आचार्यवर ने इस संकेत को समझा। श्रावण कृष्णा तृतीया, चतुर्थी और पंचमी को प्रायः लंघन किया। तृतीया के दिन उन्होंने केवल पोदीना की चटनी मिला हुआ दाल का पानी लिया। चतुर्थी के दिन थोड़ी सी सूंठ की 'मोई' और पांच तोला वाजरी की घाट ली। पंचमी के दिन ढाई तोला वाजरी की घाट दो-चार तोला दूध के साथ ली। इसके वाद थोड़ा-थोड़ा अन्न लेना शुरू किया। वह कभी लेते और कभी नही लेते।[1] इस प्रकार संलेखना (समाधि-मरण की तैयारी के लिए की जाने वाली तपस्या) का क्रम शरू हो गया।

श्रद्धालु श्रावकों को पता चला—आचार्यवर अस्वस्थ है। उनकी आहार की मात्रा वहुत कम हो गई है। श्रावकों का मन उद्वेलित हो गया। वे जयपुर पहुंचे। आने वालों के कुछ नामों का मघवा गणी ने उल्लेख किया है—चुरू से सागरमलजी कोठारी और वृद्धिचंदजी सुराणा, जोधपुर से वादरमलजी भंडारी आए। आचार्यवर कुछ स्वस्थ हैं, यह देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई। आचार्यवर ने उनसे तत्त्वज्ञान की चर्चा की। कुछ दिन ठहर कर वे अपने-अपने स्थान पर चले गए।[2]

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन अकस्मात् लाला भेरूंलालजी अस्वस्थ हो गए। वे आचार्यवर के परम श्रद्धालु थे। आचार्यवर ने मध्याह्न के समय उन्हे दर्शन दिए और उन्हें मृत्यु को महोत्सव मानने के लिए पूर्णरूपेण तैयार कर दिया। सायंकाल फिर उनके पास पधारे और शरणसूत्र के द्वारा उन्हें समाधि-मरण की प्रेरणा दी। उसी पूर्णिमा की रात्रि में लालाजी का स्वर्गवास हो गया।[3] एक भक्त को अपने आराध्य का विछोह देखना नही पड़ा।

लालाजी जयपुर के प्रतिष्ठित नागरिक थे। उनकी मृत्यु के वाद संवेदना प्रगट करने वालों का ताता लग जाएगा, इस स्थिति को ध्यान में

१. जै. आ. प. २ पृ. १८३ [जयसुजश, ६२।दोहा १-६]
२. जै. आ. प. २, पृ. १८३, १८४ [जयसुजश, ६२।३-६]
३. जै. आ. प. २, पृ. १८४ [जयसुजश, ६२।६-११]

रख आचार्यवर लालाजी की हवेली से सरदारमलजी लूणिया की हवेली में पधार गए। भाद्र कृष्णा एकम के दिन स्थान-परिवर्तन किया। एक दीर्घ पदयात्री ने आज कुछ पदों की यात्रा में ही थकान का अनुभव किया। उस दिन केवल चार तोला दूध लिया। शाम को कुछ भी नहीं लिया। द्वितीया के दिन ढाई तोला दूध एक मासा सूंठ के साथ लिया। तृतीया के दिन भी सूंठ मिला दूध लिया। शाम को कुछ भी नही लिया। चौथ के दिन धरण (नाभि के पास की नाड़ी) को स्थान स्थित करने के लिए अंगुली के दबाव से चिकित्सा की गई। उसके बाद सूठ की 'मोइ' ली। कुछ लोगो ने कहा—इस चिकित्सा के बाद बरफी लेनी चाहिए। लोगों के कहने से चार-पांच मासा बरफी ली, पर उसका परिणाम ठीक नही रहा। उसने शौच-क्रिया को गडबड़ा दिया। पंचमी के दिन फिर धरण की नाड़ी-चिकित्सा की गई। उसके बाद ढाई तोला बाजरी की घाट डेढ़ तोला दूध के साथ ली। शाम को बहुत अनुरोध करने पर एक कोर लिया। अन्न की अरुचि होने के कारण वह भी खाया नही जा सका।[1]

पंचमी के दिन युवाचार्य मघवा ने प्रार्थना की—'यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपको आराधना सुनाना चाहता हूं—वह आराधना, जो आपकी कृति है। वह आराधना, जो मृत्यु को महोत्सव मानने के मानस का निर्माण करती है और कायर में भी पराक्रम की ज्योति प्रज्वलित कर देती है।'

आचार्यवर ने कहा—मैं सुनना चाहता हूं, तुम सुनाओ। आचार्यवर की स्वीकृति पा युवाचार्य ने आराधना की प्रथम गीतिका का संगान किया। आचार्यवर ने पूरी सजगता से उसे सुना। युवाचार्य ने दो-तीन गाथाएं छोड़ दीं, तब आचार्यवर ने कहा—कुछ गाथाएं छूट गई है। युवाचार्य ने कहा—हां, दो-तीन गाथाएं मैंने छोड़ दी हैं।

छठ के दिन ढाई तोला बाजरी की घाट ली। शाम को मुनियों का अनुरोध मान ढाई तोला गेहूं का पटोलिया लिया। उस दिन आराधना की सात गीतिकाएं सुनी। पांच महाव्रतों का पुनरुच्चारण किया। प्राणीमात्र से क्षमायाचना की। साधु-साध्वियों, संपर्क में आने वाले अन्य संप्रदाय के साधु-साध्वियों, संघ से पृथग्भत साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं से

1. ते. आ. पं. २, पृ. १८५ [जयसुजश, ६२।१२-१६]

क्षमा-याचना कर अपने मन को निर्भार वना लिया।[1] छठ के दिन सांझ के समय आचार्यवर सरदारमलजी लूणिया की हवेली से फिर लालाजी की हवेली में पधार गए।[2]

सप्तमी का सूर्योदय हुआ। रात को न दवा, न आहार और न जल। जैन मुनि की यह सामान्य चर्या है। उस दिन ढाई तोला दूध और दवा ली। आराधना की नवीं और दसवी गीतिका सुनी।

इन दिनों आचार्यवर का अधिक समय स्वाध्याय और ध्यान में ही वीतता था। शेप कार्यो की देख-भाल युवाचार्य करते थे। वैद्य दुर्गाप्रसादजी नाड़ी देखने आए। आचार्यवर की आंखें मुदी हुई थी। सावु वोले—वैद्य दुर्गाप्रसादजी आए हैं। आचार्यवर बोले नही। तव साधुओं ने सोचा—आचार्यवर के या तो मौन है या उन्हें नीद आ रही है। सव आचार्यवर के वोलने की प्रतीक्षा करते रहे। थोड़ी देर वाद आचार्यवर ने कहा—मैं ध्यान में था, इसलिए नही वोला।[3] शरीर अपना काम कर रहा था, रोग अपना काम कर रहा था, आचार्यवर अपना काम कर रहे थे। समाधि-मरण की तैयारी में इन तीनों में न झगड़ा होता और न एकता होती, सव अपने-अपने काम में लगे होते हैं।

अष्टमी के दिन थोड़ी घाट और थोड़ा दूध लिया। दवा ली और कुछ भी नहीं लिया।

नवमी के दिन दवा और जल लिया। साध्वियों ने वहुत आग्रह किया—आप कुछ आहार करें, पर आचार्यवर ने उस आग्रह को स्वीकार नही किया।

दशमी के दिन दो मुहूर्त्त दिन चढ़ने तक चारो आहार का त्याग कर दिया। समय की सीमा पूरी हुई तव साधु-साध्वियो ने आहार करने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध को स्वीकार कर आचार्यवर ने नवा तोला दूध और इतनी ही वाजरी की पतली घाट ली।

मलोत्सर्ग की गड़वड़ चल ही रही थी। शरीर वहुत दुर्वल हो गया। समभाव और पराक्रम प्रवल होता गया। शारीरिक दुर्वलता के कारण कर्मा-

---

१ जे. आ. ध. २, पृ. १८७,१८८ [जयसुजश, ६३।५-७]

२ जे. आ. ध. २, पृ. १८६ [जयसुजश, ६३।१२]

३. जे. आ. ध. २, पृ. १६० [जयसुजश, ६४.दोहा १-१]

कभी मींट रहने लगी। पर अन्तश्चेतना में पूरी जागरूकता थी। आहार करते ही खान-पान का त्याग कर देते, यह क्रम लंबे समय से चल रहा था। शरीर के प्रति ममत्व का सूत्र पहले ही क्षीण था, अब वह क्षीणतर हो गया। वैराग्य प्रबल हो गया। बोलने की शक्ति कम हो गई।

सांझ के समय आचार्यवर बैठे थे तब युवाचार्य मघवा तथा अन्य साधुओं ने आचार्यवर से प्रार्थना की—यदि आप चाहें तो दवा और जल के अतिरिक्त अनशन स्वीकार करा दें। आचार्यवर ने अपनी स्वीकृति दी। युवाचार्यश्री ने दूसरी बार फिर पूछा तो दूसरी बार फिर स्वीकृति मिली। तब युवाचार्य ऊंचे स्वर में बोले, जब तक आप के शरीर की यह स्थिति है तब तक दवा और जल के अतिरिक्त शेष आहार करने का आपको त्याग है।

ग्यारस का प्रभात हुआ। युवाचार्य और अन्य साधु आचार्यवर की उपासना में बैठे थे। वे आंतरिक जागरूकता बनाए रखने के लिए शरणसूत्र का उच्चारण करते रहते—'आप अर्हत् की शरण स्वीकार करें, सिद्ध की शरण स्वीकार करें, साधु की शरण स्वीकार करें, धर्म की शरण स्वीकार करें।

साध्वीप्रमुखा गुलाबाजी ने भी समाधि बनाए रखने में बड़ा सहयोग दिया। सभी साध्वियां आचार्यवर की समाधि के प्रयत्न में लगी हुई थी।

सहिष्णुता को बनाए रखने के लिए अतीत के पराक्रमी मुनियों के चरित्र बार-बार सुनाए।

आचार्यवर के आस-पास समूचा वातावरण समाधि, समता, पराक्रम, सहिष्णुता और जागरण का हो रहा था।

बारस का सूर्य अनेक घटनाओ के साथ उदित हुआ। आचार्यवर की शारीरिक क्षमता घटती जा रही थी। राजगढ़ (चूरू) से जीतमलजी पारख आए हुए थे। वे नाड़ी-परीक्षा मे बहुत कुशल थे। उन्होने आचार्यवर की नाड़ी देख युवाचार्यवर से कहा—अब आजीवन अनशन का उचित समय आ गया। नाड़ी की गति बहुत क्षीण हो चुकी है। अब यह शरीर ज्यादा टिकेगा नही। मुनिगण तथा अन्य श्रावको ने भी पारखजी की बात का समर्थन किया।

ग्यारह पर पचीस मिनट हुए थे। आचार्यवर बैठे हुए, तब युवाचार्य मघवा ने प्रार्थना की—आचार्यवर ! शरीर की स्थिति पल-पल विषम होती जा रही है। यदि आप उचित समझें तो आपको आजीवन अनशन

करा दें। दो-तीन वार इस वात को दोहराया। आचार्यवर ने युवाचार्य की वात पर अपनी स्वीकृति दी। तव युवाचार्य ने विधिवत् अनशन स्वीकार करा दिया।

युवाचार्य ने कहा—'गुरुदेव ! मैं तुम्हारी शरण में हूं। तुमने मुझे ज्ञान और चारित्र दोनों दिए है। तुम दिनमणि हो। तुमने हजारो-हजारों मनुष्यों के हृदय को आलोकित किया है। तुमने सैकड़ों साधु-साध्वियो को समाधि-मरण का संवल दिया है। तुमने तेरापंथ के कल्पतरु को अनुशासन और व्यवस्था के सुरभित सलिल से अभिषिक्त किया है। तुमने सफलता के साथ सारे कार्यो का संचालन किया है। सफलता तुम्हारे चरण चूमती रही है। तुमने स्वाध्याय-ध्यान की एक धारा वहाई है। जो भी तुम्हारे संपर्क में आया, वह सुलभबोधि वना है। तुम्हारा जीवन कृतार्थ है। हम सव युग-युग तक तुम्हारे कृतज्ञ रहेंगे। अव तुम्हारा मन केवल आत्मानुभव में रहे। हे आराधना के संगायक ! तुम्हारी आराधना हम सव के लिए एक दिशा वनेगी। युग-युग तक उसी दिशा में साधक प्रस्थान करते रहेंगे।

आचार्यवर स्वयं समाधि में लीन थे। युवाचार्य की वाणी ने उन्हे और अधिक समाधिस्थ कर दिया।'

आचार्यवर के अनशन की वात सारे नगर मे फैल गई। हजारों-हजारों लोग दर्शन के लिए आने लगे। जैन और अजैन सभी लोग जयाचार्य के प्रति श्रद्धा रखते थे। उनके मन में दर्शन की प्रवल भावना थी। लोग आ रहे थे, जा रहे थे। लालाजी की हवेली के आस-पास नाना स्वर सुनाई दे रहे थे। कुछ लोग कहते है—आप जैन धर्म के सूर्य हैं। कुछ कहते है—ऐसे आचार्य भविष्य मे कम होगे। कुछ कहते हें—ये ज्योति स्वरूप हैं। एक स्वर उभरता है—ये ईश्वर के रूप है। एक स्वर है—ये अवतार है। कुछ लोगों का मत है—ये सवसे वड़े योगिराज हैं। भिन्न-भिन्न चिंतन के लोग भिन्न-भिन्न स्वरों मे अपने हृदय के उद्गार प्रगट कर रहे थे।

आचार्यवर शात मुद्रा और समाधि की अवस्था मे लेटे हुए थे। सूर्य अस्त होने जा रहा था। लगभग सत्तर मिनट दिन शेष था, तव युवाचार्य ने पूर्ण अनशन करा दिया। अभी जल पीने की छूट थी। उसका भी परित्याग करा दिया। अव आचार्यवर का जीवन भोजन की दृष्टि से अनाहार हो गया।

युवाचार्य, मुनिगण और साध्वीगण सभी ने अपनी पूरी शक्ति आचार्यवर की समाधि-साधना में नियोजित कर रखी थी। वे अब पल-पल जागरूक थे और आचार्यवर की जागरूकता में निमित्त वन रहे थे। युवाचार्यवर नमस्कार महामंत्र और शरणसूत्र सुना रहे थे। पूरा वातावरण मंगल भावना से महक रहा था। आचार्यवर ने दो-तीन हिचकिया लीं। सबके देखते-देखते नेत्र-द्वार से प्राण बाहर चले गए। एक महाज्योति तिरोहित हो गई। सब चित्रवत् उस दृश्य को देखते रहे। युवाचार्य ने लिखा है—'जयाचार्य का महाप्रयाण बहुत अप्रिय लगा, पर मृत्यु एक सार्वभौम नियम है। इसे कोई बदल नहीं सकता। यह सोच मन को समता में प्रतिष्ठित किया।

युवाचार्य ने तत्काल अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा—हे आत्मानुशासन और अनुशासन के मंत्रदाता! तुम्हारे जैसे आचार्य का अवतरण कभी-कभी होता है इस धरती पर। हे आगम-कामदुघा के दोहक! तुमने आगम-श्रुत का इतना दोहन किया कि सैकड़ों-सैकड़ो वर्षो तक उसका पान किया जा सकेगा। हे अतिशयधर! तुम्हारे गुणों की स्मृति होते ही मन आह्लाद से भर जाता है। हे महाकल्याण! तुम अपना कल्याण और जन-जन का कल्याण कर स्वयं कल्याण हो गए।

चरम कल्याण

परंपरा के अनुसार आधा घंटा से अधिक समय तक आचार्यवर के दिवंगत शरीर के आस-पास शांतभाव से सब बैठे रहे। इस अवधि मे प्राण-स्पंदन का कोई भी लक्षण प्रतीत नही हुआ, तव शरीर को सर्वथा प्राणमुक्त जान उसका विसर्जन कर दिया। श्रावकगण ने उसे अपने अधिकार मे ले लिया। जीवनकाल में जिस शरीर का संवंध साधुओं से था, वह शरीर अव श्रावकों के हाथों में आ गया। सूर्यास्त होते-होते यह सारी प्रक्रिया सपन्न हुई। महाज्योति के जाने के वाद जो अंधकार होता है, वही अंधकार अव भूमि पर उतरने लगा। लोगों ने त्रयोदशी के दिन सूर्य के साक्ष्य से दाह-संस्कार का निर्णय लिया।

युवाचार्य तथा समूचा संघ दिवंगत आत्मा के प्रति कल्याण-भावना और अपनी मध्यस्थ भावना के लिए कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठ गए। उस

मुद्रा में शक्रस्तुति (लोगस्स सूत्र) की ध्यान में चार आवृत्तियां कीं। धर्मसंघ में नए युग का प्रारंभ हुआ। पांचवें आचार्य का शासन प्रवृत्त हो गया।

रात के समय मूसलाधार वर्षा हुई। रात-भर वर्षा होती रही। इधर आचार्यवर के शरीर के आस-पास आराधना और स्तुति पदों की वर्षा होती रही। त्रयोदशी का सूर्योदय हुआ। अब भी आकाश बादलों से घिरा हुआ था। मंद-मंद फुहारें गिर रही थी। लोग चिंतित थे। वर्षा उनके कार्यक्रम में विघ्न डाल सकती थी। महान् आचार्य के शरीर को बैकुंठी में विठाया गया तब भी फुहारे गिर रही थी। जैसे ही बैकुठी आगे बढी, बूंदें बंद हो गईं और बादल फट गए। अभ्रमुक्त आकाश सूर्य की रश्मियों से उद्योतित हो उठा।

नगर-परिक्रमा में जयाचार्य के चरम-कल्याण का सजीव वर्णन किया गया है। प्रसंग यहां से शुरू होता है।

"जयपुर में जैन-धर्म और जैनियों का दौरदौरा महाराजा जयसिंह के काल से भी बहुत पहले से चला आ रहा था, फिर यह कैसे हो सकता था कि जयाचार्य जैसे मनीषी विद्वान्, स्वाध्यायी, ध्यान और साहित्य-साधना मे रत धर्माचार्य इस नगर में जब-तब आकर प्रवास करते और रामसिंह जैसे गुणग्राही महाराजा की दृष्टि से छिपे रह जाते। समदर्शी महाराजा ने सद्विचारो, उच्च कल्पनाओं और ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने दिल-दिमाग की सारी खिड़कियां खोल रखी थी। अच्छे विचारो को वे सभी दिशाओं, सभी धर्मो, सभी वर्गों और सभी व्यक्तियो से ग्रहण किया करते थे। इस बात के पुष्ट प्रमाण भी मिले है कि जयाचार्य के प्रति भी (जिनकी आरम्भिक दीक्षा नौ वर्ष की आयु मे जयपुर में ही हुई थी) महाराजा रामसिंह का विशेष आकर्षण हुआ था।

"महाराजा रामसिंह आयु मे जयाचार्य से पूरे इकतीस वर्ष छोटे थे, फिर भी दैवगति कि महाराजा केवल ४७ वर्ष की आयु (सं० १९३७) मे परलोकवासी हुए और उसके अगले ही वर्ष जयाचार्य का ७८ वर्ष की आयु मे निर्वाण हुआ।

"जयाचार्य से इकतीस वर्ष छोटे महाराजा रामसिंह १८८० ई० में दिवगत हुए और जयाचार्य १८८१ ई० मे। जयपुर के प्रशस्त राजमार्गों पर वर-यात्राएं या बारातें तो आरम्भ से ही दर्शनीय होती आई है, किन्तु

सन् १८८० और १८८१ में इन महाराजा और इन धर्माचार्य की जैसी शव-यात्राएं निकलीं, वे भी इस नगर में अविस्मरणीय और ऐतिहासिक थी।

'मंदिरों, चैत्यालयों और ग्रन्थ-भंडारों से परिपूर्ण जयपुर को भारत भर के दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन--दोनों ही एक पवित्र नगरी मानते आये हैं। जयाचार्य जैसे मनीषी धर्माचार्य के निर्वाण ने इस नगरी की महत्ता और पावनता मे और वृद्धि कर दी।'

उनकी चरम-कल्याण यात्रा उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही निकाली गई। जयपुर नगर में उस समय बैठक की मुद्रा में किसी की बैकुण्ठी नही निकलती थी, किन्तु विशेष राजाज्ञा-प्राप्त कर जयाचार्य के पार्थिव शरीर को इक्यावन कलशों के विमान में आसीन किया गया और पूरे शासकीय लवाजमे के साथ उनकी चरम-कल्याण यात्रा जौहरी बाजार से त्रिपोलिया, किशनपोल और अजमेरी दरवाजे से होकर सरदारमल लूणिया के बाग में पहुंची, जहा अन्त्येष्टि सम्पन्न हुई।'

इस ऐतिहासिक शव-यात्रा का वर्णन किशोरीदास धूपिया नामक एक श्रावक ने, जो उदयपुर का निवासी था और उस समय वह यहा आया हुआ था, जयाचार्य के निर्वाण के पाच दिन बाद अपने परिजनों को भेजे एक पत्र में किया था। इस प्रसंग में उस पत्र के कुछ अंश उद्धृत करने योग्य है—

"जोग लिखी सवाई जयपुर से ताराचन्द ढीलीवाल चित्तौडवाल तथा किशोरीदास धूपिया श्री उदयपुर वाला का धर्म-स्नेह बंचस्यो। अठै श्री पूज्यजी महाराज श्री १००८ श्री जीतमलजी महाराज रा शरीर के कारण छो सो भादवा बदी १० ने सागारी-संथारो करायो और बुधवार सूं दोपहर तिविहार संथारो किधो और दिन घडी दोय रहता जावजीव संथारो हुयो। सो दिन वढतां सकल कारज सिद्ध कर सेज्या-संथारो शरीर छोड़ घणा सुख देवलोक में जाय विराजमान हुआ।

"खेद (रोग का प्रकोप) भादवा वदी २ उपजी, जी दिन थी विमाण (विमान जैसी वैकुण्ठी) वणावा लागा और शहर में हजारा मनुष्य दिन-प्रति श्रीजी का दर्शण करवा लागा। सव जात का धर्म-महोत्सव के वास्ते लवाजमा के ताईं पोहकरण के ठाकुरा का कामदार का वा कुचामण का ठाकुर राव वहादुर केशरीसिहजी का कागद ठाकुर साहव गोविन्दसिहजी को रावलजी साहव का नाम का भण्डारीजी वहादुरमलजी लिख कर भेज्या।

तिस पर से लवाजमा का हुक्म हुवा। बैठा निकालना और अजमेरी दरवाजे की परवानगी हो गई सो विमाण बारा-बारा तिवारां की, जी-ऊपर वीच में तो गुमट अर चौतरफो तोरण। जी पर सोने-रूपै का वो गंगा-जमुनी कलश ५१, तिबारां में सिंहासन, सोने की जरी।

"वाहर की तरफ सोने जरी मंढचो हुयो और छत बंधी हरचा—पारचा सू, गुमट हरी सारण सुनहरी गोटा लहकमा और लप्पो गोटा चाहे जठे। वारा ही तिवारां के छज्जा के सिंहासन के फिरनी। विमान के वाहिर की तरफ किरण रूपहरी, सनुमुख तिवारां के छाजा, सांचा मोतियां की लडचा और छतबंधी सिंहासन पर मोतिया का लड़, चन्द्रवे गंगाजमुनी वादलां की फूदचां। सूरजमुखी चादर, चांदी की वारचां के साईवान के चादी की सूरजमुखी दो और सोने का गोटे की डण्डियां लगी हुई। साचा मोत्यां को तिलक, सोने री जडाऊ मुख-वस्त्रिका। लवाजमा माहे हाथी दोय—एक पर तो निशान, दूसरो होदे को, जीमें सोने-रूपे रा फूल, कलदार रुपइया उण होदा में सू उछाल करता हुतां।

"छाडचा दोय, सोटा दोय चांदी का, घोडा १३ कोतल नगारां-निसाणका, घोडा चिराग २०, निलगाण की पलटण का पहरा ४, कोटवाली का जवान १०, ढलेत दोय, साठ वार, साथ हरकारा दोय, पुलिस का जवान ५, वाजा पांच प्रकार ना मुडे आगे नृत्य करता, दोय तरफ चमर करता, जय-जय शब्द करता सिरे वाजार तिरपोलिया के आगे होकर विमान में वैठा हुआ लाखा मिनखा रा ठाठ स्यू अजमेरी दरवाजे होयकर सरदारमल लूणियां रा वाग में, चन्दन, अगर, तगर, केसर, कस्तूरी, कपूर, घृत मे काया को संस्कार किधो। रुपइया हजाराई विमान के सिर लागा और हजारांई उछाल में लागा। सागी जिनराज के देव उच्छव करे उणी चाल की छवी सू ओच्छव हुवो। सो स्वमती सव इचरज पाया, जिन शासन को उद्योत घणो अधिको दिख्यो। लोक गुण-गाम करता वोल्या—इसो ओच्छव आगे हुवो नही, ऐसा जोगीश्वर हजारा कोसा मे देख्या नहीं, सुण्या नहीं। इसो हगामो तो हजारा कोसा में देख्यो-सुण्यो नहीं, ए तो अमर है। हजारा मिनखा रै देखवा वास्ते किधो है, जीसा पुरुष जो काम उठया वो कारज सिद्ध कर पण्डित-मरण आराधक पद पाय देवलोक में जाय विराजमान हुआ और ई भरत क्षेत्र मे सूरज समान था। अवतारी पुरुष [illegible]

भगवान् जिस्या जिन शासन का पातशाह जिसा हा।

"हिवै पूज्य भगवान् महाराजाधिराज श्री १००८ श्री मघराजजी महाराज च्यार-तीर्थ के माथे नाम था, जो काल्ये बण रह्या है। अहो च्यार तीर्थ का भाग जो ऐसा चेला गुरा का सकल कारज सिद्ध कीधा और तीर्थ आशापूर्ण में कल्पवृक्ष चिंतामणि कामधेनु समान।

"महागुरुणी श्रीजी १०८ श्री गुलाब कुंवरी, सुरतरु समान या जिन-शासन में अधिक-अधिक गुण आगला। संत-सत्यां में सोही ऐसा ही शुभ नीति श्रावक, इण शासण को कोटि जिह्वा कर गुण वर्णन में पार पावे नही।

"श्रावक ताराचंदजी ढीलीवाल रुपिया ५००) पाना में मांड्या। रु० ५२५) मेल्या और सिवाय शाल जोडा दोय, एक सफेद श्रीजी ने धारण करायो, दूसरो सुरख (सुर्ख) नीचे बिछायो। कीमत रुपइया अढाइसौ-तीन सौ। चद्दर रुपहरी आसावरी। जातरी सत्ताईस गावा का हजारां कोशां क़ा आया। ज्यांरी भूरामलजी पटोलिया, सिरदारमलजी लूणिया आदि देई श्रावक इन शासण रा उद्योत में अन्तरंगा, प्रीत स्यू महनत करी। मिली भादवा वदी १३ सं० १९३८ शुभम्।

"भादवा सुदी २ शुक्रवार श्रीहजूर साहब साढ़े ग्यारह वजे पाट बिराज्या। च्यार तीर्थ का थाठ। २८ गांवा का जातरी, हजार-हजार कोशा क़ा हाजिर। रुपया पनरेसे (पन्द्रहसौ) आसरै खरचाना दुसाला, मागा थान, रुपिया प्रदेशा सू दीया।

"फेर धर्म समाधी दीक्षा देण हवेली के पास ठठेरा का कुवा जहा श्री महादेवजी का मन्दिर, जहां वट वृक्ष के उठे दीक्षा उचराई। हरियाणा देश का भाया हरदयालजी हा। पाछा हवेली में पधारचा। धर्म-देसणा दीधी। सागी जिनराज के देव-मनुष्य ओच्छव करै, वैसी छटा देख स्वमती-अन्यमती चकित भया। श्रीजी (आचार्यश्री) गोचरी उठ्या। पहिला हमारे डेरे पधारचा। यू ही श्री महासतियांजी पिण पगल्या कीधा, संत-सत्या के वृन्द स्यूं। श्रीहजूर अमृत सू वृष्टि करके मारा ही व्रत सागे नीपना। जी से आनन्द अंग में नाहिं समायो। कीर्त्ति श्री मघराजजी की मिति भादवा सुदी २, सं० १९३८, वैद्यराज किशोरदास धूपिया उदयपुर वाला।"

इस समसामयिक पत्र में जयाचार्य की अन्तिम यात्रा के साथ-साथ महाराज अथवा पांचवे आचार्य मघवागणी के पाट बैठ कर जयाचार्य के

उत्तराधिकारी बनने तथा उस समय जयपुर में श्रावकों के जमघट और उत्सव आदि के सम्बन्ध में भी कतिपय महत्वपूर्ण सूचनाए आ गई है। सारे विवरण से स्पष्ट है कि जयाचार्य का 'चलावा' उनके भक्त श्रावको ने राजसी ठाट-वाट से किया था, जिसे उस समय 'न भूतो न भविष्यति' माना गया था।[1]

सुखराजजी भंडारी ने जयाचार्य की चरम-कल्याण यात्रा का एक कविता में यथार्थ चित्रण किया है—

विद भाद्र द्वादशी जीत स्वाम, परलोक सिधारे स्वर्ग धाम।
चर मोच्छव महिमा कीध दास, वरणू जु ऐम कवियण विमास॥
वणवाय जवर अति ही विमाण, अरु मडित कर साटण सु आण।
तिण ऊपर सुवरण कलश जाण, तिहसिरे जु वहु तुर्रा वखाण॥
सूरज मुखिया पुनि आंण वेस, घर धजा-पताका अति विशेप।
पिछवाय चंदवो वर वणाय, मुक्ता झालर लुम्वा लगाय॥
जर किरण-किनारी विविध भान्त, जिह ठोर-ठोर शोभित नितान्त।
जिह मझ कनकासन धरचो आण, तकिया गादी मखमलिय जाण॥
पुनि लाल दुशालो वर विछाय, मझ व्राजमान किय जीतराय।
नग-जडित कनक मुखपतिय जाण, ओढाय दुशालो श्वेत आण॥
इह भान्ति निकासी होत जीत, दरवार हुते आया पुनीत।
वर छत्र चंवर होवत सकाज, पुनि जान विविध वाना सुमाज॥
हय-करि-पलटन-प्यादा अनेक, वाजित्र वीण इत्यादिक केक।
घुरै घोर नगारा पुनि निसाण, कर ज्वलित मशाला जलै जाण॥
पूरो लवाजमो विविध सोय, छिव अधिक रहे नर नार जोय।
गजराज एक पर होद मंड, धर फूल हेम रूपे [illegible]॥
पुनि भरे रुपैये नगद आण, इह भान्त भई जु उछाल जाण।
इम होय सिरे वाजार मांय, आवंत तठे नर-नार आय॥
लाखांइ मिल जोवत सकोय, पुनि कहत इसो मोच्छव [illegible]।
श्रवणा न सुण्यो दीठो न कोय, पुनि विविध भाति लौकिक [illegible]॥

---

१. जयाचार्य : एक रेखा चित्र, नन्दकिशोर पारीक, पृ. [illegible]।

जोगेन्द्र जीत सा अवर कोय, दीठा न सुण्या इह समय जोय।
इण भान्ति लोक जय जय करंत, अणमती आदि दे तिकण तंत ।।
वर किशनपोल दरवाजे होय, राजादि जात नही अवर कोय।
तिह पोल हुते निकसे गणिन्द, पहुंचे जु वाग में अतिहिमन्द ।।
वह बाग लूणियां जाति जोय, सरदार मल्ल को कहत लोय ।
जिह वाग मंझ संस्कार कीध, वर अगर चंदण विच दाग दीघ ।।
महा भाग्यवान अतिशय अपार, जति हुते जीत अति ही उदार।
जैसो जु महोच्छब चरम होय, महिमा जग प्रगटी विविध जोय ।।
ए सकल काम सावद सुजान, जिह मज्झ न धर्म न पुन पिछान।
लौकिक शोभा हित करत लोय, जिह माझ प्रभू आज्ञा न कोय।।
गणनाथ अनघ गुणधाम जीत, प्रगटचो जग उज्वल जस पुनीत।
गुण सुजश पार पावत न कोय, जो कहत देव इन्द्रादि लोय।।
सुखराज निहारचो जिस्यो नैण, नहिं भाषा बोलण सकै वैण।
जयपुर जन मुख-मुख जीत जीत, दिखला गये जीत अतीत-रीत।।

स्मारक

रामनिवास बाग में म्यूजियम की इमारत के पूर्वी पार्श्व में जयाचार्य की समाधि धवल संगमरमर के चबूतरे पर इसी पाषाण की एक कमनीय छत्री यद्यपि उनके श्रद्धालु अनुयायियों ने ही बनवाई है, किन्तु भक्तों के भाव और आस्थावानों के विश्वास जहां जम जाते हैं वहां जम ही जाते हैं, हिलते नहीं। जिस आनन्द-उछाह के साथ जयाचार्य की आरम्भिक दीक्षा, अनेक चातुर्मास और धूम-धड़ाके के साथ उनका अन्तिम-संस्कार इस गुलाबी नगरी में हुआ, इससे इस जैन-संत के प्रति अनेक जैनेतर लोगों को भी लगाव हो गया। जयाचार्य का स्थान एक पवित्र और पूजनीय स्थान बन गया। आज भी इस समाधि पर केशर, चन्दन और फूलों की सुगन्ध छाई रहती है और यह सुरभि बिखेरने वाले जयाचार्य के जैनेतर भक्त ही है। जहां तक तेरापंथी जैन समाज का सम्बन्ध है, उनके यहां तो मूर्तिपूजा का निषेध है।

जहां जयाचार्य की समाधि है वहां सं० १९३८ (१८८१ ई०) में ही नही, वहुत बाद तक सरदारमल लूणिया का बाग था। जानकार लोगों के अनुसार सन् १९३७ से १९४० ई० तक इस बाग के मकानात में भूतपूर्व

जयपुर रियासत के महकमा हिसाव के आडिट आफिसर विष्णुदयाल कायस्थ किरायेदार थे। समाधि-स्थल पर छत्री तो वाद मे वनी है, उस समय मात्र एक चबूतरा ही था जिस पर जयाचार्य के 'पगलिये' या चरण-चिह्नों की एक चौकी वनी हुई थी। कहते है, आडिट आफिसर के वच्चे एक वार एक साथ ही वीमार पड़ गये। वे सव वाग मे धमा-चौकड़ी मचाते थे और समाधि के चवूतरे पर भी खेल-कूद में कुछ गन्दगी फैला आते थे। अपने वच्चों की बीमारी से चिन्तित विष्णुदयाल उनकी आवश्यक चिकित्सा करा ही रहे थे कि एक वार उन्हें चवूतरे के पास जयाचार्य के सदेह दर्शन हुए। आश्चर्यकित विष्णुदयालजी वाग के मालिक लूणियाजी के पास गए और सारा वृत्तान्त सुनाया। जव लूणियाजी ने उनको जयाचार्य की सारी गाथा सुनाई तो वे भी श्रद्धापूर्वक जयाचार्य का स्मरण करने लगे। उसी दिन से उनके वच्चे स्वस्थ होते चले गए। फिर तो वे जितने दिन वाग मे रहे इस समाधि की सफाई और रख-रखाव का विशेप ध्यान रखने लगे।[1]

श्रद्धांजलि

जयाचार्य की चरम-कल्याण यात्रा में सभी धर्मो के लोग सम्मिलित थे। वे चल रहे थे और साथ-साथ अपनी श्रद्धाजलि भी समर्पित कर रहे थे। हजारो लोगों के हजारों स्वर आकाशिक भंडार मे सुरक्षित हो गए। हम इस धरती के वासी है, इसलिए जो धरती पर उपलब्ध है, उसे ही अपने पाठको तक पहुंचा सकते है।

आचार्यवर मघवा ने श्रद्धाजलि समर्पित करते हुए लिखा—

गुण गणधारक भवदधि तारक, कारक वर मर्याद।
सुमति सुधारक दोप निवारक, वर दायक मुनित अह्लाद ।।
समय सुज्ञाता ध्यान सु ध्याता, अरु त्राता जीव छ. काय।
वोधि सुदाता भव्य ने राख्या, काई जाता दुर्गति माहि ।।
तिमिर हरण वर सहस्र किरण सम, करण हृदय उजियार।
पिण ते वाह्य तिमिर जन मेटे, तुम्ह दियो अंतर तिमिर निवार ।।
गणवाडी सींचन गणि धन सम, वर सुमति वेल सु वधार।
व्रत ध्यान वर पुष्प फल करी, सफल करी श्रीकार ।।

१. जयाचार्य : एक रेखाचित्र, पृ. ५४,५५।

करी गण विशुद्ध करण हाजरी, ते आज री बखत मझार।
मुनि अज्जा ने अति हित काज री, महाराजा री बुद्धि उदार।।
वलि लिखत मर्यादा अति ही ज्यादा, करी खलता मेटण काज।
अति शिक्षा आपी कुमति जु कापी, हिये थापी सुमति महाराज।।[1]

सुखराजजी भंडारी ने उस समय मरसिया लिखे, जो बहुत ही मार्मिक हैं—

सकल सिद्धान्त जाके लसत मुखारविन्द,
अनघ-अनन्त-गुण वृष्टि बरसायगो।
छत्र विद्वानन को, पवित्र रायचन्द-पाट,
दे नर विचित्र बोध, जग जश छायगो।।
भने 'सुखराज' आह! कृतान्तगति जोर कहा?
जीत गण-कन्थ पन्थ स्वर्ग के सिधायगो।
मुकुट जिन-शासन को, शील दृढ आसन को,
सुधा बेन भासन को, वासन विलायगो।।१।।
ज्ञान को दिनन्द पुर-पुर में प्रकाश करी
दास उर अरविन्द की राश विकसायगो।
प्रभुता अशेष वेश कहां लो कवेश पढे,
छिति पे जिनेश जैसी छटा छिव छायगो।
पाखंड हटाय, जीत डका वजाय ग्राम,
ग्राम नाम ख्यात जीत कीर्त्ति को वधायगो।
मुकुट जिन-शासन को, शील दृढ आसन को,
सुधा बेन भासन को वासन विलायगो।।२।।
सत्य को सुमेर ओ कुवेर ज्ञान कमला को,
वृन्दन मुनिन्द्र तामें इन्द्र-पद पायगो।
मुगती मग-दाता, त्राता, विख्याता भरत वीच,
भ्राता जन गोतम की ज्यूं जैन को जमायगो।।
मुद्रा-छवि प्यारी वलिहारी कवि वेर-वेर,
जीत-ब्रह्मचारी अवतारी, दिन आयगो।
मुकुट जिन-शासन को, शील दृढ आसन को,
सुवा वेन भासन को, वासन विलायगो।।३।।

१. ते. आ. खं० २ पृ० २०३,२०४ [जयसुजश ६७।३३-३६, ४०,४१]

आगम अनुसारे केते भारे-भारे ग्रन्थ रचे,
आज जिनराज सो प्रकाश धर करगो ।
न्याय अरु नीत को वधाय, जीत कीर्त्ति निधे!
गण में प्रबन्ध अति वान्ध प्रभा भरगो ॥
भने 'सुखराज' भव-वार ए अपार जामे,
ज्याज ज्यों अनेक जीव तार आप तर गो ।
रायचन्द-पाट को दिपाय के वधाय दोर
तीरथ चढाय शोभा देव लच्छी वरगो ॥४॥

उस महान् आत्मा के प्रति उनकी निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर हमारी और हमारे समूचे धर्मसघ की तथा अनुशासन, साम्य और संप्रदायातीत धर्म मे विश्वास करने वाले सभी लोगों की विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित है ।

परिशिष्ट
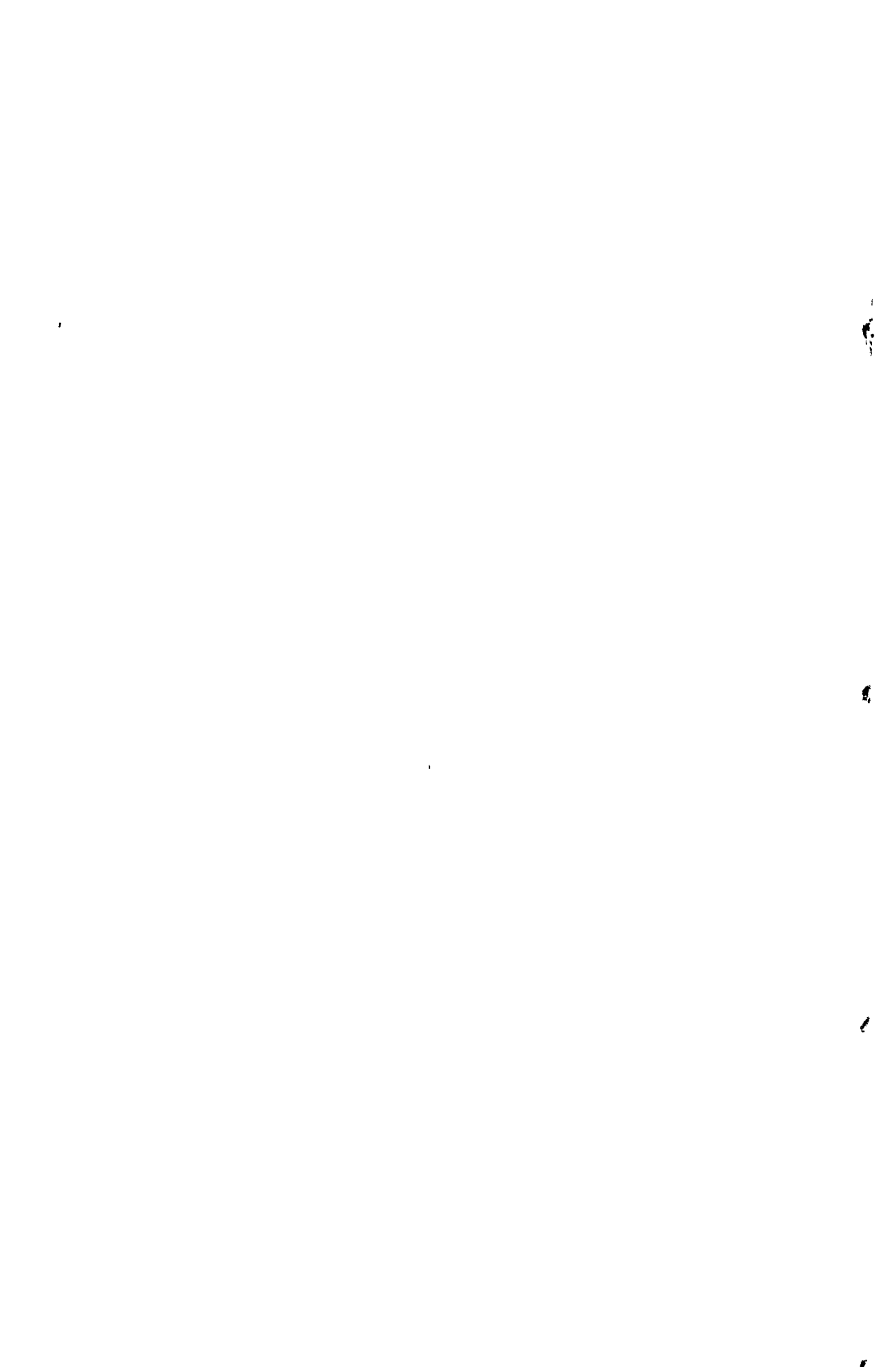
श्रीमज्जयाचार्य की कृतियां और उनका ग्रन्थमान

क्रम सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थमान (अनुष्टुप् श्लोकों में)
साधना		
१.	छोटी चौवीसी	२४१
२.	वडी चौवीसी	७११
३.	आराधना	२६५
४.	ध्यान प्रकरण	१८७
आख्यान		
५.	ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती	१७१
६.	खंधक संन्यासी	१६२
७.	जमाली	३५२
८.	महावल चरित्र	२४५
९.	पार्श्वनाथ चरित्र	३५४
१०.	अभ्यंगसेन	१७२
११	मंगल-कलश	२०९
१२	रत्नचूड	११३
१३.	महीपाल चरित्र	१६६५
१४.	सुरसुंदरी दवदंती	४८५
१५	मोहजीत राजा	८०
१६	दीपजश रसायण	२५५९
१७.	जयजशकरण रसायण	५०९३
१८.	गुणसुदर शील मंजरी	१४७
१९.	सीतेन्द्र	२२३
२०.	धनजी	१०४९
२१.	यशोभद्र	७८
२२.	भरतवाहुवली	२१०
२३.	व्याघ्रदत्त	अपूर्ण
२४.	उज्झिया	,,
संस्मरण		
२५.	भिक्खु दृष्टान्त	[illegible]
२६.	हेम दृष्टान्त	३८१
२७	श्रावक दृष्टान्त	३९३

क्रम सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थमान (अनुष्टुप् श्लोकों में)
२८.	दृष्टान्त	
२९.	भिक्खु दृष्टान्त की जोड	
जीवनियां		
३०.	भिक्षुजशरसायण	२१९६
३१.	लघु भिक्षुजशरसायण	२८७
३२.	ऋषिराय सुजश	२५७
३३	ऋषिराय पंचढालियो	१२२
३४.	भिक्षु गणी गुण वर्णन	४४१
३५	भारीमाल गणी गुण वर्णन	९४
३६.	रायचंद गणी गुण वर्णन	१०५
३७.	खेतसी चरित्र	२३७
३८.	शातिविलास	३८९
३९.	हेमनवरसो	४६७
४०.	सरूपनवरसो	२९९
४१.	भीमविलास	१०३
४२.	मोतीजीस्वामी	१११
४३.	उदेराज तपसी	२३५
४४.	हरख ऋषि	५७
४५.	सरदार सुजश	५२५
४६.	शिवजी स्वामी	१०२
४७.	सरूप चोढालियो	१५८
४८	हेम चोढालियो	[illegible]
स्तुति काव्य		
४९	संत गुणमाला	३८
५०	शासन विलास	[illegible]
५१	गणी गुणवर्णन	[illegible]
५२	संत गुणवर्णन	[illegible]
५३.	[illegible]	[illegible]
५४	[illegible]	[illegible]

क्रम सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थमान (अनुष्टुप् श्लोकों में)
	विधान-मर्यादा	
५५.	लिखतां री जोड	८०१
५६.	बडी मर्यादा	२५४
५७.	छोटी मर्यादा	२२८
५८.	गणपति सिखावण	८६
५९.	सिखावण री चौपी	६९०
६०.	मोच्छव री ढालां	६२२
६१.	परंपरा री जोड	४३६
६२.	टालोकरां री ढालां	२०७
६३.	टहूको	१५०१
६४.	परंपरा रा बोल (१)	६४०
६५.	परंपरा रा बोल (२)	७००
६६.	गणविशुद्धिकरण हाजरी	३२८७
६७.	लघु रास	१३४०
	आगम-भाष्य	
६८.	उत्तराध्ययन री जोड	५४२१
६९.	आचारांग री जोड	४१२९
७०.	आचारांग रो टब्बो	७४०७
७१.	ज्ञाता री जोड	२४८९
७२.	भगवती री जोड	६०९०६
७३.	निशीथ री जोड	६०७
७४.	अनुयोगद्वार री जोड	२०५
७५.	पन्नवणा री जोड	५५०
७६.	चौरासी आगमाधिकार	१४५
७७.	निशीथ री हुंडी	४२५
७८.	वृहत्कल्प री हुंडी	२२५
७९.	व्यवहार री हुंडी	३२५
८०.	भगवती री संक्षिप्त हुंडी	४२५

क्रम सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थमान (अनुष्टुप् श्लोकों में)
	तत्त्व-दर्शन	
८१.	झीणी चर्चा	११९७
८२.	झीणो ज्ञान	२२५
८३.	झीणी चर्चा रा बोल	२६९
८४.	भिक्खु पृच्छा	२६८
८५.	परचूनी बोल	१४३०
८६.	संजया री जोड	१३०
८७.	नियंठा री जोड	१८१
८८.	चर्चा रत्नमाला	१४६१
८९.	भिक्षुकृत हुंडी री जोड	३६७
९०.	भ्रमविध्वंसन	१००७५
९१.	प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध (१)	१२४८
९२.	प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध (२)	१८८३
९३.	जिनाज्ञा मुखमंडन	१३७८
९४.	कुमति विहंडन	१२४२
९५.	संदेह विषौषधि	७१००
९६.	प्रश्नोत्तरसार्धशतक	१५७८
११२.	दीर्घ सिद्धान्तसार [१६ कृतियां]	४१७९१
१२०.	लघु सिद्धान्त सार [८ कृतियां]	८४१२
	न्याय और व्याकरण	
१२२.	नयचक्र की जोड	२०१२
१२२.	पंचसंधि की जोड	२४०
१२३.	आख्यात की जोड	६९०
११४.	साधनिका	१७९९
	उपदेश	
१२५.	उपदेश की चौपी	५०३
१२६.	उपदेश रत्न कथाकोश	६६५६६